डॉ. प्रकाशचंद्र गंगराडे

हिन्दुओं के रीति-रिवाज तथा मान्यताएं

धार्मिक एवं पौराणिक प्रमाणों सहित

यज्ञ में आहुति क्यों...सूर्य व चंद्र को अर्घ्य क्यों...अग्नि के समक्ष फेरे क्यों...
मांग में सिंदूर क्यों...माथे पर तिलक क्यों...मृतक का श्राद्ध क्यों...

... ऐसी सैकड़ों मान्यताएं

पुस्तक महल®

हिन्दू मानस में रची-बसी सैकड़ों मान्यताओं एवं संस्कारों में से चुनी हुई सर्वाधिक प्रचलित 133 मान्यताओं का विवरण।

विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे। *—ऋग्वेद 1/12/19*

अर्थात् किसी धर्मिक ग्रंथ या वेद मंत्रों को तोते की भांति रटने से कुछ लाभ नहीं हो सकता। हमें नियमों को अपने जीवन में धारण करना चाहिए।

सदा से ही हिन्दू धर्म में फैले कर्मकांडों और आडंबरों से ओत-प्रोत मान्यताओं और संस्कारों के सत्त्व तथा वास्तविकताओं की पड़ताल पहली बार प्रश्नोत्तर शैली में। आस्थावादी वैज्ञानिक दृष्टि के साथ।

करोड़ों जिज्ञासुओं के लिए धर्म-ग्रंथों के हज़ारों-हज़ार पृष्ठों में बिखरे प्रसंगों, माहात्म्यों, मिथकों व तथ्यों की महत्त्वपूर्ण प्रस्तुतियां।

Scan 181-183

Scan - कागज की लगे पूरे चेप्टर

हिन्दुओं के रीति-रिवाज तथा मान्यताएं

धार्मिक एवं पौराणिक प्रमाणों सहित

डॉ. प्रकाशचंद्र गंगराड़े

पुस्तक महल®

दिल्ली • मुंबई • बंगलोर • पटना • हैदराबाद

प्रकाशक
पुस्तक महल®, दिल्ली-110006

विक्रय केन्द्र
- 6686, खारी बावली, दिल्ली-110006, फोन: 23944314, 23911979
- 10-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002
  फोन: 23268292, 23268293, 23279900 • फैक्स: 011-23280567
  E-mail: rapidexdelhi@indiatimes.com

प्रशासनिक कार्यालय
J-3/16 (हैप्पी स्कूल के सामने), दरियागंज, नई दिल्ली-110002
फोन: 23276539, 23272783, 23272784 • फैक्स: 011-23260518
E-mail: info@pustakmahal.com • *Website:* www.pustakmahal.com

शाखा कार्यालय
बंगलोर : 22/2, मिशन रोड (शामा राव कम्पाउंड), बंगलोर-560027
फोन: 2234025 • फैक्स: 080-2240209
E-mail: pustak@sancharnet.in • pmblr@sancharnet.in

मुंबई : 23-25, जाओबा वाडी (वी.आई.पी. शोरूम के सामने), ठाकुरद्वार, मुंबई-400002
फोन: 22010941 • फैक्स: 022-22053387
E-mail: rapidex@bom5.vsnl.net.in

पटना : खेमका हाउस, पहली मंजिल (वूमेन्स हॉस्पिटल के सामने),
अशोक राजपथ, पटना-800004 • टेलीफैक्स: 0612-2673644
E-mail: rapidexptn@rediffmail.com

हैदराबाद : 5-1-707/1, ब्रिज भवन, बैंक स्ट्रीट, कोटी, हैदराबाद-500095
फोन: 24737530 • फैक्स: 24737290
E-mail: pustakmahalhyd@yahoo.co.in

ISBN 81-223-0836-8

संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण : फरवरी, 2004

मुद्रक : परम ऑफसेटर्स, ओखला, नई दिल्ली-110020

स्वकथन

इसमें कोई दो मत नहीं कि आदिकाल से हमारे देश के ऋषि-मुनियों एवं मनीषियों ने लोगों में धर्म के प्रति आस्था जगाने के सतत प्रयास किए हैं। उन्होंने धर्म के तत्व, महत्त्व तथा जीवन पर उसके प्रभावों का मूल्य समझा और बताया कि धर्म के सहारे सफल जीवन यापन किया जा सकता है। धर्म को 'जीवन का अनुशासन' कहना अनुचित न होगा, क्योंकि इसका पालन कर मनुष्य स्वयं का हित करते हुए सारी मानव जाति का भी हित करता है।

'धार्यते जनैरिति धर्मः' अर्थात् ऐसा आचरण, जिसे धारण करना या अपनाना हितकर हो, वही धर्म कहलाता है और धर्म को धारण करने वाला, धर्म का अपने जीवन में आचरण करने वाला, धर्म के आधार पर अपने जीवन को जीने वाला व्यक्ति धार्मिक कहलाता है। धर्म व्यक्ति को जहां कर्तव्योन्मुख बनाता है, श्रेष्ठ मार्ग पर चलाता है, वहीं संवेदना जगाकर उसके अंदर देवत्व भी जगाता है। मनुष्य और पशु या मानव और दानव में अंतर पैदा करता है। कहा जाता है कि धर्मविहीन मनुष्य पशु के समान होता है।

यूं तो हिन्दू धर्म वैज्ञानिक धर्म है। श्रेष्ठ संस्कारवान मानव का निर्माण करना भारतीय संस्कृति का मूलभूत उद्देश्य है। प्राचीन ऋषि-मुनियों ने मानव सभ्यता को सुसंस्कृत करने के लिए धर्म की पृष्ठभूमि पर कुछ नियम-सिद्धांत बनाए, जिनमें शिशु के गर्भ में आते ही आत्मा पर छाई मलिनता को हटा कर उस पर नए संस्कारों को आरोपित करने की व्यवस्था बनाई। इसका उद्देश्य मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन को साकार करना और धार्मिकता के भावों की वृद्धि करना है। संस्कारों का प्रयोग ठीक उसी प्रकार किया जाता है, जैसे किसी औषधि को अनेक पुट और भावनाएं देकर अमृतौषधि में बदल दिया जाता है। इस प्रकार गर्भ में आने से लेकर शरीर छोड़कर चिता में समर्पण तक तथा उसके बाद भी जीवात्मा को संभालने-संवारने के विधान हमारे धर्म-शास्त्रों में किए गए, क्योंकि आत्मा अमर मानी गई है।

जो व्यक्ति अपने जीवन में आनंद, उल्लास, उन्नति, समृद्धि, पुण्यों का अर्जन, स्वर्ग में स्थान और अगले जन्म में श्रेष्ठ योनि पाना चाहता है, वह जीवन-भर धार्मिक मान्यताओं से जुड़ा रहता है। आत्मिक शांति और संतोष की प्राप्ति के लिए इन मान्यताओं का अनुसरण भी करता है। धार्मिक मान्यताएं न तो अवैज्ञानिक हैं न ही काल्पनिक हैं। किसी वस्तु के लाभ, महत्त्व और रहस्य को जाने बिना उस पर श्रद्धा, आस्था और प्रीति न होना स्वाभाविक है। चूंकि धर्म का आधार विश्वास

और श्रद्धा पर ही टिका है तथा उसकी प्रवृत्ति हृदय से होती है, ऐसे में अविश्वास, संदेह और भय रहने पर किसी वस्तु से पूरा लाभ नहीं उठाया जा सकता। ठीक उसी प्रकार हिन्दू कर्मकांडों के प्रति फैली हुई भ्रांतियों को दूर करने और उनके प्रति श्रद्धा का भाव जगाने के लिए बड़ी सरस एवं सरल प्रश्नोत्तर शैली में इस पुस्तक की रचना की गई है, जिसमें हिन्दू मान्यताओं के संबंध में वैज्ञानिक और आधुनिक दृष्टिकोण से युक्त जानकारी पौराणिक कथा-प्रसंगों एवं शास्त्र माहात्म्य के साथ दी गई है। इससे न केवल विचारने के लिए नया दृष्टिकोण मिलेगा, बल्कि धर्म संबंधी जिज्ञासाओं का किसी हद तक समाधान भी होगा।

मेरी अभिलाषा है कि भारतीय जनता धर्म के कर्मकांडों के महत्त्व, रहस्य को समझे और उसे अपने जीवन में आत्मसात कर अपना लोक-परलोक सुधारे।

अंत में इस पुस्तक को लिखने के लिए मैंने जिन अनेक समाचार पत्रों, पत्रिकाओं और धार्मिक ग्रंथों से संदर्भ सामग्री उद्धृत की है, उन सभी के रचयिताओं और प्रकाशकों के प्रति मैं अपना आभार प्रकट करता हूं।

–डॉ. प्रकाशचन्द्र गंगराड़े
भोपाल (म.प्र.)

अंदर के पृष्ठों में

1. सर्वप्रथम गणेश का ही पूजन क्यों?

हिंदू धर्म में किसी भी शुभ कार्य का आरंभ करने के पूर्व गणेशजी की पूजा करना आवश्यक माना गया है, क्योंकि उन्हें विघ्नहर्ता व ऋद्धि-सिद्धि का स्वामी कहा जाता है। इनके स्मरण, ध्यान, जप, आराधना से कामनाओं की पूर्ति होती है व विघ्नों का विनाश होता है। वे शीघ्र प्रसन्न होने वाले बुद्धि के अधिष्ठाता और साक्षात् प्रणव रूप हैं। प्रत्येक शुभ कार्य के पूर्व 'श्री गणेशाय नमः' का उच्चारण कर उनकी स्तुति में यह मंत्र बोला जाता है–

वक्रतुण्ड महाकाय, सूर्य कोटि समप्रभः।
निर्विघ्नं कुरु मेदेव सर्व कार्येषु सर्वदा॥

गणेशजी विद्या के देवता हैं। साधना में उच्चस्तरीय दूरदर्शिता आ जाए, उचित-अनुचित, कर्तव्य-अकर्तव्य की पहचान हो जाए, इसीलिए सभी शुभ कार्यों में गणेश पूजन का विधान बनाया गया है।

गणेशजी की ही पूजा सबसे पहले क्यों होती है, इसकी पौराणिक कथा इस प्रकार है–
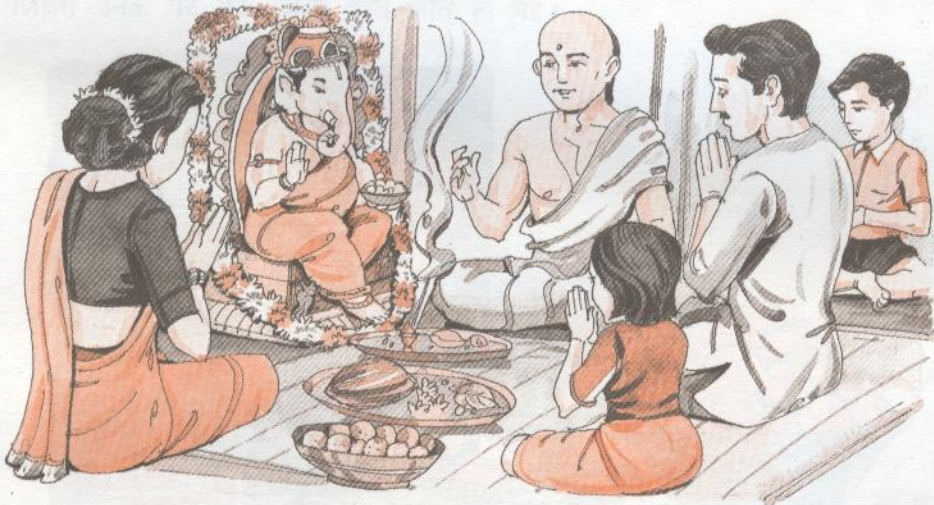
पद्मपुराण के अनुसार–सृष्टि के आरंभ में जब यह प्रश्न उठा कि प्रथम पूज्य किसे माना जाए, तो समस्त देवतागण ब्रह्माजी के पास पहुंचे। ब्रह्माजी ने कहा कि जो कोई संपूर्ण पृथ्वी की परिक्रमा सबसे पहले कर लेगा, उसे ही प्रथम पूजा जाएगा। इस पर सभी देवतागण अपने-अपने वाहनों पर सवार होकर परिक्रमा हेतु चल पड़े। चूंकि गणेशजी का वाहन चूहा है और उनका शरीर स्थूल, तो ऐसे में वे परिक्रमा कैसे कर पाते? इस समस्या को सुलझाया देवर्षि नारद ने। नारद ने उन्हें जो उपाय सुझाया, उसके अनुसार गणेशजी ने भूमि पर **'राम'** नाम लिखकर उसकी सात परिक्रमा की और ब्रह्माजी के पास सबसे पहले पहुंच गए। तब ब्रह्माजी ने उन्हें प्रथम पूज्य बताया। क्योंकि 'राम' नाम साक्षात् श्रीराम का स्वरूप है और श्रीराम में ही संपूर्ण ब्रह्मांड निहित है।

शिवपुराण की एक अन्य कथा के अनुसार एक बार समस्त देवता भगवान् शंकर के पास यह समस्या लेकर पहुंचे कि किस देव को उनका मुखिया चुना जाए। भगवान् शिव ने यह प्रस्ताव रखा कि जो भी पहले पृथ्वी की तीन बार परिक्रमा करके कैलास लौटेगा, वही अग्रपूजा के योग्य होगा और उसे ही देवताओं का स्वामी बनाया जाएगा। चूंकि गणेशजी का वाहन चूहा अत्यंत धीमी गति से चलने वाला था, इसलिए अपनी बुद्धि-चातुर्य के कारण उन्होंने अपने पिता शिव और माता पार्वती की ही तीन परिक्रमा पूर्ण की और हाथ जोड़कर खड़े हो गए। शिव ने प्रसन्न होकर कहा कि तुमसे बढ़कर संसार में अन्य कोई इतना चतुर नहीं है। माता-पिता की तीन परिक्रमा से तीनों लोकों की परिक्रमा का पुण्य तुम्हें मिल गया, जो पृथ्वी की परिक्रमा से भी बड़ा है। इसलिए जो मनुष्य किसी कार्य के शुभारंभ से पहले तुम्हारा पूजन करेगा, उसे कोई बाधा नहीं आएगी। बस, तभी से गणेशजी अग्रपूज्य हो गए।

2. गणेशजी को दूर्वा और मोदक चढ़ाने का महत्त्व क्यों?

भगवान् गणेशजी को 3 या 5 गांठ वाली दूर्वा (एक प्रकार की घास) अर्पण करने से वह प्रसन्न होते हैं और भक्तों को मनोवांछित फल प्रदान करते हैं। इसीलिए उन्हें दूर्वा चढ़ाने का शास्त्रों में महत्त्व बताया गया है। इसके संबंध में पुराण में एक कथा का उल्लेख मिलता है–"एक समय पृथ्वी पर अनलासुर नामक राक्षस ने भयंकर उत्पात मचा रखा था। उसका अत्याचार पृथ्वी के साथ-साथ स्वर्ग और पाताल तक फैलने लगा था। वह भगवद् भक्ति व ईश्वर आराधना करने वाले ऋषि-मुनियों और निर्दोष लोगों को जिंदा निगल जाता था। देवराज इंद्र ने उससे कई बार युद्ध किया, लेकिन उन्हें हमेशा परास्त होना पड़ा। अनलासुर से त्रस्त होकर समस्त देवता भगवान् शिव के पास गए। उन्होंने बताया कि उसे सिर्फ गणेश ही खत्म कर सकते हैं, क्योंकि उनका पेट बड़ा है इसलिए वे उसको पूरा निगल लेंगे। इस पर देवताओं ने गणेश की स्तुति कर उन्हें प्रसन्न किया। गणेशजी ने अनलासुर का पीछा किया और उसे निगल गए। इससे उनके पेट में काफी जलन होने लगी। अनेक उपाय किए गए, लेकिन ज्वाला शांत न हुई। जब कश्यप ऋषि को यह बात मालूम हुई, तो वे तुरंत कैलास गए और 21 दूर्वा एकत्रित कर एक गांठ तैयार कर गणेश को खिलाई, जिससे उनके पेट की ज्वाला तुरंत शांत हो गई।
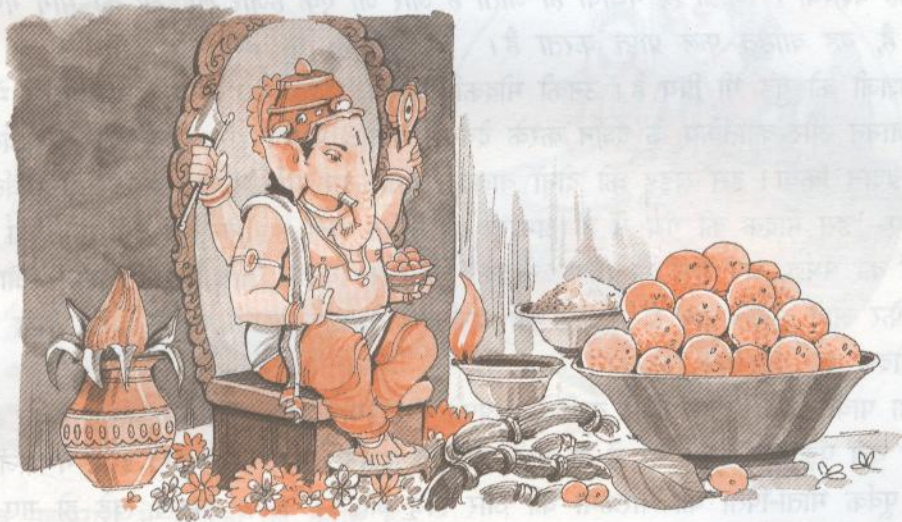
गणेशजी को मोदक यानी लड्डू काफी प्रिय हैं। इनके बिना गणेशजी की पूजा अधूरी ही मानी जाती है। गोस्वामी तुलसीदास ने **विनय पत्रिका** में कहा है–

> **गाइए गनपति जगबंदन। संकर सुवन भवानी नंदन।**
> **सिद्धि-सदन गज बदन विनायक। कृपा-सिंधु सुंदर सब लायक॥**
> **मोदकप्रिय मुद मंगलदाता। विद्या वारिधि बुद्धि विधाता॥**

इसमें भी उनकी मोदकप्रियता प्रदर्शित होती है। महाराष्ट्र के भक्त आमतौर पर गणेशजी को मोदक चढ़ाते हैं। उल्लेखनीय है कि मोदक मैदे के खोल में रखा, चीनी, मावे का मिश्रण कर बनाए जाते हैं। जबकि लड्डू मावे व मोतीचूर के बनाए हुए भी उन्हें पसंद हैं। जो भक्त पूर्ण श्रद्धाभाव से गणेशजी को मोदक या लड्डुओं का भोग लगाते हैं, उन पर वे शीघ्र प्रसन्न होकर इच्छापूर्ति करते हैं।

मोद यानी आनंद और 'क' का शाब्दिक अर्थ छोटा-सा भाग मानकर ही मोदक शब्द बना है, जिसका तात्पर्य हाथ में रखने मात्र से आनंद की अनुभूति होना है। ऐसे प्रसाद को जब गणेशजी को चढ़ाया जाए, तो सुख की अनुभूति होना स्वाभाविक है। एक दूसरी व्याख्या के अनुसार जैसे ज्ञान का प्रतीक मोदक मीठा होता है, वैसे ही ज्ञान का प्रसाद भी मीठा होता है।

गणपति अथर्वशीर्ष में लिखा है–

यो दूर्वाकुरैर्यजति स वैश्रवणोपमो भवति।
यो लाजैर्यजति स यशोवान भवति स मेधावान भवति ॥
यो मोदक सहस्रेण यजति स वांछित फलमवाप्राप्नोति ॥

अर्थात् जो भगवान् को दूर्वा चढ़ाता है, वह कुबेर के समान हो जाता है। जो लाजो (धान-लाई) चढ़ाता है, वह यशस्वी हो जाता है, मेधावी हो जाता है और जो एक हजार लड्डुओं का भोग गणेश भगवान् को लगाता है, वह वांछित फल प्राप्त करता है।

गणेशजी को गुड़ भी प्रिय है। उनकी मोदकप्रियता के संबंध में एक कथा **पद्मपुराण** में आती है। एक बार गजानन और कार्तिकेय के दर्शन करके देवगण अत्यंत प्रसन्न हुए। उन्होंने माता पार्वती को एक दिव्य लड्डू प्रदान किया। इस लड्डू को दोनों बालक आग्रह कर मांगने लगे। तब माता पार्वती ने लड्डू के गुण बताए–"इस मोदक की गंध से ही अमरत्व की प्राप्ति होती है। निस्संदेह इसे सूंघने या खाने वाला संपूर्ण शास्त्रों का मर्मज्ञ, सब तंत्रों में प्रवीण, लेखक, चित्रकार, विद्वान, ज्ञान-विज्ञान विशारद और सर्वज्ञ हो जाता है।" फिर आगे कहा–"तुम दोनों में से जो धर्माचरण के द्वारा अपनी श्रेष्ठता पहले सिद्ध करेगा, वही इस दिव्य मोदक को पाने का अधिकारी होगा।"

माता पार्वती की आज्ञा पाकर कार्तिकेय अपने तीव्रगामी वाहन मयूर पर आरूढ़ होकर त्रिलोक की तीर्थयात्रा पर चल पड़े और मुहूर्त भर में ही सभी तीर्थों के दर्शन, स्नान कर लिए। इधर गणेशजी ने अत्यंत श्रद्धा-भक्ति पूर्वक माता-पिता की परिक्रमा की और हाथ जोड़कर उनके सम्मुख खड़े हो गए और कहा कि तीर्थ स्थान, देव स्थान के दर्शन, अनुष्ठान व सभी प्रकार के व्रत करने से भी माता-पिता के पूजन के सोलहवें अंश के बराबर पुण्य प्राप्त नहीं होता है, अतः मोदक प्राप्त करने का अधिकारी मैं हूं। गणेशजी का तर्कपूर्ण जवाब सुनकर माता पार्वती ने प्रसन्न होकर गणेशजी को मोदक प्रदान कर दिया और कहा कि माता-पिता की भक्ति के कारण गणेश ही यज्ञादि सभी शुभ कार्यों में सर्वत्र अग्रपूज्य होंगे।

3. पारद शिवलिंग और शालग्राम पूजन का विशेष महत्त्व क्यों?

पारद शम्भु-बीज है। अर्थात् पारद (पारा) की उत्पत्ति महादेव शंकर के वीर्य से हुई मानी जाती है। इसलिए शास्त्रकारों ने उसे साक्षात् शिव माना है और पारदलिंग का सबसे अधिक महत्त्व बताकर इसे दिव्य बताया है। शुद्ध पारद संस्कार द्वारा बंधन करके जिस देवी-देवता की प्रतिमा बनाई जाती है, वह स्वयं सिद्ध होती है। वागभट्ट के मतानुसार, जो पारद शिवलिंग का भक्ति सहित पूजन करता है, उसे तीनों लोकों में स्थित शिवलिंगों के पूजन का फल मिलता है। पारदलिंग का दर्शन महापुण्य दाता है। इसके दर्शन से सैकड़ों अश्वमेध यज्ञों के करने से प्राप्त फल की प्राप्ति होती है, करोड़ों गोदान करने एवं हजारों स्वर्ण मुद्राओं के दान करने का फल मिलता है। जिस घर में पारद शिवलिंग का नियमित पूजन होता है, वहां सभी प्रकार के लौकिक और पारलौकिक सुखों की प्राप्ति होती है। किसी भी प्रकार की कमी उस घर में नहीं होती, क्योंकि वहां ऋद्धि-सिद्धि और लक्ष्मी का वास होता है। साक्षात् भगवान् शंकर का वास भी होता है। इसके अलावा वहां का वास्तुदोष भी समाप्त हो जाता है। प्रत्येक सोमवार को पारद शिवलिंग पर अभिषेक करने पर तांत्रिक प्रयोग नष्ट हो जाता है।
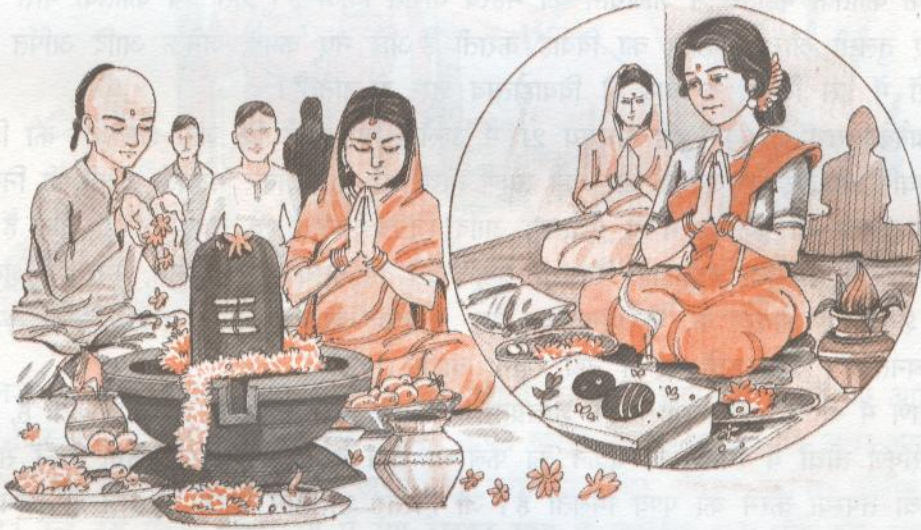
शिव महापुराण में शिवजी का कथन है–

लिंगकोटिसहस्रस्य यत्फलं सम्यगर्चनात्।
तत्फलं कोटिगुणितं रसलिंगार्चनाद्भवेत ॥
ब्रह्महत्या सहस्राणि गौहत्यायाः शतानि च।
तत्क्षणद्विलयं यांति रसलिंगस्य दर्शनात् ॥
स्पर्शनात्प्राप्यत मुक्तिरिति सत्यं शिवोदितम् ॥

अर्थात् करोड़ों शिवलिंगों के पूजन से जो फल प्राप्त होता है, उससे भी करोड़ गुना फल पारद शिवलिंग की पूजा और दर्शन से प्राप्त होता है। पारद शिवलिंग के स्पर्श मात्र से मुक्ति प्राप्त होती है।

शालग्राम

नेपाल में गंडकी नदी के तल में पाए जाने वाले काले रंग के चिकने अंडाकार पत्थर, जिनमें एक छिद्र होता है और पत्थर के अंदर शंख, चक्र, गदा या पद्म खुदे होते हैं तथा कुछ पत्थरों पर सफेद रंग की गोल धारियां चक्र के समान पड़ी होती हैं, इनको शालग्राम कहा जाता है।

शालग्राम रूपी पत्थर की काली बटिया विष्णु के रूप में पूजी जाती है। शालग्राम को एक विलक्षण मूल्यवान पत्थर माना गया है, जिसका वैष्णवजन बड़ा सम्मान करते हैं। पुराणों में तो यहां तक कहा गया है कि जिस घर में शालग्राम न हो, वह घर नहीं, श्मशान के समान है। पद्मपुराण के अनुसार जिस घर में शालग्राम शिला विराजमान रहा करती है, वह घर समस्त तीर्थों से भी श्रेष्ठ होता है। इसके दर्शन मात्र से ब्रह्महत्या दोष से शुद्ध होकर अंत में मुक्ति प्राप्त होती है। पूजन करने वालों को समस्त भोगों का सुख मिलता है। शालग्राम को समस्त ब्रह्मांडभूत नारायण (विष्णु) का प्रतीक माना जाता है। भगवान् शिव ने स्कंदपुराण के कार्तिक महात्म्य में शालग्राम का महत्त्व वर्णित किया है। प्रति वर्ष कार्तिक मास की द्वादशी को महिलाएं तुलसी और शालग्राम का विवाह कराती हैं और नए कपड़े, जनेऊ आदि अर्पित करती हैं। हिंदू परिवारों में इस विवाह के बाद ही विवाहोत्सव शुरू हो जाते हैं।

ब्रह्मवैवर्तपुराण के प्रकृतिखंड अध्याय 21 में उल्लेख मिलता है कि जहां शालग्राम की शिला रहती है, वहां भगवान् श्री हरि विराजते हैं और वहीं संपूर्ण तीर्थों को साथ लेकर भगवती लक्ष्मी भी निवास करती हैं। शालग्राम शिला की पूजा करने से ब्रह्महत्या आदि जितने पाप हैं, वे सब नष्ट हो जाते हैं। छत्राकार शालग्राम राज्य देने की तथा वर्तुलाकार में प्रचुर संपत्ति देने की योग्यता है। विकृत, फटे हुए, शूल के नोक के समान, शकट के आकार के, पीलापन लिए हुए, भग्नचक्र वाले शालग्राम दुख, दरिद्रता, व्याधि, हानि के कारण बनते हैं। अतः इन्हें घर में नहीं रखना चाहिए।

पुराण में यह भी कहा गया है कि शालग्राम शिला का जल जो अपने ऊपर छिड़कता है, वह समस्त यज्ञों और संपूर्ण तीर्थों में स्नान कर चुकने का फल पा लेता है। शिला की उपासना करने से चारों वेद के पढ़ने तथा तपस्या करने का पुण्य मिलता है। जो निरंतर शालग्राम शिला के जल से अभिषेक करता है, वह संपूर्ण दान के पुण्य तथा पृथ्वी की प्रदक्षिणा के उत्तम फल का अधिकारी बन जाता है। इसमें संदेह नहीं कि शालग्राम के जल का निरंतर पान करने वाला पुरुष देवाभिलषित प्रसाद पाता है। उसे जन्म, मृत्यु और जरा से छुटकारा मिल जाता है। मृत्युकाल में इसका जलपान करने वाला समस्त पापों से मुक्त होकर विष्णुलोक को चला जाता है। शालग्राम पर चढ़े तुलसी पत्र को दूर करने वाले का दूसरे जन्म में स्त्री साथ नहीं देती। शालग्राम, तुलसी और शंख इन तीनों को जो व्यक्ति सुरक्षित रूप से रखता है, उससे भगवान् श्री हरि बहुत प्रेम करते हैं।

4. हनुमानजी को सिंदूर चढ़ाने की परंपरा क्यों?

अद्भुत रामायण में एक कथा का उल्लेख मिलता है, जिसमें मंगलवार की सुबह जब हनुमानजी को भूख लगी, तो वे माता जानकी के पास कुछ कलेवा पाने के लिए पहुंचे। सीता माता की मांग में लगा सिंदूर देखकर हनुमानजी ने उनसे आश्चर्यपूर्वक पूछा–"माता! मांग में आपने यह कौन-सा लाल द्रव्य लगाया है?"

इस पर सीता माता ने प्रसन्नतापूर्वक कहा–"पुत्र! यह सुहागिन स्त्रियों का प्रतीक, मंगल सूचक, सौभाग्यवर्धक सिंदूर है, जो स्वामी के दीर्घायु के लिए जीवनपर्यंत मांग में लगाया जाता है। इससे वे मुझ पर प्रसन्न रहते हैं।"
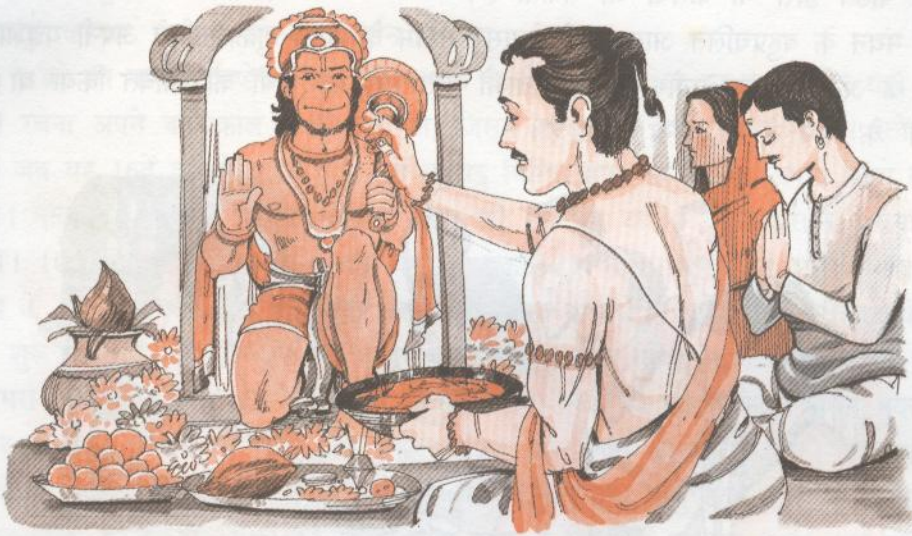
हनुमानजी ने यह जानकर विचार किया कि जब अंगुली भर सिंदूर लगाने से स्वामी की आयु में वृद्धि होती है, तो फिर क्यों न सारे शरीर पर इसे लगाकर अपने स्वामी भगवान् श्रीराम को अजर-अमर कर दूं। उन्होंने जैसा सोचा, वैसा ही कर दिखाया। अपने सारे शरीर पर सिंदूर पोतकर भगवान् श्रीराम की सभा में पहुंच गए। उन्हें इस प्रकार सिंदूरी रंग में रंगा देखकर सभा में उपस्थित सभी लोग हंसे, यहां तक कि भगवान् राम भी उन्हें देखकर मुस्कराए और बहुत प्रसन्न हुए। उनके सरल भाव पर मुग्ध होकर उन्होंने यह घोषणा की कि जो मंगलवार के दिन मेरे अनन्य प्रिय हनुमान को तेल और सिंदूर चढ़ाएंगे, उन्हें मेरी प्रसन्नता प्राप्त होगी और उनकी समस्त मनोकामनाएं पूर्ण होंगी। इस पर माता जानकी के वचनों में हनुमानजी को और भी अधिक दृढ़ विश्वास हो गया।

कहा जाता है कि उसी समय से भगवान् श्रीराम के प्रति हनुमानजी की अनुपम स्वामिभक्ति को याद करने के लिए उनके सारे शरीर पर चमेली के तेल में घोलकर सिंदूर लगाया जाता है। इसे चोला चढ़ाना भी कहते हैं।

5. अनिष्ट निवारण के लिए महामृत्युंजय मंत्र को विशेष महत्त्व क्यों?

शास्त्रों एवं पुराणों में असाध्य रोगों से मुक्ति एवं अकाल मृत्यु से बचने के लिए महामृत्युंजय जप करने का विशेष उल्लेख मिलता है। महामृत्युंजय भगवान् शिव को प्रसन्न करने का मंत्र है। इसके प्रभाव से व्यक्ति मौत के मुंह में जाते-जाते बच जाते हैं, मरणासन्न रोगी भी महाकाल शिव की अद्‌भुत कृपा से जीवन पा लेते हैं।

भावी बीमारी, दुर्घटना, अनिष्ट ग्रहों के दुष्प्रभावों को दूर करने, मृत्यु को टालने, आयुवर्धन के लिए सवा लाख महामृत्युंजय मंत्र जाप करने का विधान है। जब व्यक्ति स्वयं जप न कर सके, तो मंत्र जाप किसी योग्य पंडित द्वारा भी कराया जा सकता है।

सागर मंथन के बहुप्रचलित आख्यान में देवासुर संग्राम के समय शुक्राचार्य ने अपनी यज्ञशाला में इसी महामृत्युंजय के अनुष्ठानों का प्रयोग करके देवताओं द्वारा मारे गए दैत्यों को जीवित किया था। अतः इसे 'मृतसंजीवनी' के नाम से भी जाना जाता है।

ऋग्वेद (VII, 5912) में महामृत्युंजय मंत्र इस प्रकार है–

ॐ त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्द्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात्॥

जिसे सम्पुट युक्त मंत्र बनाने के लिए इस प्रकार पढ़ा जाता है–

ॐ हौं जूं सः ॐ भूर्भुवः स्वः ॐ त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धि पुष्टिवर्द्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात् ॐ भूर्भुवः स्व सः जूं हौं ॐ॥

अर्थात् हम त्र्यम्बकं यानी तीन नेत्रों वाले शिव भगवान् की पूजा करते हैं। मैं पुष्टिवर्धक खरबूजे की भांति मृत्यु के बंधन से मुक्त हो जाऊं, अमृत से नहीं।

पद्मपुराण में महर्षि मार्कण्डेय कृत महामृत्युंजय मंत्र व स्तोत्र का वर्णन मिलता है। जिसके अनुसार महामुनि मृकण्डु के कोई संतान नहीं थी। इसलिए उन्होंने पत्नी सहित कठोर तप करके भगवान् शंकर को प्रसन्न किया। भगवान् शंकर ने प्रकट होकर कहा–'तुमको पुत्र प्राप्ति होगी पर यदि गुणवान, सर्वज्ञ, यशस्वी, परम धार्मिक और समुद्र की तरह ज्ञानी पुत्र चाहते हो, तो उसकी आयु केवल 16 वर्ष की होगी और उत्तम गुणों से हीन, अयोग्य पुत्र चाहते हो, तो उसकी आयु 100 वर्ष होगी।'

इस पर मुनि मृकण्डु ने कहा–'मैं गुण संपन्न पुत्र ही चाहता हूं, भले ही उसकी आयु छोटी क्यों न हो। मुझे गुणहीन पुत्र नहीं चाहिए।'

'तथास्तु' कहकर भगवान् शंकर अंतर्धान हो गए।

मुनि ने बेटे का नाम मार्कण्डेय रखा। वह बचपन से ही भगवान् शिव का परम भक्त था। उसने अनेक श्लोकों की रचना अपने बाल्यकाल में ही कर ली, जिसमें संस्कृत में महामृत्युंजय मंत्र व स्तोत्र की रचना प्रमुख थी। जब वह 16वें वर्ष में प्रवेश हुआ, तो मृकण्डु चिंतित हुए और उन्होंने अपनी चिंता को मार्कण्डेय को बताया। मार्कण्डेय ने कहा कि मैं भगवान् शंकर की उपासना करके उनको प्रसन्न करूंगा और अमर हो जाऊंगा। 16वें वर्ष के अंतिम दिन जब यमराज प्रकट हुए तो मार्कण्डेय ने उन्हें भगवान् शंकर के महामृत्युंजय के स्तोत्र का पाठ पूरा होने तक रुकने को कहा। यमराज ने गर्जना के साथ हठपूर्वक मार्कण्डेय को ग्रसना शुरू किया ही था कि मंत्र की पुकार पर भगवान् शंकर शिवलिंग में से प्रकट हो गए। उन्होंने क्रोध से यमराज की ओर देखा, तब यमराज ने डरकर बालक मार्कण्डेय को न केवल बंधन मुक्त कर दिया, बल्कि अमर होने का वरदान भी दिया और भगवान् शिव को प्रणाम करके चले गए। जाते समय यह भी कहा कि जो भी प्राणी इस मंत्र का जाप करेगा उसे अकाल मृत्यु और मृत्यु तुल्य कष्टों से छुटकारा मिलेगा। इस पौराणिक कथा का उल्लेख करने का उद्देश्य मात्र इतना है कि स्वयं भगवान् शंकर द्वारा बताई गई मृत्यु भी, उन्हीं के भक्त द्वारा रचित महामृत्युंजय मंत्र के कारण टल गई और मार्कण्डेय अमर हो गए।

6. ग्रहणकाल में भोजन करना वर्जित क्यों?

हमारे ऋषि-मुनियों ने सूर्य और चंद्र ग्रहण लगने के समय भोजन करने के लिए मना किया है, क्योंकि उनकी मान्यता थी कि ग्रहण के दौरान खाद्य वस्तुओं, जल आदि में सूक्ष्म जीवाणु एकत्रित होकर दूषित कर देते हैं। इसलिए इनमें कुश डाल दिया जाता है, ताकि कीटाणु कुश में एकत्रित हो जाएं और उन्हें ग्रहण के बाद फेंका जा सके। शास्त्रों में कहा गया है कि ग्रहण के बाद स्नान करके पवित्र होने के पश्चात् ही भोजन करना चाहिए। ग्रहण के समय भोजन करने से सूक्ष्म कीटाणुओं के पेट में जाने से रोग होने की आशंका रहती है। इसी वजह से यह विधान बनाया गया है।
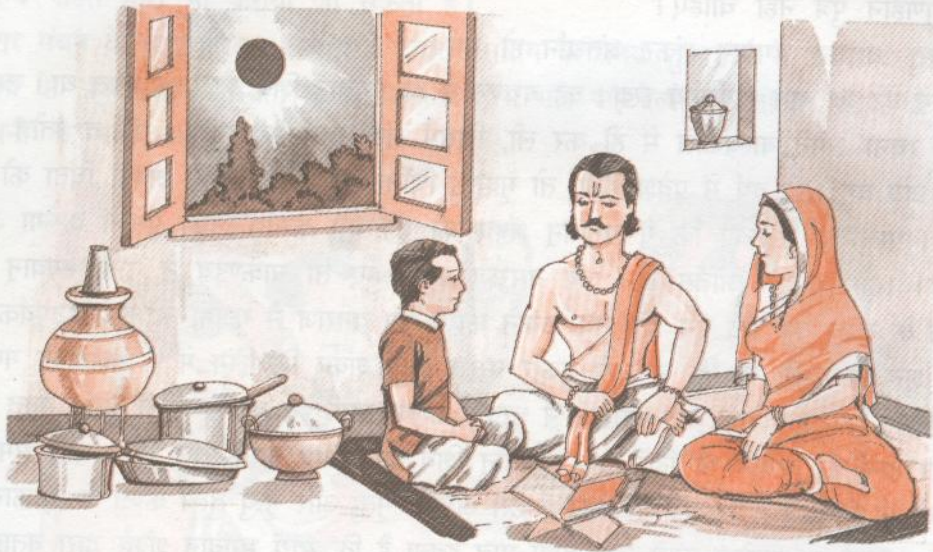
अपने शोधों से वैज्ञानिक टारिंस्टन ने यह पाया है कि ग्रहण के समय मनुष्य की पाचन शक्ति कमजोर हो जाती है, जिसके कारण इस समय किया गया भोजन अपच, अजीर्ण आदि शिकायतें पैदा कर सकता है।

भारतीय धर्म विज्ञानवेत्ताओं का मानना है कि सूर्य और चंद्र ग्रहण लगने के 10 घंटे पूर्व से ही उसका कुप्रभाव शुरू हो जाता है। अंतरिक्षीय प्रदूषण के इस समय को सूतक काल कहा गया है। इसलिए सूतक काल और ग्रहण के समय में भोजन तथा पेय पदार्थों का सेवन मना किया गया है। चूंकि ग्रहण से हमारी जीवनी शक्ति का ह्रास होता है और तुलसी दल (पत्र) में विद्युत शक्ति व प्राणशक्ति सबसे अधिक होती है, इसलिए सौर मंडलीय ग्रहण काल में ग्रहण प्रदूषण को समाप्त करने के लिए भोजन तथा पेय सामग्री में तुलसी के कुछ पत्ते डाल दिए जाते हैं, जिसके प्रभाव से न केवल भोज्य पदार्थ बल्कि अन्न, आटा आदि भी प्रदूषण से मुक्त बने रहते हैं।

7. गंगा विशेष पवित्र नदी क्यों?

गंगा प्राचीन काल से ही भारतीय जनमानस में अत्यंत पूज्य रही है। इसका धार्मिक महत्त्व जितना है, विश्व में शायद ही किसी नदी का होगा। यह विश्व की एकमात्र नदी है, जिसे श्रद्धा से माता कहकर पुकारा जाता है।

महाभारत में कहा गया है–

यद्यकार्यशतम् कृत्वाकृतम् गंगाभिषेचनम् । सर्व तत् तस्य गंगाम्भो दहत्यग्निरिवेन्धनम् ॥
सर्व कृतयुगे पुण्यम त्रेतायां पुष्करं स्मृतम् । द्वापरेऽपि कुरुक्षेत्रं गंगा कलियुगे स्मृता ॥
पुनाति कर्तिता पापं दृष्य भद्रं प्रयच्छति । अवगाढा च पीता च पुनात्यासप्तमं कुलम् ॥

–महाभारत/वनपर्व 85/89-90-93
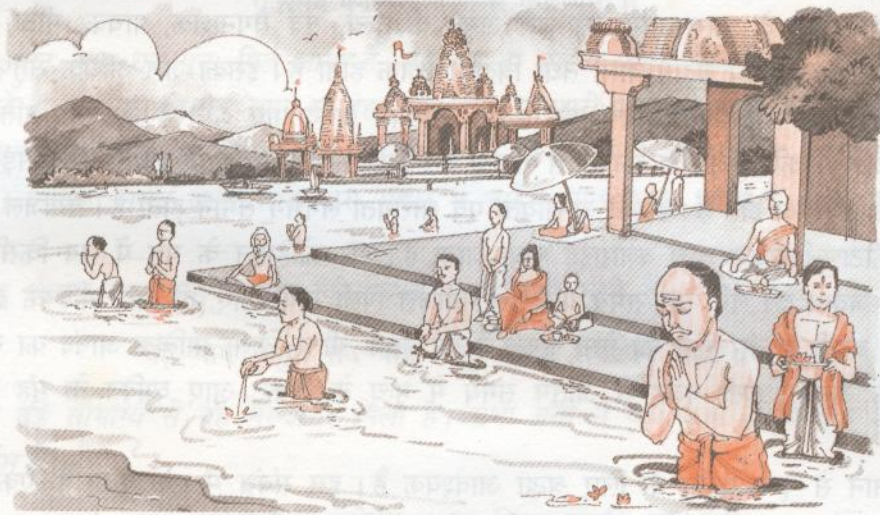
अर्थात् जैसे अग्नि ईंधन को जला देती है, उसी प्रकार सैकड़ों निषिद्ध कर्म करके भी यदि गंगा स्नान किया जाए, तो उसका जल उन सब पापों को भस्म कर देता है। सत्ययुग में सभी तीर्थ पुण्यदायक होते थे। त्रेता में पुष्कर और द्वापर में कुरुक्षेत्र तथा कलियुग में गंगा की सबसे अधिक महिमा बताई गई है। नाम लेने मात्र से गंगा पापी को पवित्र कर देती है, देखने से सौभाग्य तथा स्नान या जल ग्रहण करने से सात पीढ़ियों तक कुल पवित्र हो जाता है।

गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने **'स्रोतसामस्मि जाह्नवी'** अर्थात् जल स्रोतों में जाह्नवी (गंगा) मैं ही हूं, कहकर गंगा को अपना स्वरूप बताया है। शास्त्रकारों का कहना है–**औषधि जाह्नवी तोयं वैद्यो नारायणः हरिः।** अर्थात् आध्यात्मिक रोगों की दवा गंगाजल है और उन रोगों के रोगियों के चिकित्सक परमात्मा नारायण हरि हैं। गंगा का आध्यात्मिक महत्त्व शास्त्रों में विस्तार से बताया गया है–

पद्मपुराण में कहा गया है कि गंगा के प्रभाव से मनुष्य के अनेक जन्मों के पाप नष्ट हो जाते हैं और अनंत पुण्य प्राप्त होते हैं। स्वर्गलोक में निवास मिल जाता है।

अग्निपुराण में कहा गया है कि गंगा सद्गति देने वाली है। जो नित्य गंगाजल सेवन करते हैं, वे अपने वंश सहित तर जाते हैं। गंगा स्नान, गंगाजल के पान तथा गंगा नाम का जप करने से असंख्य मनुष्य पवित्र और पुण्यवान हुए हैं। गंगा के समान कोई जलतीर्थ नहीं है।

स्कंदपुराण में कहा गया है कि जैसे बिना इच्छा के भी स्पर्श करने पर आग जला ही देती है, उसी प्रकार अनिच्छा से भी गंगा-स्नान करने पर गंगा मनुष्य के पापों को धो देती है।

अनिच्छयापि संस्पृष्टो दहनो हि यथा दहेत्।
अनिच्छयापिसंस्नाता गंगा पापं तथा दहेत्॥

—*स्कंदपुराण, काशी पृ. 27/49*

गंगा जल पर किए शोध कार्यों से स्पष्ट है कि यह वर्षों तक रखने पर भी खराब नहीं होता। स्वास्थ्यवर्धक तत्त्वों का बाहुल्य होने के कारण गंगा का जल अमृत के तुल्य, सर्व रोगनाशक, पाचक, मीठा, उत्तम, हृदय के लिए हितकर, पथ्य, आयु बढ़ाने वाला तथा त्रिदोष नाशक होता है। इसका जल अधिक संतृप्त माना गया है। इसमें पर्याप्त लवण जैसे कैलशियम, पोटेशियम, सोडियम आदि पाए जाते हैं और 45 प्रतिशत क्लोरीन होता है, जो जल में कीटाणुओं को पनपने से रोकता है। इसी की उपस्थिति के कारण पानी सड़ता नहीं और न ही उसमें कीटाणु पैदा होते हैं। इसकी अम्लीयता एवं क्षारीयता लगभग समान होती है। गंगाजल में अत्यधिक शक्तिशाली कीटाणु-निरोधक तत्त्व क्लोराइड पाया जाता है। डॉ. कोहिमान के मत में जब किसी व्यक्ति की जीवनी शक्ति जवाब देने लगे, उस समय यदि उसे गंगाजल पिला दिया जाए, तो आश्चर्यजनक ढंग से उसकी जीवनी शक्ति बढ़ती है और रोगी को ऐसा लगता है कि उसके भीतर किसी सात्विक आनंद का स्रोत फूट रहा है। शास्त्रों के अनुसार इसी वजह से अंतिम समय में मृत्यु के निकट आए व्यक्ति के मुंह में गंगा जल डाला जाता है।

गंगा स्नान से पुण्य प्राप्ति के लिए श्रद्धा आवश्यक है। इस संबंध में एक कथा है—एक बार पार्वती ने शंकर भगवान् से पूछा—'गंगा में स्नान करने वाले प्राणी पापों से छूट जाते हैं ?' इस पर शंकर भगवान् बोले—'जो भावनापूर्वक स्नान करता है, उसी को सद्गति मिलती है, अधिकांश लोग तो मेला देखने जाते हैं।' पार्वती को इस जवाब से संतोष नहीं मिला। शंकर जी ने कहा—'चलो तुम्हें इसका प्रत्यक्ष दर्शन कराते हैं।' गंगा के निकट शंकर जी कोढ़ी का रूप धारण कर रास्ते में बैठ गए और साथ में पार्वतीजी सुंदर स्त्री का रूप धारण कर बैठ गईं। मेले के कारण भीड़ थी। जो भी पुरुष कोढ़ी के साथ सुंदर स्त्री को देखता, वह सुंदर स्त्री की ओर ही आकर्षित होता। कुछ ने तो उस स्त्री को अपने साथ चलने का भी प्रस्ताव दिया। अंत में एक ऐसा व्यक्ति भी आया, जिसने स्त्री के पातिव्रत्य धर्म की सराहना की और कोढ़ी को गंगा स्नान कराने में मदद दी। शंकर भगवान् प्रकट हुए और बोले—'प्रिये ! यही श्रद्धालु सद्गति का सच्चा अधिकारी है।'

8. मनुष्य जीवन दुर्लभ क्यों?

प्राचीन काल से हमारे ऋषि-मुनियों, विचारकों और मर्मज्ञों ने इस बात का समर्थन किया है कि मनुष्य जीवन अपने आप में अद्‌भुत एवं महान है। ईश्वर ने पृथ्वी पर 84 लाख योनियां बनाई हैं जिसमें जीवात्मा भटकने के बाद मनुष्य का जन्म पाती है, क्योंकि पेड़-पौधों में 30 लाख, कीड़े-मकोड़ों में 27 लाख, पक्षी में 14 लाख, पानी के जीव-जंतुओं में 9 लाख और पशु में 4 लाख योनियां पाई जाने की मान्यता है। *विवेक चूड़ामणि 5* में कहा गया है–**दुर्लभं मानुषं देहं** अर्थात् मनुष्य देह दुर्लभ है। इसी प्रकार **चाणक्य नीति** 14/3 में लिखा है–

पुनर्वितं पुनर्मितं पुनर्भार्या पुनर्मही।
एतत्सर्वं पुनर्लभ्यं न शरीरं पुनः पुनः॥

अर्थात् नष्ट हुआ धन पुनः मिल जाता है, रूठे हुए या छूटे व बिछड़े मित्र पुनः मिल जाते हैं या नए मित्र बन जाते हैं, पत्नी का बिछोह, त्याग या देहांत हो जाने पर दूसरी पत्नी भी मिल जाती है, जमीन-जायदाद, देश, राज्य पुनः मिल जाते हैं और ये सब बार-बार प्राप्त हो सकते हैं, लेकिन यह मानव शरीर बार-बार नहीं मिलता। क्योंकि 'नरत्वं दुर्लभं लोके' इस संसार में नरदेह प्राप्त करना दुर्लभ है–ऐसा शास्त्रों में कहा गया है।

भगवान् श्रीराम स्वयं मनुष्य शरीर की महत्ता बताते हुए कहते हैं–

बड़े भाग मानुष तन पावा। सुर दुर्लभ सबग्रंथन गावा॥

अर्थात् बड़े सौभाग्य से यह नर-शरीर मिला है। सभी ग्रंथों ने यही कहा है कि यह शरीर देवताओं को भी दुर्लभ है।

नरक स्वर्ग अपवर्ग नसेनी। ग्यान बिराग भगति सुभ देनी॥

अर्थात् यह मनुष्य योनि नरक, स्वर्ग और मोक्ष की सीढ़ी है, शुभ ज्ञान, वैराग्य और भक्ति को देने वाली है।

नर तन भव बारिधि कहुं बेरो। सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो॥

अर्थात् यह मनुष्य देह संसार सागर से तरने के लिए जहाज है। मेरी कृपा ही अनुकूल हवा है।

साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहिं परलोक संवारा॥

अर्थात् यह नर शरीर साधन का धाम और मोक्ष का दरवाजा है। इसे पाकर भी जो अपने परलोक की तैयारी न कर सके, वह अभागा है।

मानव योनि को सर्वश्रेष्ठ इसीलिए कहा गया है, क्योंकि इस योनि में ही जन्म-जन्मांतर से मुक्ति मिल सकती है। अतः ईश्वर भक्ति और शुभ कार्यों में समय व्यतीत करना चाहिए।

9. धर्म की आवश्यकता क्यों?

धर्म का विषय बड़ा गहन है। धर्म शब्द धृ+मन् से बनता है। धृ का अर्थ जो है, जो विद्यमान है, जो स्थापित है, जो सुरक्षित है, जो नित्य सहायक है, जो आप धारण किया हुआ है और मन् का अर्थ है याद करना, मानना, मूल्यवान समझना, बड़ा मानना, प्रत्यक्ष करना और पूजा करना। हमारे वेद-पुराणों तथा धार्मिक ग्रंथों में धर्म की परिभाषा कई तरह से की गई है–

धर्मेण धार्यते लोकः। *–चाणक्य सूत्र/234*

अर्थात् धर्म ही संसार को धारण किए हुए है।

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः। *–वैशेषिक शास्त्र 1/1/2*

अर्थात् जिन नियमों के आचरण एवं अनुष्ठान करने से इस लोक (जीवन) और परलोक दोनों में अभीष्ट सिद्धियां प्राप्त हों, उस आचरण को धारण करना धर्म है।

सुगां ऋतस्य पंथा। *–ऋग्वेद 8/3/13*

अर्थात् धर्म का मार्ग मानव को सुख देता है, दुख से मुक्त करता है।

धर्मनित्यास्तु ये केचिन्न ते सीदन्ति कर्हिचित्। *–महाभारत/वनपर्व 263/44*

अर्थात् जो धर्म परायण है, वे कभी संकट को नहीं प्राप्त होते हैं।

सुखस्य मूलं धर्मः। *–चाणक्य सूत्र*

अर्थात् सुख का मूल धर्म है।

धर्मो माता पिता चैव धर्मो बन्धुः सुहृत्तथा।
धर्मः स्वर्गस्य धर्मात्स्वर्गमषाप्यते॥

अर्थात् धर्म माता है, धर्म पिता है, धर्म ही बंधु है और धर्म ही सच्चा मित्र है। धर्म ही स्वर्ग की सीढ़ी है, धर्म से ही स्वर्ग की प्राप्ति होती है।

धारयते जनैरिति धर्म।

अर्थात् मनुष्यों द्वारा जिसे धारण किया जाता है, अपने आचरण में लाया जाता है, वही धर्म कहलाता है।

जीवन्तं मृतवन्मन्ये देहिनं धर्मावर्जितम्।
यतो धर्मेण संयुक्तो दीर्घजीवी व संशयः॥ *–चाणक्य नीति 13/9*

धर्म रहित मनुष्य मरे हुए मनुष्य के समान है। धार्मिक मनुष्य मरने के बाद भी जीवित रहता है, इसमें कोई शक नहीं, क्योंकि उसकी कीर्ति अमर रहती है। ऐसा धार्मिक मनुष्य दीर्घजीवी होता है।

महाभारत शांतिपर्व में कहा गया है–'धर्म मनुष्यों का मूल है, धर्म ही स्वर्ग में देवताओं को अमर बनाने वाला अमृत है, धर्म का अनुष्ठान करने से मनुष्य मरने के अनन्तर नित्य सुख भोगते हैं।'

आगे महाभारत में यह भी लिखा है–

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद् धर्म त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥ *–महाभारत/स्वर्गारोहण 5/63*

अर्थात् मनुष्य को किसी भी समय काम से, भय से, लोभ से या जीवन रक्षा के लिए भी धर्म का त्याग नहीं करना चाहिए, क्योंकि धर्म नित्य है और सुख दुःख अनित्य है तथा जीव नित्य है और जीवन का हेतु अनित्य है।

मनु महाराज ने धर्म के जो दस लक्षण बताए हैं, वे इस प्रकार हैं–

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥ *–मनुस्मृति 6/92*

अर्थात् धैर्य, क्षमा, मन पर नियंत्रण, चोरी न करना (न्यायपूर्ण जीवन) शरीर के अंदर बाहर की पवित्रता, इंद्रियों पर नियंत्रण, विवेक बुद्धि (सद्बुद्धि), विद्या, सत्य, अक्रोध–ये दस लक्षण धर्म के हैं। इनका पालन करने से जहां व्यक्ति स्वयं स्वस्थ और सुखी रहेगा, वहीं पारिवारिक और सामाजिक स्तर पर भी सब सुखी रहेंगे।

वाल्मीकि रामायण में कहा गया है–

धर्मादर्थ प्रभवति धर्मात्प्रभवते सुखम्।
धर्मेण लभते सर्व धर्मसारमिदं जगत् ॥ *–अरण्यकांड 9/30*

अर्थात् धर्म से अर्थ प्राप्त होता है, धर्म से सुख का उदय होता है, धर्म से सब कुछ मिलता है। संसार में धर्म ही सार है।

धर्म के संबंध में महाभारत, अनुशासन पर्व में एक दृष्टांत का वर्णन मिलता है। एक बार हिमालय पर्वत पर शिवजी तपस्या कर रहे थे। उस समय माता पार्वती ने उनके पास जाकर पूछा–'भगवन! धर्म का क्या स्वरूप है? जो धर्म नहीं जानते ऐसे मनुष्य उसका किस प्रकार आचरण कर सकते हैं?'

इस पर शिवजी ने कहा–'देवी! किसी भी जीव की हिंसा न करना, सत्य बोलना, सब प्राणियों पर दया करना, मन और इंद्रियों पर नियंत्रण रखना तथा अपनी शक्ति के अनुसार दान देना–यह गृहस्थ आश्रम का उत्तम धर्म है। गृहस्थ धर्म का पालन करना, पराई स्त्री के संसर्ग से दूर रहना, धरोहर और स्त्री की रक्षा करना, बिना दिए किसी दूसरे की वस्तु को न लेना, मांस और मदिरा को त्याग देना–ये धर्म के पांच भेद हैं, जिनसे सुख की प्राप्ति होती है। धर्म को श्रेष्ठ मानने वाले मनुष्यों को इन धर्मों का पालन अवश्य करना चाहिए।'

10. हिंदू धर्म में संस्कारों का महत्त्व क्यों?

भारतीय संस्कृति का मूलभूत उद्देश्य श्रेष्ठ संस्कारवान मानव का निर्माण करना है। सामाजिक दृष्टि से सुख-समृद्धि और भौतिक ऐश्वर्य आवश्यक है, किंतु मनुष्य जीवन केवल खाने-पीने और मौज-मस्ती करने के लिए ही नहीं है। हमारे ऋषियों ने भौतिक उन्नति को गौण और आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्ति को जीवन का मुख्य उद्देश्य बताया है। इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए स्वयं को तैयार करने की क्रिया का नाम ही संस्कार है। वेद, पुराणों तथा धर्म-शास्त्रों में शिशु के गर्भ में प्रवेश करने से लेकर जीवन के विभिन्न अवसरों पर और अंततः शरीर छोड़ने तक विविध संस्कारों का विधान है। संस्कारों से व्यक्ति के मन के विकार नष्ट होते हैं तथा व्यक्तित्व प्रभावशाली और जीवन आनंदपूर्ण बनता है।

संस्कार क्या हैं ?

गौतम धर्मसूत्र के अनुसार—**संस्कार उसे कहते हैं, जिससे दोष हटते हैं और गुणों की वृद्धि होती है।**

शंकराचार्य के अनुसार—

संस्कारो हि नाम संस्कार्यस्य गुणाधानेन वा स्याद्योषापनयनेन वा। *—ब्रह्मसूत्र भाष्य 1/1/4*

अर्थात् व्यक्ति में गुणों का आरोपण करने अथवा उसके दोषों को दूर करने के लिए, जो कर्म किया जाता है, उसे संस्कार कहते हैं।

महर्षि चरक के मतानुसार—**संस्कारो हि गुणान्तराधानमुच्यते।**

अर्थात् व्यक्ति या वस्तु में नए गुणों का आधान (जमा करने, समाने) करने का नाम संस्कार है।

संस्कार विधि में लिखा है—**जन्मना जायते शूद्रऽसंस्काराद्द्विज उच्यते।**

अर्थात् जन्म से सभी शूद्र होते हैं, लेकिन संस्कारों द्वारा व्यक्ति को द्विज बनाया जाता है।

हमारे ऋषि-मुनि यह मानते थे कि जन्म-जन्मांतरों की वासनाओं का लेप जीवात्मा पर रहता है। पूर्व-जन्म के इन्हीं संस्कारों के अनुरूप ही जीव नया शरीर धारण करता है, अर्थात् जन्म लेता है और उन संस्कारों के अनुरूप ही कर्मों के प्रति उसकी आसक्ति होती है। इस प्रकार जीव सर्वथा संस्कारों का दास होता है।

मीमांसा दर्शनकार के मतानुसार—**कर्मबीजं संस्कारः।** *अर्थात् संस्कार ही कर्म का बीज है तथा* **'तन्निमित्ता सृष्टि'** अर्थात् *वहीं सृष्टि का आदि कारण है।*

प्रत्येक व्यक्ति का आचरण पूर्व जन्मों के उसके निजी संस्कारों के अतिरिक्त उसके वर्तमान वंश या कुल के संस्कारों से भी प्रभावित रहता है।

आमतौर पर मनुष्य का आकर्षण विविध इंद्रिय भोगों की तरफ शीघ्र ही हो जाता है। स्वभाव की इसी कमजोरी के कारण मानव समय-समय पर मानसिक विकृतियों एवं दुर्बलताओं का शिकार होता है, जिससे स्वयं मानव और समाज चरित्रहीनता और अनैतिकता का दुख भोगता है। चूंकि मानव में दोषों का परिष्कार करने की क्षमता सर्वाधिक होती है, अतः संस्कारों का सर्वाधिक महत्त्व भी मानव समाज के लिए माना गया है।

संस्कारों की परंपरा का व्यक्ति पर अद्वितीय प्रभाव माना जाता है। संस्कारों के समय किए जाने वाले विभिन्न कर्मकांडों, यज्ञ, मंत्रोच्चारण आदि की प्रक्रिया को विज्ञान के ध्वनि सिद्धांत, चुंबकीय शक्ति संचरण, प्रकाश तथा रंगों के प्रभाव आदि द्वारा प्रमाणित किया जा चुका है। अतः संस्कार प्रणाली की प्रामाणिकता पूरी तरह असंदिग्ध है। कर्मों के साथ-साथ अच्छे-बुरे संस्कार भी बनते रहते हैं। मनोविज्ञान मानता है कि मनुष्य किसी बात को सामान्य उपदेशों, प्रशिक्षणों अथवा परामर्शों द्वारा दिए गए निर्देशों की तुलना में अनुकूल वातावरण में जल्दी सीखता है।

उल्लेखनीय है कि मस्तिष्क का स्थूल कार्य तो सचेतन मन द्वारा होता है और सूक्ष्म कार्य अचेतन मन द्वारा। बाह्य जगत से विचार सामग्री सचेतन मन जमा करता है, जबकि उस सामग्री को अचेतन मन संचित कर लेता है। अतः मनुष्य अपने सचेतन मन को जैसा बनाता है, वैसा ही उसका अचेतन मन भी आप-से-आप बन जाता है। निपुण मन ही आत्मा का सबसे बड़ा सेवक और सहायक होता है। सुशिक्षित और परिष्कृत मन के बिना आत्मा की शक्ति का जाग्रत होना संभव नहीं हो पाता।

संस्कार प्रक्रिया में पुरोहित द्वारा देवताओं के आवाहन के कारण देव अनुकम्पा की अनुभूति, यज्ञ आदि कर्मकांड के कारण धर्म-भावनाओं से ओत-प्रोत मनोभूमि, स्थान की पवित्रता, हर्षोल्लास का वातावरण, यजमान द्वारा भावपूर्ण शपथ ग्रहण, स्वजन संबंधियों, परिचितों, मित्रों की उपस्थिति, ये सब संस्कारित होने वाले व्यक्ति को एक विशेष प्रकार की मानसिक स्थिति में पहुंचा देते हैं। कर्मकांड की ये क्रियाएं मन पर अमिट और चिरस्थाई प्रभाव छोड़ती हैं। यह प्रभाव मन को परिस्थिति के अनुकूल शिक्षित करता है। उदाहरण के लिए एक व्यभिचारी व्यक्ति जब अपनी प्रेमिका को विवाह आदि करने के लंबे-चौड़े आश्वासन देता है, तो उसका कोई महत्त्व नहीं समझा जाता, जबकि विवाह संस्कार में संपन्न समस्त धार्मिक कर्मकांडों का प्रभाव ऐसा पड़ता है कि वर-वधू आजीवन एक अटूट बंधन में बंधे अनुभव करते हैं। जिस वातावरण में और भावना के साथ सारी रस्में पूरी की जाती हैं, उसका मनोवैज्ञानिक प्रभाव उन्हें जीवन-भर अलग होने से रोकता है।

संस्कार के अनेक प्रकार : संस्कारों की संख्या अलग-अलग विद्वानों ने अलग-अलग बताई है। गौतम स्मृति में 40 संस्कारों का उल्लेख किया गया है–**चत्वारिंशत्संस्कारैः संस्कृतः।** कहीं-कहीं **48 संस्कारों** का भी उल्लेख मिलता है। महर्षि अंगिरा ने **25 संस्कार** बताए हैं। दस कर्म पद्धति के मतानुसार संस्कारों की संख्या 10 मानी गई है, जबकि महर्षि वेदव्यास ने अपने ग्रंथ व्यासस्मृति में प्रमुख **सोलह (षोडश) संस्कारों** का उल्लेख किया है–

गर्भाधानं पुंसवनं सीमांतो जातकर्म च। नामक्रियानिष्क्रमणेऽन्नशनं वपन क्रिया॥
कर्णविधो व्रतादेशो वेदारम्भक्रियाविधिः। केशांतः स्नानमुद्वाहो विवाहाग्निपरिग्रहः॥
त्रेताग्निसंग्रहश्चेति संस्काराः षोडश स्मृताः। *–व्यासस्मृति 1/13-15*

वेद का कर्म मीमांसा दर्शन 16 संस्कारों को ही मान्यता प्रदान करता है। आधुनिक विद्वानों ने इन्हें सरल और कम खर्चीला बनाने का प्रयास किया है, जिससे अधिक-से-अधिक लोग इनसे लाभ उठा सकें। इनमें प्रथम 8 संस्कार प्रवृत्ति मार्ग में एवं शेष 8 मुक्ति मार्ग के लिए उपयोगी हैं। हर संस्कार का अपना महत्त्व, प्रभाव और परिणाम होता है। यदि विधि-विधान से उचित समय और वातावरण में इन संस्कारों को कराया जाए, तो उनका प्रभाव असाधारण होता है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को ये संस्कार अवश्य करने चाहिए।

11. गर्भाधान संस्कार क्यों?

दांपत्य जीवन का सर्वोच्च उद्देश्य है–श्रेष्ठ गुणों वाली, स्वस्थ, ओजस्वी, चरित्रवान और यशस्वी संतान प्राप्त करना। स्त्री-पुरुष की प्राकृतिक संरचना ही ऐसी है कि यदि उचित समय पर संभोग किया जाए, तो संतान होना स्वाभाविक ही है, किंतु गुणवान संतान प्राप्त करने के लिए माता-पिता को विचार पूर्वक इस कर्म में प्रवृत्त होना पड़ता है। श्रेष्ठ संतान की प्राप्ति के लिए विधि-विधान से किया गया संभोग ही गर्भाधान संस्कार कहा जाता है। इसके लिए माता-पिता को शारीरिक और मानसिक रूप से अपने आपको तैयार करना होता है, क्योंकि आने वाली संतान उनके ही आत्म का प्रतिरूप है। इसीलिए तो पुत्र को आत्मज और पुत्री को आत्मजा कहा जाता है।

गर्भाधान के संबंध में **स्मृति संग्रह** में लिखा है–

निषेकाद् बैजिकं चैनो गार्भिकं चापमृज्यते।
क्षेत्रसंस्कारसिद्धिश्च गर्भाधानफलं स्मृतम्॥

अर्थात् विधि पूर्वक संस्कार से युक्त गर्भाधान से अच्छी और सुयोग्य संतान उत्पन्न होती है। इस संस्कार से वीर्य संबंधी तथा गर्भ संबंधी पाप का नाश होता है, दोष का मार्जन तथा क्षेत्र का संस्कार होता है। यही गर्भाधान संस्कार का फल है।

पर्याप्त खोजों के बाद चिकित्सा शास्त्र भी इस निष्कर्ष पर पहुंचा है कि गर्भाधान के समय स्त्री-पुरुष जिस भाव से भावित होते हैं, उसका प्रभाव उनके रज-वीर्य में भी पड़ता है। अतः उस रज-वीर्यजन्य संतान में माता-पिता के वे भाव स्वतः ही प्रकट हो जाते हैं–

आहाराचारचेष्टाभिर्यादृशोभिः समन्वितौ।
स्त्रीपुंसौ समुपेयातां तयोः पुत्रोऽपि तादृशः॥ *–सुश्रुत संहिता/शारीर/2/46/50*

अर्थात् स्त्री और पुरुष जैसे आहार, व्यवहार तथा चेष्टा से संयुक्त होकर परस्पर समागम करते हैं, उनका पुत्र भी वैसे ही स्वभाव का होता है।

धन्वंतरि भगवान् का कहना है–*ऋतु स्नान के बाद स्त्री जैसे पुरुष का दर्शन करती है, वैसा ही पुत्र उत्पन्न होता है।* अतः जो स्त्री चाहती है कि मेरे पति के समान गुण वाला या अभिमन्यु जैसा वीर, ध्रुव जैसा भक्त, जनक जैसा आत्मज्ञानी, कर्ण जैसा दानी पुत्र हो, तो उसे चाहिए कि ऋतुकाल के चौथे दिन स्नान आदि से पवित्र होकर अपने आदर्श रूप इन महापुरुषों के चित्रों का दर्शन तथा सात्विक भावों से उनका चिंतन करे और इसी सात्विक भाव में **योग्य रात्रि** को गर्भाधान करावे। रात्रि के तृतीय प्रहर (12 से 3 बजे) की संतान हरिभक्त और धर्मपरायण होती है।

उक्त प्रामाणिक तथ्यों को ध्यान में रखकर ही गर्भाधान प्रक्रिया को एक पवित्र धार्मिक कर्तव्य के रूप में संपन्न करने की व्यवस्था की गई और इसके लिए विधिवत् देवी-देवताओं की प्रार्थना करके उनकी कृपा मांगी गई। संक्षेप में–गर्भाधान से पहले पवित्र होकर द्विजाति को इस मंत्र की प्रार्थना करनी चाहिए–

गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि प्रथुष्टुके।
गर्भं ते अश्विनी देवावाधत्तां पुष्करस्रजौ॥ *–बृहदारण्यक 6/4/21*

अर्थात् हे सिनीवाली देवी! एवं हे विस्तृत जघनों वाली पृथुष्टुका देवी! आप इस स्त्री को गर्भ धारण करने की सामर्थ्य दें और उसे पुष्ट करें। कमलों की माला से सुशोभित दोनों अश्विनी कुमार तेरे गर्भ को पुष्ट करें।

वर्जित संभोग–संतान प्राप्ति के उद्देश्य से किए जाने वाले संभोग के लिए अनेक वर्जनाएं भी निर्धारित की गई हैं, जैसे गंदी या मलिन अवस्था में, मासिक धर्म के समय, प्रातः या सायं की संधिवेला में अथवा चिंता, भय, क्रोध आदि मनोविकारों के पैदा होने पर गर्भाधान नहीं करना चाहिए। दिन में गर्भाधान करने से उत्पन्न संतान दुराचारी और अधम होती है। दिति के गर्भ से हिरण्यकशिपु जैसा महादानव इसलिए उत्पन्न हुआ था कि उसने आग्रह पूर्वक अपने स्वामी कश्यप के द्वारा संध्याकाल में गर्भाधान करवाया था। श्राद्ध के दिनों, पर्वों व प्रदोष-काल में भी संभोग करना शास्त्रों में वर्जित है।

काम को हमारे यहां बड़ी पवित्र भावना के रूप में स्वीकार किया गया है। गीता में कहा है–

धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि। *–श्रीमद्भगवद्गीता 7/11*

शुभ मुहूर्त में शुभ मंत्र से प्रार्थना करके गर्भाधान करें। इस विधान से कामुकता का दमन तथा मन शुभ भावना से युक्त हो जाता है।

12. पुंसवन संस्कार क्यों?

गर्भ जब दो-तीन महीने का होता है अथवा स्त्री में गर्भ के चिह्न स्पष्ट हो जाते हैं, तब गर्भस्थ शिशु के समुचित विकास के लिए पुंसवन संस्कार किया जाता है। प्रायः तीसरे महीने से स्त्री के गर्भ में शिशु के भौतिक शरीर का निर्माण प्रारंभ हो जाता है, जिसके कारण शिशु के अंग और संस्कार दोनों अपना स्वरूप बनाने लगते हैं। गर्भस्थ शिशु पर माता-पिता के मन और स्वभाव का गहरा प्रभाव पड़ता है। अतः माता को मानसिक रूप से गर्भस्थ शिशु की भली प्रकार देखभाल करने योग्य बनाने के लिए इस संस्कार का विशेष महत्त्व है। धर्म ग्रंथों में पुंसवन संस्कार करने के दो प्रमुख उद्देश्य मिलते हैं। पहला उद्देश्य पुत्र प्राप्ति और दूसरा स्वस्थ, सुंदर तथा गुणवान संतान पाने का है। पहले उद्देश्य के संदर्भ में स्मृति संग्रह में लिखा है–**गर्भाद् भवेच्च पुंसूते पुंस्त्वयस्प्रतिपादनम्** *अर्थात् इस गर्भ से पुत्र उत्पन्न हो, इसलिए पुंसवन संस्कार किया जाता है।* मनुस्मृति 9/138 में पुंसवन संस्कार का विस्तार से विधान मिलता है–**पुन्नाम्नो नरकाद्यस्मात्त्रायते पितरं सुतः** *अर्थात् पुम् नामक नरक से जो रक्षा करता है, उसे पुत्र कहते हैं।* इसीलिए नरक से बचने के लिए मनुष्य पुत्र-प्राप्ति की कामना करता है।

मनु महाराज के शब्दों में–**गर्भाद् भवेच्च पुंसूते पुंस्त्वस्य प्रतिपादनम्** *अर्थात् गर्भ के अंदर कन्या शरीर न बनकर पुत्र शरीर ही बने, यही पुंसवन संस्कार का फल है।*

पुंसवन संस्कार की व्याख्या करते हुए धर्म ग्रंथों में धार्मिक आस्था पर विशेष बल दिया गया है। जिसका सीधा-सा अर्थ माता को आत्मिक रूप से सबल बनाना है। यथा–जो लोग वेद-मंत्रों की अलौकिक शक्ति पर परम श्रद्धा रखकर पुंसवन संस्कार करते हैं, तो इससे स्त्री के भावप्रधान मन में पुत्रभाव का संकल्प उत्पन्न होता है। जब तीन माह का गर्भ हो, तो लगातार नौ दिन तक सुबह या रात्रि में सोते समय स्त्री को आगे लिखा गया मंत्र अर्थ सहित पढ़कर सुनाया जाए तथा मन में पुत्र ही होगा, ऐसा बार-बार दृढ़ निश्चय एवं पूर्ण श्रद्धा के साथ संकल्प किया जाए, तो पुत्र ही होता है।

पुमानग्निः पुमानिन्द्रः पुमान् देवो बृहस्पतिः।
पुमांसं पुत्रं विन्दस्व तं पुमान्नु जायताम्॥ –सा. वे. मं. ब्रा. 1/4/9

अर्थात् अग्नि देवता पुरुष हैं, देवराज इंद्र भी पुरुष हैं तथा देवताओं के गुरु बृहस्पति भी पुरुष हैं, तुझे भी पुरुषत्वयुक्त पुत्र ही उत्पन्न हो।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि धर्म ग्रंथ भ्रूण के लिंग परिवर्तन हो जाने की पुष्टि करते हैं, किंतु आधुनिक विज्ञान धर्म ग्रंथों की पुंसवन संस्कार की इस मान्यता को स्वीकार नहीं करता है। विज्ञान का मानना है कि नारी के डिंबाणु से पुरुष के शुक्राणु मिलते समय ही यह निश्चित हो जाता है कि संतान लड़का होगा या लड़की। विज्ञान मानता है कि नारी डिंबाणु में 22 जोड़े गुण सूत्र होते हैं, जिनमें सभी x x होते हैं। पुरुष शुक्राणु में 23 जोड़े गुण सूत्र होते हैं, जिनमें से 22 जोड़े x x और एक जोड़ा x y होता है। यदि स्त्री के x गुण सूत्र से पुरुष का x गुण सूत्र मिलता है, तो संतान लड़की होती है और यदि स्त्री

के x गुण सूत्र से पुरुष का y गुण सूत्र मिलता है, तो संतान लड़का होती है। गुण सूत्रों का यह मेल संभोग के समय ही हो जाता है तथा इसे किसी भी स्थिति में बाद में नहीं बदला जा सकता। अतः दो या तीन महीने बाद यह तो पता किया जा सकता है कि गर्भ में संतान लड़का है या लड़की है, किंतु किसी भी विधान से इसको बदला नहीं जा सकता।

पुंसवन संस्कार से लिंग परिवर्तन के संबंध में धार्मिक ग्रंथों की निश्चित धारणा और विज्ञान के प्रामाणिक तथ्यों में आज तक मतभेद बना हुआ है, किंतु धर्म ग्रंथों के दूसरे उद्देश्य अर्थात् गुणवान संतान की प्राप्ति के लिए पुंसवन संस्कार के महत्त्व पर आपत्ति नहीं की जा सकती।

13. सीमंतोन्नयन संस्कार क्यों?

यह संस्कार गर्भ के चौथे, छठे या आठवें मास में किया जाता है, जिसका उद्देश्य गर्भ की शुद्धि और माता को श्रेष्ठ चिंतन करने की प्रेरणा प्रदान करना होता है। उल्लेखनीय है कि गर्भ में चौथे माह के बाद शिशु के अंग-प्रत्यंग, हृदय आदि बन जाते हैं और उनमें चेतना आने लगती है, जिससे बच्चे में जाग्रत इच्छाएं माता के हृदय में प्रकट होने लगती हैं। इस समय गर्भस्थ शिशु शिक्षण योग्य बनने लगता है। उसके मन और बुद्धि में नई चेतना-शक्ति जाग्रत होने लगती है। ऐसे में जो प्रभावशाली अच्छे संस्कार डाले जाते हैं, उनका शिशु के मन पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि गर्भस्थ शिशु बहुत ही संवेदनशील होता है। सती मदालसा के बारे में कहा जाता है कि वह अपने बच्चे के गुण, कर्म और स्वभाव की पूर्व घोषणा कर देती थी, फिर उसी प्रकार निरंतर चिंतन, क्रिया-कलाप, रहन-सहन, आहार-विहार और बर्ताव अपनाती थी, जिससे बच्चा उसी मनोभूमि में ढल जाता था, जैसाकि वह चाहती थी।

भक्त प्रहलाद की माता कयाधू को देवर्षि नारद भगवद् भक्ति के उपदेश दिया करते थे, जो प्रहलाद ने गर्भ में ही सुने थे। व्यास पुत्र शुकदेव ने अपनी मां के गर्भ में सारा ज्ञान प्राप्त कर लिया था। अर्जुन ने अपनी गर्भवती पत्नी सुभद्रा को चक्रव्यूह वेधन की जो शिक्षा दी थी, वह सब गर्भस्थ शिशु अभिमन्यु ने सीख ली थी। उसी शिक्षा के आधार पर 14 वर्ष की आयु में ही अभिमन्यु ने अकेले 8 महारथियों से महाभारत युद्ध कर चक्रव्यूह वेधन किया।

शास्त्र वर्णित गूलर आदि वनस्पति द्वारा पति को गर्भिणी पत्नी के सीमंत (मांग) का **ॐ भूर्विनयामि, ॐ भुवर्विनयामि, ॐ स्वर्विनयामि** पढ़ते हुए और पृथक् करणादि क्रियाएं करते हुए निम्न मंत्रोच्चारण करना चाहिए–

येनादिते सीमानं नयति प्रजापतिर्महते सौभगाय।
तेनाहमस्यै सीमानं नयामि प्रजामस्यै जरदष्टिं कृणोमि॥

अर्थात् जिस प्रकार देवमाता अदिति का सीमंतोन्नयन प्रजापति ने किया था, उसी प्रकार मैं इस गर्भिणी का सीमंतोन्नयन करके इसके पुत्र को जरावस्थापर्यंत दीर्घजीवी करता हूं।

संस्कार के अंत में वृद्धा ब्राह्मणियों द्वारा पत्नि को आशीर्वाद दिलवाएं।

सीमंतोन्नयन संस्कार में पर्याप्त घी मिली खिचड़ी खिलाने का विधान है। इसका उल्लेख **गोभिल गृह्यसूत्र** में इस प्रकार किया गया है–

किं पश्यस्सीत्युक्त्वा प्रजामिति वाचयेत् तं सा स्वयं
भुञ्जीत वीरसूर्जीवपत्नीति ब्राह्मण्यो मंगलाभिर्वाग्भि पासीरन्। *–गोभिल गृह्यसूत्र 2/7/9-12*

अर्थात् यह पूछने पर कि क्या देखती हो, तो स्त्री कहे मैं संतान देखती हूं। उस खिचड़ी का खुद सेवन करे। इस संस्कार के समय उपस्थित स्त्रियां उसे आशीर्वाद देते हुए कहें कि तू जीवित संतान उत्पन्न करने वाली हो। तू चिरकाल तक सौभाग्यवती बनी रहे।

14. नामकरण संस्कार क्यों?

नामकरण संस्कार के संबंध में *स्मृति संग्रह* में लिखा है–

आयुर्वर्चोऽभिवृद्धिश्च सिद्धिर्व्यवहृतेस्तथा।
नामकर्मफलं त्वेतत् समुद्दिष्टं मनीषिभिः॥

अर्थात् नामकरण संस्कार से आयु तथा तेज की वृद्धि होती है एवं लौकिक व्यवहार में नाम की प्रसिद्धि से व्यक्ति का अलग अस्तित्त्व बनता है।

इस संस्कार को प्रायः दस दिन के सूतक की निवृत्ति के बाद ही किया जाता है। **पाराशर गृह्यसूत्र** में लिखा है–**दशम्यामुत्थाप्य पिता नाम करोति**। कहीं-कहीं जन्म के दसवें दिन सूतिका का शुद्धिकरण यज्ञ द्वारा करा कर भी संस्कार संपन्न किया जाता है। कहीं-कहीं 100वें दिन या एक वर्ष बीत जाने के बाद नामकरण करने की विधि प्रचलित है। **गोभिल गृह्यसूत्रकार** के अनुसार–**जननादृशरात्रे व्युष्टे शतरात्रे संवत्सरे वा नामधेयकरणाम्**। इस संस्कार में बच्चे को शहद चटाकर शालीनता पूर्वक मधुर भाषण कर, सूर्य दर्शन कराया जाता है और कामना की जाती है कि बच्चा सूर्य की प्रखरता-तेजस्विता धारण करे, इसके साथ ही भूमि को नमन कर देव संस्कृति के प्रति श्रद्धापूर्वक समर्पण किया जाता है। शिशु का नया नाम लेकर सबके द्वारा उसके चिरंजीवी, धर्मशील, स्वस्थ एवं समृद्ध होने की कामना की जाती है।
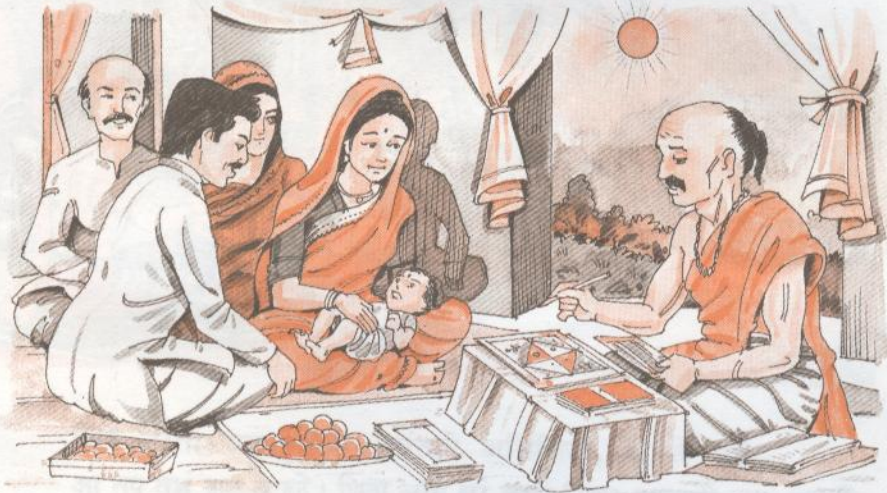
पहले गुण प्रधान नाम द्वारा या महापुरुषों, भगवान् आदि के नाम पर रखे नाम द्वारा यह प्रेरणा दी जाती थी कि शिशु जीवन-भर उन्हीं की तरह बनने को प्रयत्नशील रहे। मनोवैज्ञानिक तथ्य यह है कि जिस तरह के नाम से व्यक्ति को पुकारा जाता है, उसे उसी प्रकार के गुणों की अनुभूति होती है। जब घटिया

नाम से पुकारा जाएगा, तो व्यक्ति के मन में हीनता के ही भाव जागेंगे। अतः नाम की सार्थकता को समझते हुए ऐसा ही नाम रखना चाहिए, जो शिशु को प्रोत्साहित करने वाला एवं गौरव अनुभव कराने वाला हो।

नामकरण के तीन आधार माने गए हैं। पहला, जिस नक्षत्र में शिशु का जन्म होता है, उस नक्षत्र की पहचान रहे। इसलिए नाम नक्षत्र के लिए नियत अक्षर से शुरू होना चाहिए, ताकि नाम से जन्म नक्षत्र का पता चले और ज्योतिषीय राशिफल भी समझा जा सके। मूलरूप से नामों की वैज्ञानिकता का यही एक दर्शन है। दूसरा यह है कि नाम आपको जीवन के उद्देश्य को प्राप्त करने में सहायक बने और तीसरा यह कि नाम से आपके जातिनाम, वंश, गोत्र आदि की जानकारी हो जाए। ब्राह्मणों के नाम के अंत में शर्मा, क्षत्रियों के वर्मा, वणिक के गुप्ता और अन्य वर्णों के लिए दास शब्द लगाया जाता है।

15. निष्क्रमण संस्कार क्यों?

निष्क्रमण का अर्थ है–बाहर निकालना। बच्चे को पहली बार जब घर से बाहर निकाला जाता है, जैसे माता-पिता के यात्रादि पर जाने के समय निष्क्रमण संस्कार किया जाता है।

इस संस्कार का फल विद्वानों द्वारा शिशु के स्वास्थ्य और आयु की वृद्धि करना बताया है–

निष्क्रमणादायुषो वृद्धिरप्युद्दिष्टा मनीषिभिः।

जन्म के चौथे मास में निष्क्रमण संस्कार होता है। जब बच्चे का ज्ञान और कर्मेन्द्रियां सशक्त होकर धूप, वायु आदि को सहने योग्य बन जाती हैं। सूर्य तथा चंद्रादि देवताओं का पूजन करके बच्चे को सूर्य, चंद्र आदि के दर्शन कराना इस संस्कार की मुख्य प्रक्रिया है। चूंकि बच्चे का शरीर पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा आकाश से बनता है, इसलिए बच्चे का पिता इस संस्कार के अंतर्गत आकाश आदि पंचभूतों के अधिष्ठाता देवताओं से बच्चे के कल्याण की कामना करता है–
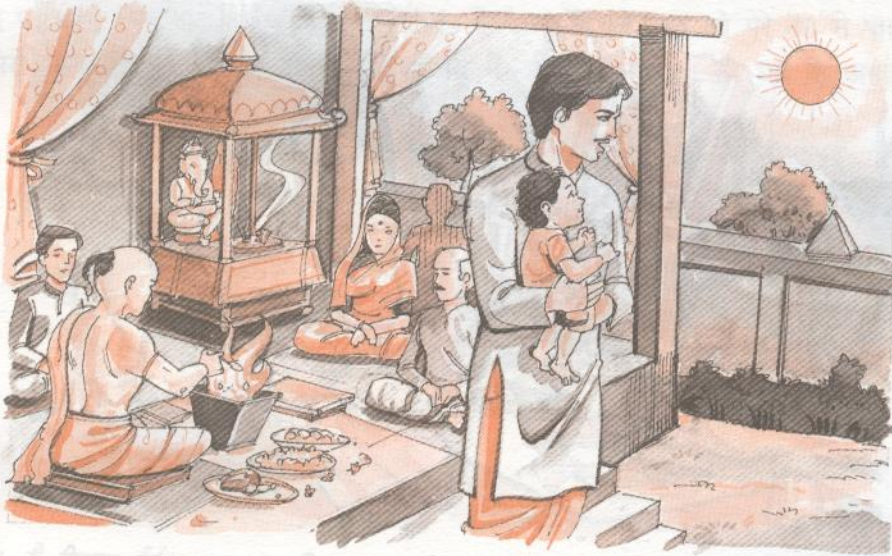
शिवे तेस्तां द्यावापृथिवी असंतापे अभिश्रियौ, शं ते सूर्य
आ तप तुशं वातु ते हृदे। शिवा अभि क्षरं त्वापो दिव्याः पयस्वतीः॥ –*अथर्ववेद सं. 8/2/14*

अर्थात् हे बालक! तेरे निष्क्रमण के समय द्युलोक तथा पृथिवीलोक कल्याणकारी सुखद एवं शोभास्पद हों। सूर्य तेरे लिए कल्याणकारी प्रकाश करे। तेरे हृदय में स्वच्छ कल्याणकारी वायु का संचरण हो। दिव्य जल वाली गंगा-यमुना आदि नदियां तेरे लिए निर्मल स्वादिष्ट जल का वहन करें।

16. अन्नप्राशन संस्कार क्यों?

माता के गर्भ में मलिन भोजन के जो दोष शिशु में आ जाते हैं, उनके निवारण और शिशु को शुद्ध भोजन कराने की प्रक्रिया को अन्नप्राशन संस्कार कहा जाता है–

अन्नाशनान्मातृगर्भे मलाशाद्यपि शुध्यति।

शिशु को जब 6-7 माह की अवस्था में पेय पदार्थ, दूध आदि के अतिरिक्त प्रथम बार यज्ञ आदि करके अन्न खिलाना प्रारंभ किया जाता है, तो यह कार्य अन्नप्राशन संस्कार के नाम से जाना जाता है। इस संस्कार का उद्देश्य यह होता है कि शिशु सुसंस्कारी अन्न ग्रहण करे–

आहारशुद्धौ-सत्त्वशुद्धिः। *–छान्दोग्य उपनिषद् 7/26/2*

अर्थात् शुद्ध आहार से शरीर में सत्त्व गुण की वृद्धि होती है।

6-7 माह के शिशु के दांत निकलने लगते हैं और पाचन क्रिया प्रबल होने लगती है, ऐसे में जैसा अन्न खाना वह प्रारंभ करता है, उसी के अनुरूप उसका तन-मन बनता है। मनुष्य के विचार, भावना, आकांक्षा एवं अंतरात्मा बहुत कुछ अन्न पर ही निर्भर रहती है। अन्न से ही जीवन तत्त्व मिलते हैं, जिससे रक्त, मांस आदि बनकर जीवन धारण किए रहने की क्षमता उत्पन्न होती है। अन्न ही मनुष्य का स्वाभाविक भोजन है, उसे भगवान् का कृपा-प्रसाद समझकर ग्रहण करना चाहिए।

शास्त्रों में देवों को खाद्य पदार्थ निवेदित करके अन्न खिलाने का विधान बताया गया है। इस संस्कार में शुभ मुहूर्त में देवताओं का पूजन करने के पश्चात् माता-पिता चांदी के चम्मच से खीर आदि पवित्र और पुष्टिकारक अन्न शिशु को चटाते हैं और निम्न मंत्र बोलते हैं–

शिवौ ते स्तां व्रीहियवावबलासावदोमधौ।
एतौ यक्ष्मं विबाधेते एतौ मुंचतो अंहसः॥ *–अथर्ववेद 8/2/18*

अर्थात् हे बालक! जौ और चावल तुम्हारे लिए बलदायक तथा पुष्टिकारक हों, क्योंकि ये दोनों वस्तुएं यक्ष्मा नाशक हैं तथा देवान्न होने से पाप नाशक हैं।

इस संदर्भ में महाभारत में एक रोचक कथा आती है–एक दिन भीष्म पितामह पांडवों को कोई उपदेश दे रहे थे कि अचानक द्रौपदी को हंसी आ गई। द्रौपदी के इस व्यवहार से पितामह को बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने द्रौपदी से हंसने का कारण पूछा। द्रौपदी ने विनम्रता से कहा– "आपके उपदेशों में धर्म का मर्म छिपा है पितामह। आप हमें कितनी अच्छी-अच्छी ज्ञान की बातें बता रहे हैं। यह सब सुनकर कौरवों की उस सभा की याद हो आई, जिसमें वे मेरे वस्त्र उतारने का प्रयास कर रहे थे। तब मैं चीख-चीखकर न्याय की भीख मांग रही थी, लेकिन आप वहां पर होने के बाद भी मौन रहकर उन अधर्मियों का प्रतिवाद नहीं कर रहे थे। आप जैसे धर्मात्मा उस समय क्यों चुप रहे? दुर्योधन को क्यों नहीं समझाया, यही सोचकर मुझे हंसी आ गई।"

इस पर भीष्म पितामह गंभीर होकर बोले–"बेटी, उस समय मैं दुर्योधन का अन्न खाता था। उसी से मेरा रक्त बनता था। जैसा कुत्सित स्वभाव दुर्योधन का है, वही असर उसका दिया अन्न खाने से मेरे मन और बुद्धि पर पड़ा, किंतु अब अर्जुन के बाणों ने पाप के अन्न से बने रक्त को मेरे तन से बाहर निकाल दिया है और मेरी भावनाएं शुद्ध हो गई हैं। इसीलिए अब मैं वही कह रहा हूं, जो धर्म के अनुकूल है।"

17. चूड़ाकर्म (मुंडन) संस्कार क्यों?

इस संस्कार में शिशु के सिर के बाल पहली बार उस्तरे से उतारे जाते हैं। जन्म के पश्चात् प्रथम वर्ष के अंत तथा तीसरे वर्ष की समाप्ति के पूर्व मुंडन संस्कार कराना आमतौर पर प्रचलित है। क्योंकि हिंदू मान्यता के अनुसार एक वर्ष से कम की उम्र में मुंडन संस्कार करने से शिशु की सेहत पर बुरा प्रभाव पड़ता है और अमंगल होने की संभावना रहती है। फिर भी कुल परंपरा के अनुसार पांचवें या सातवें वर्ष में भी इस संस्कार को करने का विधान है।

मान्यता यह है कि शिशु के मस्तिष्क को पुष्ट करने, बुद्धि में वृद्धि करने तथा गर्भगत मलिन संस्कारों को निकालकर मानवतावादी आदर्शों को प्रतिष्ठापित करने हेतु चूड़ाकर्म संस्कार किया जाता है। इसका फल बुद्धि, बल, आयु और तेज की वृद्धि करना है। इसे किसी देव स्थल या तीर्थ स्थान पर इसलिए कराया

जाता है, ताकि वहां के दिव्य वातावरण का भी लाभ शिशु को मिले तथा उतारे गए बालों के साथ बच्चे के मन में कुसंस्कारों का शमन हो सके और साथ ही सुसंस्कारों की स्थापना हो सके।

आश्वलायन गृह्यसूत्र के अनुसार–

तेन ते आयुषे वपामि सुश्लोकाय स्वस्तये। –*आश्वलायन गृह्यसूत्र 1/17/12*

अर्थात् चूड़ाकर्म से दीर्घ आयु प्राप्त होती है। शिशु सुंदर तथा कल्याणकारी कार्यों की ओर प्रवृत्त होने वाला बनता है।

वेदों में चूड़ाकर्म संस्कार का विस्तार से उल्लेख मिलता है। **यजुर्वेद** में लिखा है–

निवर्तयाम्यायुषेऽन्नाद्याय प्रजननाय
रायस्पोषाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्याय ॥ *–यजुर्वेद 3/63*

अर्थात् हे बालक! मैं तेरी दीर्घायु के लिए, तुझे अन्न-ग्रहण करने में समर्थ बनाने के लिए, उत्पादन शक्ति प्राप्ति के लिए, ऐश्वर्य वृद्धि के लिए, सुंदर संतान के लिए एवं बल तथा पराक्रम प्राप्ति के योग्य होने के लिए तेरा (चूड़ाकर्म (मुंडन)) संस्कार करता हूं।

उल्लेखनीय है कि चूड़ाकर्म वस्तुतः मस्तिष्क की पूजा अभिवंदना है। मस्तिष्क का सर्वश्रेष्ठ उपयोग करना ही बुद्धिमत्ता है। शुभ विचारों को धारण करने वाला व्यक्ति परोपकार या पुण्य लाभ पाता है और अशुभ विचारों को मन में भरे रहने वाला व्यक्ति पापी बनकर ईश्वरीय दंड और कोप का भागी बनता है। यहां तक कि अपनी जीवन प्रक्रिया को नष्ट-भ्रष्ट कर डालता है। अतः मस्तिष्क का सार्थक सदुपयोग ही चूड़ाकर्म का वास्तविक उद्देश्य है।

18. शिखा (चोटी) रखने और उसमें गांठ बांधने की प्रथा क्यों?

हिंदू धर्म के साथ शिखा का अटूट संबंध होने के कारण चोटी रखने की परंपरा प्राचीन काल से चली आ रही है। शिखा का महत्त्व भारतीय संस्कृति में अंकुश के समान है। यह हमारे ऊपर आदर्श और सिद्धांतों का अंकुश है। इससे मस्तिष्क में पवित्र भाव उत्पन्न होते हैं।

उल्लेखनीय है कि हमारे लघु और दीर्घ मस्तिष्कों को जोड़ने वाले केंद्र को 'अधिपति' मर्मस्थल कहते हैं, जो मस्तिष्क का हृदय कहलाता है। यहीं पर ब्रह्मरंध्र, द्विदलीय आज्ञाचक्र और पीनियल ग्लैंड से संपर्क जोड़ने वाली नाड़ियां आकर मिलती हैं, जो बच्चे की चिंतन शक्ति का विकास करती हैं। इस स्थान पर जो बालों का भंवर होता है, उसकी जड़ें उन चेतना केंद्रों तक चली गई हैं, जिनकी बदौलत हम बुद्धिमान् व मनस्वी बनते हैं। ऐसे मर्मस्थल की पहचान और सुरक्षा के लिए ही हमारे ऋषियों ने उस स्थान पर चोटी (शिखा) रखने का विधान बनाया है।

कात्यायनस्मृति में लिखा है–

सदोपवीतिना भाव्यं सदा बद्धशिखेन च।
विशिखो व्युपवीतश्च यत्करोति न तत्कृतम्॥

–कात्यायनस्मृति 1/4

अर्थात् बिना शिखा के जो भी यज्ञ, दान, तप, व्रत आदि शुभ कर्म किए जाते हैं, वे सब निष्फल हो जाते हैं।

यहां तक कि बिना शिखा के किए गए पुण्य कर्म भी राक्षस कर्म हो जाते हैं–

विना यच्छिखया कर्म विना यज्ञोपवीतकम्।
राक्षसं तद्धि विज्ञेयं समस्ता निष्फला क्रियाः॥

–महर्षि वेदव्यास

इसलिए **मनुस्मृति** में आज्ञा दी गई है–

स्नाने दाने जपे होमे सन्ध्यायां देवतार्चने।
शिखाग्रन्थिं सदा कुर्यादित्येतन्मनुरब्रवीत्॥

अर्थात् स्नान, दान, जप, होम, संध्या और देव पूजन के समय शिखा में ग्रंथि (चोटी में गांठ) अवश्य लगानी चाहिए।

पूजा-पाठ के समय शिखा में गांठ लगाकर रखने से मस्तिष्क में संकलित ऊर्जा तरंगें बाहर नहीं निकल पाती हैं। इनके अंतर्मुखी हो जाने से मानसिक शक्तियों का पोषण, सद्बुद्धि, सद्विचार आदि की प्राप्ति, वासना की कमी, आत्मशक्ति में बढ़ोतरी, शारीरिक शक्ति का संचार, अवसाद से बचाव, अनिष्टकर प्रभावों से रक्षा, सुरक्षित नेत्र ज्योति, कार्यों में सफलता तथा सद्गति जैसे लाभ भी मिलते हैं।

19. कर्णवेध संस्कार क्यों?

इस संस्कार को 6 माह से लेकर 16वें माह तक अथवा 3, 5 आदि विषम वर्षों में या कुल की परंपरा के अनुसार उचित आयु में किया जाता है। इसे स्त्री-पुरुषों में पूर्ण स्त्रीत्व एवं पुरुषत्व की प्राप्ति के उद्देश्य से कराया जाता है। मान्यता यह भी है कि सूर्य की किरणें कानों के छिद्र से प्रवेश पाकर बालक-बालिका को तेज संपन्न बनाती हैं। बालिकाओं के आभूषण धारण हेतु तथा रोगों से बचाव हेतु यह संस्कार आधुनिक एक्युपंचर पद्धति के अनुरूप एक सशक्त माध्यम भी है।

हमारे शास्त्रों में कर्णवेध रहित पुरुष को श्राद्ध का अधिकारी नहीं माना गया है। ब्राह्मण और वैश्य का कर्णवेध चांदी की सुई से, शूद्र का लोहे की सुई से तथा क्षत्रिय और संपन्न पुरुषों का सोने की सुई से करने का विधान है।
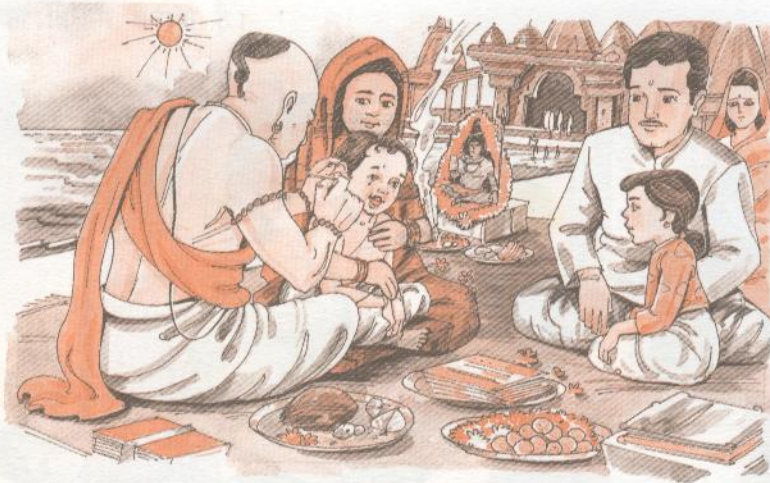
शुभ समय में, पवित्र स्थान पर बैठकर देवताओं का पूजन करने के पश्चात् सूर्य के सम्मुख बालक या बालिका के कानों को निम्न मंत्र द्वारा अभिमंत्रित करना चाहिए–

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरंगैस्तुष्टुवा ँ सस्तनूभिर्व्यशेमह देवहितं यदायुः॥
–यजुर्वेद 25/21

इसके बाद बालक के दाहिने कान में पहले और बाएं कान में बाद में सुई से छेद करें। उनमें कुंडल आदि पहनाएं। बालिका के पहले बाएं कान में, फिर दाहिने कान में छेद करके तथा बाएं नाक में भी छेद करके आभूषण पहनाने का विधान है।

मस्तिष्क के दोनों भागों को विद्युत के प्रभावों से प्रभावशील बनाने के लिए नाक और कान में छिद्र करके सोना पहनना लाभकारी माना गया है। नाक में नथुनी पहनने से नासिका संबंधी रोग नहीं होते और सर्दी-खांसी में राहत मिलती है। जबकि कानों में सोने की बालियां या झुमके आदि पहनने से स्त्रियों में मासिक धर्म नियमित रहता है, इससे हिस्टीरिया रोग में लाभ मिलता है।

20. विद्यारंभ संस्कार का महत्त्व क्यों?

गुरुजनों से वेदों और उपनिषदों का अध्ययन कर तत्त्वज्ञान की प्राप्ति करना ही इस संस्कार का परम प्रयोजन है। जब बालक-बालिका का मस्तिष्क शिक्षा ग्रहण करने योग्य हो जाता है, तब यह संस्कार किया जाता है। आमतौर पर 5 वर्ष का बच्चा इसके लिए उपयुक्त होता है। मंगल के देवता गणेश और कला की देवी सरस्वती को नमन करके उनसे प्रेरणा ग्रहण करने की मूल भावना इस संस्कार में निहित होती है। बालक विद्या देने वाले गुरु का पूर्ण श्रद्धा से अभिवादन व प्रणाम इसलिए करता है कि गुरु उसे एक श्रेष्ठ मानव बनाए।
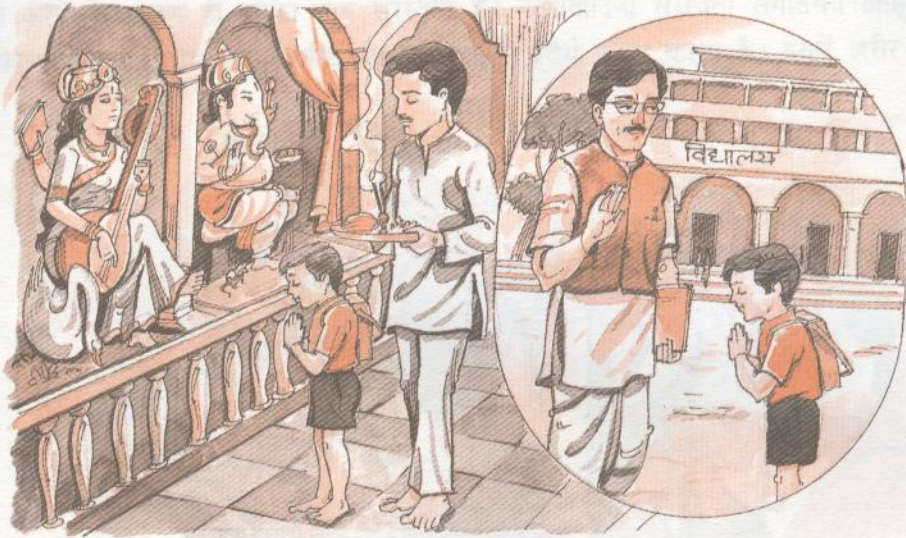
ज्ञान स्वरूप वेदों का विस्तृत अध्ययन करने के पूर्व मेधाजनन नामक एक उपांग संस्कार करने का विधान भी शास्त्रों में वर्णित है। इसके करने से बालक में मेधा, प्रज्ञा, विद्या तथा श्रद्धा की अभिवृद्धि होती है। इससे वेदाध्ययन आदि में न केवल सुविधा होती है, बल्कि विद्याध्ययन में कोई बाधा उत्पन्न नहीं होती। **ज्योतिर्निबंध** में लिखा है–

विद्यया लुप्यते पापं विद्ययाऽऽयुः प्रवर्धते।
विद्यया सर्वसिद्धिः स्याद्विद्ययात्मृतमश्नुते॥

अर्थात् वेद विद्या के अध्ययन से सारे पापों का लोप होता है, आयु की वृद्धि होती है, सारी सिद्धियां प्राप्त होती हैं, यहां तक कि विद्यार्थी के समक्ष साक्षात् अमृत रस अशन-पान के रूप में उपलब्ध हो जाता है।

शास्त्र वचन है कि जिसे विद्या नहीं आती, उसे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के चारों फलों से वंचित रहना पड़ता है। इसलिए विद्या की आवश्यकताएं अनिवार्य हैं।

मातेव रक्षति पितेव हिते नियुङ्क्ते,
कान्तेव चापि रमयत्यपनीय खेदम्।
लक्ष्मीं तनोति वितनोति च दिक्षु कीर्तिं,
किं किं न साधयति कल्पलतेव विद्या॥ *–सुभाषित भाण्डागार 31-14*

अर्थात् विद्या माता की तरह रक्षा करती है, पिता की तरह हितकारी कार्यों में नियोजित करती है, पत्नी की तरह कष्टों का निवारण करके आनंद प्रदान करती है, लक्ष्मी का विस्तार करती है और सभी दिशाओं में कीर्तिवान् बनाती है, इस प्रकार कल्पलता की तरह विद्या क्या-क्या नहीं करती, अर्थात् सब कुछ प्रदान करती है।

21. सरस्वती को ही ज्ञान की देवी क्यों माना जाता है?

मां सरस्वती विद्या, संगीत और बुद्धि की देवी मानी गई हैं। देवीपुराण में सरस्वती को सावित्री, गायत्री, सती, लक्ष्मी और अंबिका नाम से संबोधित किया गया है। प्राचीन ग्रंथों में इन्हें वाग्देवी, वाणी, शारदा, भारती, वीणापाणि, विद्याधरी, सर्वमंगला आदि नामों से अलंकृत किया गया है। यह संपूर्ण संशयों का उच्छेद करने वाली तथा बोधस्वरूपिणी हैं। इनकी उपासना से सब प्रकार की सिद्धियां प्राप्त होती हैं। ये संगीतशास्त्र की भी अधिष्ठात्री देवी हैं। ताल, स्वर, लय, राग-रागिनी आदि का प्रादुर्भाव भी इन्हीं से हुआ है। सात प्रकार के स्वरों द्वारा इनका स्मरण किया जाता है, इसलिए ये स्वरात्मिका कहलाती हैं। सप्तविध स्वरों का ज्ञान प्रदान करने के कारण ही इनका नाम सरस्वती है। वीणावादिनी सरस्वती संगीतमय आह्लादित जीवन जीने की प्रेरणावस्था है। वीणावादन शरीर यंत्र को एकदम स्थैर्य प्रदान करता है। इसमें शरीर का अंग-अंग

परस्पर गुंथकर समाधि अवस्था को प्राप्त हो जाता है। साम-संगीत के सारे विधि-विधान एकमात्र वीणा में सन्निहित हैं। मार्कण्डेयपुराण में कहा गया है कि नागराज अश्वतारा और उसके भाई काम्बाल ने सरस्वती से संगीत की शिक्षा प्राप्त की थी। वाक् (वाणी) सत्त्वगुणी सरस्वती के रूप में प्रस्फुटित हुआ।

सरस्वती के सभी अंग श्वेताभ हैं, जिसका तात्पर्य यह है कि सरस्वती सत्त्वगुणी प्रतिभा स्वरूपा हैं। इसी गुण की उपलब्धि जीवन का अभीष्ट है। कमल गतिशीलता का प्रतीक है। यह निरपेक्ष जीवन जीने की प्रेरणा देता है। हाथ में पुस्तक सभी कुछ जान लेने, सभी कुछ समझ लेने की सीख देती है।

देवी भागवत् के अनुसार, सरस्वती को ब्रह्मा, विष्णु, महेश द्वारा पूजा जाता है। जो सरस्वती की आराधना करता है, उसमें उनके वाहन हंस के नीर-क्षीर-विवेक गुण अपने आप ही आ जाते हैं। माघ माह में शुक्ल पक्ष की पंचमी को बसंत पंचमी पर्व मनाया जाता है, तब संपूर्ण विधि-विधान से मां सरस्वती

का पूजन करने का विधान है। लेखक, कवि, संगीतकार सभी सरस्वती की प्रथम वंदना करते हैं। उनका विश्वास है कि इससे उनके भीतर रचना की ऊर्जा शक्ति उत्पन्न होती है। इसके अलावा मां सरस्वती देवी की पूजा से रोग, शोक, चिंताएं और मन का संचित विकार भी दूर होता है। इस प्रकार वीणाधारिणी, वीणावादिनी मां सरस्वती की पूजा-आराधना में मानव कल्याण का समग्र जीवनदर्शन निहित है। सतत् अध्ययन ही सरस्वती की सच्ची आराधना है। याज्ञवल्क्य वाणी स्तोत्र, वसिष्ठ स्तोत्र आदि में सरस्वती की पूजा उपासना का विस्तृत वर्णन है।

एक समय ब्रह्माजी ने सरस्वती से कहा–'तुम किसी योग्य पुरुष के मुख में कवित्वशक्ति होकर निवास करो।' उनकी आज्ञानुसार सरस्वती योग्य पात्र की तलाश में निकल पड़ी। पीड़ा से तड़प रहे एक पक्षी को देखकर जब महर्षि वाल्मीकि ने द्रवीभूत होकर यह श्लोक कहा–

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत् कौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥

वाल्मीकि की असाधारण योग्यता और प्रतिभा का परिचय पाकर सरस्वती ने उन्हीं के मुख में सर्वप्रथम प्रवेश किया। सरस्वती के कृपापात्र होकर महर्षि वाल्मीकि ही 'आदिकवि' के नाम से संसार में विख्यात हुए।

रामायण के एक प्रसंग के अनुसार जब कुंभकर्ण की तपस्या से संतुष्ट होकर ब्रह्मा उसे वरदान देने पहुंचे, तो उन्होंने सोचा कि यह दुष्ट कुछ भी न करे, केवल बैठकर भोजन ही करे, तो यह संसार उजड़ जाएगा। अतः उन्होंने सरस्वती को बुलाया और कहा कि इसकी बुद्धि को भ्रमित कर दो। सरस्वती ने कुंभकर्ण की बुद्धि विकृत कर दी। परिणाम यह हुआ कि वह छह माह की नींद मांग बैठा। इस प्रकार कुंभकर्ण में सरस्वती का प्रवेश उसकी मृत्यु का कारण बना।

मार्कण्डेयपुराण में एक कथा का उल्लेख मिलता है, जिसके अनुसार एक बार महर्षि जैमिनी विंध्य के जंगलों से गुजर रहे थे। वहां उन्होंने देखा कि कुछ पक्षी वेदपाठ कर रहे हैं। उनका उच्चारण शुद्ध और व्याकरण सम्मत था। शायद वे शापग्रस्त पक्षी थे, परंतु देवी सरस्वती की कृपा से वे वेदपाठ कर रहे थे।

22. गुरु का महत्त्व क्यों?

आदि काल से हमारे समाज ने गुरु की महत्ता को एक स्वर से स्वीकारा है। 'गुरु बिन ज्ञान न होहि' का सत्य भारतीय समाज का मूलमंत्र रहा है। शिक्षा हो, जीवनदर्शन हो या धर्म संस्कार की बात हो, इनका ज्ञान बिना गुरु के नहीं मिलता। हमारे प्राचीन शास्त्रों में गुरु महिमा का वर्णन इस प्रकार मिलता है–

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरु साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्री गुरुवे नमः॥ *–गुरुगीता, पृष्ठ 43*

अर्थात् गुरु ही ब्रह्मा, विष्णु और महेश का स्वरूप है। गुरु ही साक्षात् परब्रह्म परमेश्वर है। ऐसे गुरु को बारंबार नमस्कार है।

तुलसीदासजी ने लिखा है–

गुरु बिनु भवनिधि तरइ न कोई।
जो बिरंचि संकर सम होई॥ *–रामचरितमानस/उत्तरकांड 92/3*

अर्थात् संसार रूपी सागर को कोई अपने आप तर नहीं सकता। चाहे ब्रह्माजी जैसे सृष्टिकर्ता हों या शिवजी जैसे संहारकर्ता हों, फिर भी अपने मन की चाल से, अपनी मान्यताओं के जंगल से निकलने के लिए पगडंडी दिखाने वाले सद्गुरु अवश्य चाहिए।

आपस्तम्बगृह्यसूत्र में लिखा है–

स हि विद्यातः तं जनयति तदस्य श्रेष्ठं जन्म।
मातापितरौ तु शरीरमेव जनयतः॥

अर्थात् माता-पिता शरीर को जन्म अवश्य देते हैं, किंतु सत्य जन्म गुरु से होता है, जिसे शास्त्रकारों ने श्रेष्ठ जन्म कहा है।

गुरु और गुरु-तत्त्व की कितनी महत्ता है, इसके बारे में भगवान् शिव-पार्वती से कहते हैं–

गुरु-भक्ति-विहीनस्य तपो विद्या व्रतं कुलम्।
निष्फलं हि महेशनि! केवलं लोक रंजनं॥
गुरु भक्तारंव्य दहनं दग्ध दुर्गतिकल्मषः।
श्वपचोऽपि पेरेः पूज्यो न विद्वानपि नास्तिकः॥
धर्मार्थ कामैः किल्वस्य मोक्षस्तस्य करे स्थितिः।
सर्वार्थेश्री गुरौ देवि! यस्य भक्तिः स्थिरा सदा॥

अर्थात् शिव पार्वती से कहते हैं कि हे देवी, कोई मनुष्य बड़ा तपस्वी, विद्वान्, कुलीन, सब कुछ हो, किंतु यदि गुरु और गुरु भक्ति से रहित हो, तो उसका विद्वान् आदि होना निरर्थक है। अतः उसकी विद्या,

उसकी कुलीनता, उसका तप लोकरंजन अवश्य कर सकता है, किंतु फल उसका कुछ नहीं। गुरु भक्ति रूपी अग्नि से जिसने अपने पाप रूपी काष्ठों को भस्म कर दिया है, वह चांडाल भी संसार में आदरणीय है, परंतु विद्वान् होते हुए भी गुरु देवता को न मानने वाला नास्तिक मनुष्य आदरणीय नहीं होता।

वाल्मीकि रामायण में कहा गया है–

स्वर्गो धनं वा धान्यं वा विद्या पुत्राः सुखानि च।
गुरुवृत्त्यनुरोधेन न किंचिदपि दुर्लभम् ॥ *–अयोध्याकांड 30/36*

अर्थात् गुरुजनों की सेवा करने से स्वर्ग, धन-धान्य, विद्या, पुत्र, सुख आदि कुछ भी दुर्लभ नहीं।

महाभारत में लिखा है–

न विना गुरुसम्बन्ध ज्ञानस्याधिगमः स्मृतः। *–महाभारत/वनपर्व 326/22*

अर्थात् बिना गुरु की सेवा में गए ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती।

श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है–

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥ *–श्रीमद्भगवद्गीता 17/14*

अर्थात् देवता, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानीजनों का पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा–ये शरीर संबंधी तप कहलाते हैं। जो मनुष्य ज्ञान दे और ब्रह्म की ओर ले जाए उसे गुरु कहते हैं। गुरु उसी को जानिए जो ज्ञान भी समझा सके और उसका प्रमाण भी दे सके।

श्रीराम जी को पाकर वसिष्ठ, अष्टावक्र को पाकर जनक जी, गोविंदपादाचार्य को पाकर शंकराचार्य जी, गुरु सांदीपनि जी को पाकर श्रीकृष्ण-बलराम ने अपने को बड़भागी माना। सच ही गुरु की महिमा अपरंपार है। गुरु की महत्ता को बनाए रखने के लिए ही गुरुपूर्णिमा का विशेष पर्व मनाया जाता है।

23. गुरु दीक्षा का विशेष महत्त्व क्यों?

गुरु की कृपा और शिष्य की श्रद्धा रूपी दो पवित्र धाराओं का संगम ही दीक्षा है। यानी गुरु के आत्मदान और शिष्य के आत्मसमर्पण के मेल से ही दीक्षा संपन्न होती है।

दीक्षा के संबंध में **गुरुगीता** में लिखा है–

गुरुमंत्रो मुखे यस्य तस्य सिद्धयन्ति नान्यथा।
दीक्षया सर्वकर्माणि सिद्धयन्ति गुरुपुत्रके ॥ *–गुरुगीता 2/131*

अर्थात् जिसके मुख में गुरुमंत्र है, उसके सब कर्म सिद्ध होते हैं, दूसरे के नहीं। दीक्षा के कारण शिष्य के सर्व कार्य सिद्ध हो जाते हैं।

गुरु दीक्षा एक सूक्ष्म आध्यात्मिक प्रयोग है। दीक्षा में शिष्य रूपी सामान्य पौधे पर गुरु रूपी श्रेष्ठ पौधे की कलम (टहनी) प्राणानुदान के रूप में स्थापित कर शिष्य को अनुपम लाभ पहुंचाया जाता है। कलम की रक्षा करके उसे विकसित करने के लिए शिष्य को पुरुषार्थ करना पड़ता है। गुरु की सेवा के लिए शिष्य को अपने समय, प्रभाव, ज्ञान, पुरुषार्थ एवं धन का अंश उनके सान्निध्य में रहने हेतु लगाना आवश्यक होता है। शिष्य अपनी श्रद्धा और संकल्प के सहारे गुरु के समर्थ व्यक्तित्व के साथ जुड़ता है।

उधर गुरु को दीक्षा में अपना तप, पुण्य और प्राण यानी शक्तियां और सिद्धियां शिष्य को हस्तांतरित करनी पड़ती हैं और वह सत्प्रयोजनों के लिए शिष्य से श्रद्धा, विश्वास, समयदान, अंशदान की अपेक्षा करता है। इस प्रकार दीक्षा का अंतरंग संबंध गुरु और शिष्य के मध्य होता है। एक पक्ष शिथिल पड़ेगा, तो दूसरे का श्रम व्यर्थ चला जाएगा, यानी दीक्षा लेने वाले की भावना और समर्पण से ही फलीभूत होती है अन्यथा ज्यादातर दीक्षाएं असफल हो जाती हैं।

दीक्षा मंत्र बोलकर दी जाती है, तो उसे **मांत्रिक दीक्षा** कहते हैं। निगाहों से दी जाने वाली दीक्षा **शांभवी** और शिष्य के किसी केंद्र का स्पर्श करके उसकी कुंडलिनी शक्ति जगाई जाती है, तो उसे **स्पर्श-दीक्षा** कहते हैं। गुरु मंत्र दीक्षा के द्वारा शिष्य की सुषुप्त शक्ति को जगाते हैं, चैतन्य शक्ति देते हैं। सद्गुरु से प्राप्त सबीज मंत्र को श्रद्धा, विश्वास पूर्वक जपने से कम समय में ही शिष्य को सिद्धि प्राप्त होती है।

ध्रुव नारदजी के शिष्य थे। उन्होंने नारदजी से 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय नमः' मंत्र पाकर उसका जप किया, तो उन्हें प्रभु के दर्शन हो गए। इसी प्रकार नारद जी ने रत्नाकर डाकू को 'मरा-मरा' मंत्र दिया, जिससे उसका उद्धार हो गया।

सभी शिष्यों, साधकों के लिए दीक्षा अनिवार्य होती है, क्योंकि दीक्षा साधना का ही नहीं, जीवन का आवश्यक अंग है। जब तक दीक्षा नहीं होती, तब तक सिद्धि का मार्ग अवरुद्ध ही बना रहेगा। शास्त्रों में दीक्षा के बिना जीवन पशु-तुल्य कहा गया है।

24. गुरु दक्षिणा की परंपरा क्यों?

गुरुदीक्षा का प्रतिदान गुरु दक्षिणा कहलाता है। शिष्य गुरु को दक्षिणा देकर अपनी पात्रता, प्रामाणिकता सिद्ध करता है। एक अर्थ में दक्षिणा आहार को पचाने की क्रिया है, और एक अन्य अर्थ में जड़ों का रस पौधे तक पहुंचाकर उसे विकसित एवं फलित करने वाला उपक्रम भी है। आध्यात्मिक दृष्टि से शिक्षा के सार्थक उपयोग के लिए गुरु दक्षिणा जरूरी है। गुरु दक्षिणा दिए बिना शिक्षा पूरी नहीं मानी जाती, इसलिए राम और कृष्ण जैसे अवतारी पुरुषों ने भी गुरु दक्षिणा देकर शिष्य धर्म को निभाया।

भारतीय संस्कृति में गुरु दक्षिणा के बड़े मार्मिक उदाहरण भरे हुए हैं–एक बार गुरु द्रोणाचार्य के पास भील बालक एकलव्य धनुर्विद्या सीखने के लिए पहुंचा, तो उन्होंने शिक्षा देने से मना कर दिया। एकलव्य ने गुरु द्रोणाचार्य की मिट्टी की मूर्ति बनाकर उसी से प्रेरणा पाई और नियमित अभ्यास से धनुर्विद्या में निपुणता हासिल की। एक बार गुरु द्रोणाचार्य, पांडवों के साथ वन विहार को निकले, उनके साथ एक कुत्ता भी चल दिया, जो उनसे काफी आगे निकल गया। एकलव्य का विचित्र भेष देखकर कुत्ता भौंकने लगा। साधना में विघ्न पड़ता देख एकलव्य ने कुत्ते का मुंह बंद करने के लिए ऐसे बाण चलाए, जो उसे चोट न पहुंचाएं, किंतु उसका मुंह बंद हो जाए। बाणों से बंद मुंह वाला यह कुत्ता द्रोणाचार्य और पांडवों के पास पहुंचा, तो वे आश्चर्यचकित होकर उस कुशल धनुर्धर एकलव्य के पास पहुंचे।

द्रोणाचार्य ने पूछा–

'बेटा! तुमने यह विद्या कहां से सीखी?'

'आप ही की कृपा से सीखा हूं गुरुदेव।' एकलव्य ने कहा।

गुरु द्रोणाचार्य के लिए धर्मसंकट खड़ा हो गया, क्योंकि वे वचन दे चुके थे कि अर्जुन की बराबरी का धनुर्धर दूसरा कोई न होगा। यह भील बालक तो आगे निकल गया। काफी विचार कर द्रोणाचार्य ने एकलव्य से गुरु दक्षिणा की मांग की।

एकलव्य ने गुरु दक्षिणा में गुरुदेव की इच्छानुसार अपने दाएं हाथ का अंगूठा काटकर उनके चरणों में सौंप दिया।

इस पर द्रोणाचार्य ने कहा–'बेटा! मेरे वचनानुसार भले ही अर्जुन धनुर्विद्या में सबसे आगे रहे, लेकिन जब तक सूर्य, चांद, सितारे रहेंगे, तब तक लोग तेरी गुरुनिष्ठा को, तेरी गुरु भक्ति को याद करेंगे और तेरा यशोगान होता रहेगा। इसमें कोई संदेह नहीं कि एकलव्य ने अद्भुत गुरु दक्षिणा देकर साहस, त्याग और समर्पण का जो परिचय दिया, वह इतिहास में अमर रहेगा।

25. यज्ञोपवीत (उपनयन) संस्कार क्यों?

मनु महाराज का वचन है–

मातुरग्रेऽधिजननं द्वितीयं मौञ्जिबन्धनं। –*मनुस्मति 2/169*

अर्थात् पहला जन्म माता के पेट से होता है और दूसरा यज्ञोपवीत धारण से होता है।

माता के गर्भ से जो जन्म होता है, उस पर जन्म-जन्मांतरों के संस्कार हावी रहते हैं। यज्ञोपवीत संस्कार द्वारा बुरे संस्कारों का शमन करके अच्छे संस्कारों को स्थायी बनाया जाता है। इसी को द्विज अर्थात् दूसरा जन्म कहते हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य यह तीनों इसीलिए द्विजाति कहे जाते हैं। मनु महाराज के अनुसार यज्ञोपवीत संस्कार हुए बिना द्विज किसी कर्म का अधिकारी नहीं होता–

न ह्यस्मिन्युज्यते कर्म किंचदामौञ्जीबन्धनात्। –*मनुस्मृति 2/171*

यज्ञोपवीत संस्कार होने के बाद ही बालक को धार्मिक कार्य करने का अधिकार मिलता है। व्यक्ति को सर्वविध यज्ञ करने का अधिकार प्राप्त हो जाना ही यज्ञोपवीत है। यज्ञोपवीत पहनने का अर्थ है–नैतिकता एवं मानवता के पुण्य कर्तव्यों को अपने कंधों पर उत्तरदायित्व के रूप में अनुभव करते रहना और परमात्मा को प्राप्त करना।

शास्त्रों में यज्ञोपवीत के लाभों का विस्तार से वर्णन मिलता है।

पद्मपुराण कौशल कांड में लिखा है कि करोड़ों जन्म के ज्ञान-अज्ञान में किए हुए पाप यज्ञोपवीत धारण करने से नष्ट हो जाते हैं।

पारस्करगृह्यसूत्र 2/2/7 में लिखा है, जिस प्रकार इंद्र को बृहस्पति ने यज्ञोपवीत दिया था, उसी तरह आयु, बल, बुद्धि और संपत्ति की वृद्धि के लिए यज्ञोपवीत पहनना चाहिए।

यज्ञोपवीत धारण करने से शुद्ध चरित्र और कठिन कर्तव्य पालन की प्रेरणा मिलती है। इसके धारण करने से जीव-जन भी परम पद को पा लेते हैं। यानी मनुष्यत्व से देवत्व प्राप्त करने हेतु यज्ञोपवीत सशक्त साधन है। **ब्रह्मोपनिषद्** में लिखा है कि *यज्ञोपवीत परम पवित्र है, प्रजापति ईश्वर ने इसे सबके लिए सहज बनाया है। यह आयुवर्धक, स्फूर्तिदायक, बंधनों से छुड़ाने वाला एवं पवित्रता, बल और तेज देता है।*

जो द्विजाति अपने बालकों का यज्ञोपवीत संस्कार नहीं करते, वे अपने पुरोहित के साथ निश्चित ही नरक में जाते हैं, ऐसा **नारद संहिता** में लिखा है। इसमें यह भी लिखा है कि यज्ञोपवीत रहित द्विज के हाथ का दिया हुआ चरणामृत मदिरा के तुल्य और तुलसीपत्र कर्पट के समान है। उसका दिया हुआ पिंडदान उसके पिता के मुख में काक विष्ठा के समान है।

वेदांत रामायण में लिखा है कि *जो द्विजाति यज्ञोपवीत संस्कार किए बिना मंद बुद्धि से मंत्र जपते और पूजा-पाठादि करते हैं, उनका जप निष्फल है और वह फल हानिप्रद होता है।*

26. यज्ञोपवीत में तीन लड़, नौ तार और 96 चौवे ही क्यों?

यज्ञोपवीत के तीन लड़, सृष्टि के समस्त पहलुओं में व्याप्त त्रिविध धर्मों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। **तैत्तिरीय संहिता** 6, 3, 10, 5 के अनुसार *तीन लड़ों से तीन ऋणों का बोध होता है।* ब्रह्मचर्य से ऋषिऋण, यज्ञ से देवऋण और प्रजापालन से पितृऋण चुकाया जाता है।

ब्रह्मा, विष्णु और महेश यज्ञोपवीतधारी द्विज की उपासना से प्रसन्न होते हैं। त्रिगुणात्मक तीन लड़ बल, वीर्य और ओज को बढ़ाने वाले हैं, वेदत्रयी, ऋक, यजु, साम की रक्षा करती हैं। सत, रज व तम तीन गुणों की सगुणात्मक वृद्धि करते हैं। यह तीनों लोकों के यश की प्रतीक हैं। माता, पिता और आचार्य के प्रति समर्पण, कर्तव्यपालन, कर्तव्यनिष्ठा की बोधक हैं।

सामवेदीय छान्दोग्यसूत्र में लिखा है–ब्रह्माजी ने तीन वेदों से तीन लड़ों का सूत्र बनाया। विष्णु ने ज्ञान, कर्म, उपासना इन तीनों कांडों से तिगुना किया और शिवजी ने गायत्री से अभिमंत्रित कर उसमें ब्रह्म गांठ लगा दी। इस प्रकार यज्ञोपवीत नौ तार और ग्रंथियां समेत बनकर तैयार हुआ। यज्ञोपवीत के नौ सूत्रों में नौ देवता वास करते हैं–*1. ओंकार–ब्रह्म, 2. अग्नि–तेज, 3. अनंत–धैर्य, 4. चंद्र–शीतल प्रकाश, 5. पितृगण-स्नेह, 6. प्रजापति–प्रजापालन, 7. वायु-स्वच्छता, 8. सूर्य–प्रताप, 9. सब देवता–समदर्शन।* इन नौ देवताओं के, नौ गुणों को धारण करना भी नौ तार का अभिप्राय है। यज्ञोपवीत धारण करने वाले को देवताओं के नौ गुण–ब्रह्म, परायणंता, तेजस्विता, धैर्य, नम्रता, दया, परोपकार, स्वच्छता और शक्ति संपन्नता को निरंतर अपनाने के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए।

यज्ञोपवीत के नौ धागे नौ सद्गुणों के प्रतीक भी माने जाते हैं। ये हृदय में प्रेम, वाणी में माधुर्य, व्यवहार में सरलता, नारी मात्र के प्रति पवित्र भावना, कर्म में कला और सौंदर्य की अभिव्यक्ति, सबके प्रति उदारता और सेवा भावना, शिष्टाचार और अनुशासन, स्वाध्याय एवं सत्संग, स्वच्छता, व्यवस्था और निरालस्यता माने गए हैं, जिन्हें अपनाने का निरंतर प्रयत्न करना चाहिए।

वेद और गायत्री के अभिमत को स्वीकार करना और यज्ञोपवीत पहनकर ही गायत्री मंत्र का जाप करना 96 चौवे (चप्पे) लगाने का अभिप्राय है, क्योंकि गायत्री मंत्र में 24 अक्षर हैं और वेद 4 हैं। इस प्रकार चारों वेदों के गायत्री मंत्रों के कुल गुणनफल 96 अक्षर आते हैं।

सामवेदी छान्दोग्य सूत्र के मतानुसार तिथि 15, वार 7, नक्षत्र 27, तत्त्व 25, वेद 4, गुण 3, काल 3, मास 12 इन सबका जोड़ 96 होता है। ब्रह्म पुरुष के शरीर में सूत्रात्मा प्राण का 96 वस्तु कंधे से कटि पर्यंत यज्ञोपवीत पड़ा हुआ है, ऐसा भाव यज्ञोपवीत धारण करने वाले को मन में रखना चाहिए।

27. शौच के समय जनेऊ कान पर लपेटना जरूरी क्यों?

आम बोलचाल में यज्ञोपवीत को ही जनेऊ कहते हैं। मल-मूत्र त्याग के समय जनेऊ को कान पर लपेट लिया जाता है। कारण यह है कि हमारे शास्त्रों में इस विषय में विस्तृत ब्यौरा मिलता है। **शांख्यायन** के मतानुसार ब्राह्मण के दाहिने कान में आदित्य, वसु, रुद्र, वायु और अग्नि देवता का निवास होता है। **पाराशर** ने भी गंगा आदि सरिताओं और तीर्थगणों का दाहिने कान में निवास करने का समर्थन किया है।
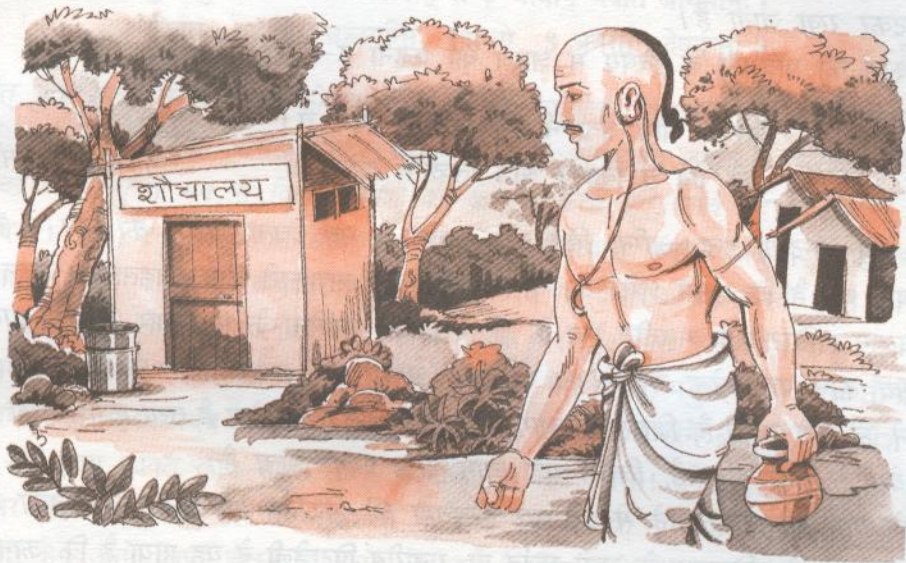
कूर्मपुराण के मतानुसार–

निधाय दक्षिणे कर्णे ब्रह्मसूत्रमुदङ्मुखः।
अह्नि कुर्याच्छकृन्मूत्रं रात्रौ चेद् दक्षिणामुखः॥ *–कूर्मपुराण/13/34*

अर्थात् दाहिने कान पर जनेऊ चढ़ाकर दिन में उत्तर की ओर मुख करके तथा रात्रि में दक्षिणाभिमुख होकर मल-मूत्र त्याग करना चाहिए।

पहली बात तो यह है कि मल-मूत्र त्याग में अशुद्धता, अपवित्रता से बचाने के लिए जनेऊ को कानों पर लपेटने की परंपरा बनाई गई है। इससे जनेऊ के कमर से ऊपर आ जाने के कारण अपवित्र होने की संभावना नहीं रहती। दूसरे, हाथ-पांव के अपवित्र होने का संकेत मिल जाता है, ताकि व्यक्ति उन्हें साफ कर ले।

अह्निककारिका में लिखा है–

मूत्रे तु दक्षिणे कर्णे, पुरीषे वामकर्णके।
उपवीतं सदाधार्य मैथुनेतूपवीतिवत्॥

अर्थात् मूत्र त्यागने के समय दाहिने कान पर जनेऊ चढ़ा लें और शौच के समय बाएं कान पर चढ़ाएं तथा मैथुन के समय जैसा सदा पहनते हैं, वैसा ही पहनें।

मनु महाराज ने शौच के लिए जाते समय जनेऊ को कान पर रखने के संबंध में कहा है–

ऊर्ध्व नाभेर्मेध्यतरः पुरुषः परिकीर्तितः।
तस्मान्मेध्यमं त्वस्य मुखमुक्तं स्वयम्भुवा ॥ *–मनुस्मृति 1/92*

अर्थात् पुरुष नाभि से ऊपर पवित्र है, नाभि के नीचे अपवित्र है। नाभि का निचला भाग मल-मूत्र धारक होने के कारण शौच के समय अपवित्र होता है। इसलिए उस समय पवित्र जनेऊ को सिर के भाग कान पर लपेटकर रखा जाता है।

दाहिने कान की पवित्रता के विषय में शास्त्र का कहना है–

मरुतः सोम इन्द्राग्नी मित्रावरुणौ तथैव च।
एते सर्वे च विप्रस्य श्रोत्रे तिष्ठन्ति दक्षिणे ॥ *–गोभिलगृह्य संग्रह 2/90*

अर्थात् वायु, चन्द्रमा, इन्द्र, अग्नि, मित्र तथा वरुण–ये सब देवता ब्राह्मण के कान में रहते हैं।

दूसरी बात यह है कि इससे शरीर के विभिन्न अंगों पर लाभकारी प्रभाव पड़ता है। लंदन के क्वीन एलिजाबेथ चिल्ड्रन हॉस्पिटल के भारतीय मूल के **डॉ. एस.आर. सक्सेना** के मतानुसार *हिन्दुओं द्वारा मल-मूत्र त्याग के समय कान पर जनेऊ लपेटने का वैज्ञानिक आधार है। जनेऊ कान पर चढ़ाने से आंतों की सिकुड़ने-फैलने की गति बढ़ती है, जिससे मलत्याग शीघ्र होकर कब्ज दूर होता है तथा मूत्राशय की मांसपेशियों का संकोच वेग के साथ होता है, जिससे मूत्र त्याग ठीक प्रकार होता है।*

कान के पास की नसें दबाने से बढ़े हुए रक्तचाप को नियंत्रित भी किया जा सकता है।

इटली के बाटी विश्वविद्यालय के न्यूरो सर्जन **प्रो. एनारीब पिटाजेली** ने यह पाया है कि *कान के मूल के चारों तरफ दबाव डालने से हृदय मजबूत होता है।* इस प्रकार हृदय रोगों से बचाने में भी जनेऊ लाभ पहुंचाता है।

आयुर्वेद में ऐसा उल्लेख मिलता है कि *दाहिने कान के पास से होकर गुजरने वाली विशेष नाड़ी लोहितिका मल-मूत्र के द्वार तक पहुंचती है, जिस पर दबाव पड़ने से इनका कार्य आसान हो जाता है।* मूत्र सरलता से उतरता है और शौच खुलकर होती है। उल्लेखनीय है कि *दाहिने कान की नाड़ी से मूत्राशय का और बाएं कान की नाड़ी से गुदा का संबंध होता है।* हर बार मूत्र त्याग करते समय दाहिने कान को जनेऊ से लपेटने से बहुमूत्र, मधुमेह और प्रमेह आदि रोगों में भी लाभ होता है। ठीक इसी तरह बाएं कान को जनेऊ से लपेट कर शौच जाते रहने से भगंदर, कांच, बवासीर आदि गुदा के रोग होने की संभावना कम होती है। चूंकि मल त्याग के समय मूत्र विसर्जन भी होता है, इसलिए शौच के लिए जाने से पूर्व नियमानुसार दाएं और बाएं दोनों कानों पर जनेऊ चढ़ाना चाहिए।

28. समावर्तन (उपदेश) संस्कार क्यों?

ब्रह्मचर्य व्रत के समापन व विद्यार्थी जीवन के अंत के सूचक के रूप में समावर्तन (उपदेश) संस्कार मनाया जाता है, जो साधारणतया 25 वर्ष की आयु में होता है। इस संस्कार के माध्यम से गुरु शिष्य को इंद्रिय निग्रह, दान, दया और मानव कल्याण की शिक्षा देता है। ऋग्वेद में लिखा है–

युवा युवासाः परिवीत आगात् स उ श्रीयान् भवति जायमानः।
धीरासः कवय उन्नयन्ति स्वाध्यो 3 मनसा देवयन्तः॥ –*ऋग्वेद 3/8/4*

अर्थात् युवा पुरुष उत्तम वस्त्रों को धारण किए हुए, उपवीत (ब्रह्मचारी) सब विद्या से प्रकाशित जब गृहाश्रम में आता है, तब वह प्रसिद्ध होकर श्रेय मंगलकारी शोभायुक्त होता है। उसको धीर, बुद्धिमान्, विद्वान्, अच्छे ध्यान युक्त मन से विद्या प्रकाश की कामना करते हुए, ऊंचे पद पर बैठाते हैं।

अथर्ववेद 11 (5) 7-26 में लिखे मंत्र का अर्थ है कि–ब्रह्मचारी समस्त धातुओं को धारण कर समुद्र के समान ज्ञान में गंभीर सलिल जीवनाधार प्रभु के आनन्द रस में विभोर होकर तपस्वी होता है। वह स्नातक होकर नम्र, शक्तिमान् और पिंगल दीप्तिमान् बनकर पृथ्वी पर सुशोभित होता है।

इस समावर्तन संस्कार के संबंध में कथा प्रचलित है–एक बार देवता, मनुष्य और असुर तीनों ही ब्रह्माजी के पास ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्याध्ययन करने लगे। कुछ काल बीत जाने पर उन्होंने ब्रह्माजी से उपदेश (समावर्तन) ग्रहण करने की इच्छा व्यक्त की। सबसे पहले देवताओं ने कहा–'प्रभो! हमें उपदेश दीजिए।' प्रजापति ने एक ही अक्षर कह दिया 'द'। इस पर देवताओं ने कहा–'हम समझ गए। हमारे स्वर्गादि लोकों में भोगों की ही भरमार है। उनमें लिप्त होकर हम अंत में स्वर्ग से गिर जाते हैं, अतएव आप हमें *'द' से दमन* अर्थात् इंद्रिय संयम का उपदेश कर रहे हैं। तब प्रजापति ब्रह्मा ने कहा–'ठीक है, तुम समझ गए।'

फिर मनुष्यों को भी 'द' अक्षर दिया गया, तो उन्होंने कहा–हमें *द से दान* करने का उपदेश दिया है, क्योंकि हम लोग जीवन भर संग्रह करने की ही लिप्सा में लगे रहते हैं। अतएव हमारा दान में ही कल्याण है। प्रजापति इस जवाब से संतुष्ट हुए।

असुरों को भी ब्रह्मा ने उपदेश में 'द' अक्षर ही दिया। असुरों ने सोचा–हमारा स्वभाव हिंसक है और क्रोध व हिंसा हमारे दैनिक जीवन में व्याप्त है, तो निश्चय ही हमारे कल्याण के लिए दया ही एकमात्र मार्ग होगा। दया से ही हम इन दुष्कर्मों को छोड़कर पाप से मुक्त हो सकते हैं। इस प्रकार हमें *द से दया* अर्थात् प्राणि मात्र पर दया करने का उपदेश दिया है। ब्रह्मा ने कहा–'ठीक है, तुम समझ गए।'

निश्चय ही दमन, दान और दया जैसे उपदेश को प्रत्येक मनुष्य को सीखकर अपनाना उन्नति का मार्ग होगा।

29. विवाह एक पवित्र संस्कार क्यों?

श्रुति का वचन है–दो शरीर, दो मन और बुद्धि, दो हृदय, दो प्राण व दो आत्माओं का समन्वय करके अगाध प्रेम के व्रत को पालन करने वाले दंपती उमा-महेश्वर के प्रेमादर्श को धारण करते हैं, यही विवाह का स्वरूप है।

हिंदू संस्कृति में विवाह कभी न टूटने वाला एक परम पवित्र धार्मिक संस्कार है, यज्ञ है। विवाह में दो प्राणी (वर-वधू) अपने अलग अस्तित्वों को समाप्त कर एक सम्मिलित इकाई का निर्माण करते हैं और एक-दूसरे को अपनी योग्यताओं एवं भावनाओं का लाभ पहुंचाते हुए गाड़ी में लगे दो पहियों की तरह प्रगति पथ पर बढ़ते हैं। यानी विवाह दो आत्माओं का पवित्र बंधन है, जिसका उद्देश्य मात्र इंद्रियसुख भोग नहीं, बल्कि पुत्रोत्पादन, संतानोत्पादन कर एक परिवार की नींव डालना है।

ऋषि श्वेतकेतु का एक संदर्भ **वैदिक साहित्य** में आया है कि उन्होंने मर्यादा की रक्षा के लिए विवाह प्रणाली की स्थापना की और तभी से कुटुंब व्यवस्था का श्री गणेश हुआ।

आज-कल बहुप्रचलित और वेदमंत्रों द्वारा संपन्न होने वाले विवाहों को ब्राह्म विवाह कहते हैं। इस विवाह की धार्मिक महत्ता मनु ने इस प्रकार लिखी है–

दश पूर्वान् परान पंश्यान् आत्मनं चैक विशकम्।
ब्रह्मीपुत्रः सुकृतकृत मोचये देवसः पितृन॥ *–मनुस्मृति 3/37*

अर्थात् ब्राह्म विवाह से उत्पन्न पुत्र अपने कुल की 21 पीढ़ियों को पाप मुक्त करता है–10 अपने आगे के, 10 अपने से पीछे और एक स्वयं अपनी।

भविष्यपुराण में लिखा है कि जो लड़की को अलंकृत कर ब्राह्मविधि से विवाह करते हैं, वे निश्चय ही अपने सात पूर्वजों और सात वंशजों को नरक भोग से बचा लेते हैं।

अश्वालायन ने तो यहां तक लिखा है कि इस विवाह विधि से उत्पन्न पुत्र बारह पूर्वजों और बारह अवरणों को पवित्र करता है–

तस्यां जातो द्वादशा वरान् द्वादश पूर्वान् पुनाति।

भारतीय संस्कृति में अनेक प्रकार के विवाह प्रचलित रहे हैं। **मनुस्मृति 3/21** के अनुसार विवाह–ब्राह्म, देव, आर्ष, प्राजापत्य, असुर, गंधर्व, राक्षस और पैशाच 8 प्रकार के होते हैं। उनमें से प्रथम 4 श्रेष्ठ और अंतिम 4 क्रमशः निकृष्ट माने जाते हैं।

विवाह के लाभों में यौनतृप्ति, वंशवृद्धि, मैत्रीलाभ, साहचर्य सुख, मानसिक रूप से परिपक्वता, दीर्घायु, शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य की प्राप्ति प्रमुख हैं। इसके अलावा समस्याओं से जूझने की शक्ति और प्रगाढ़ प्रेम संबंध से परिवार में सुख-शांति मिलती है। इस प्रकार देखें, तो ज्ञात होगा कि विवाह संस्कार सारे समाज के एक सुव्यवस्थित तंत्र का मेरुदंड है।

30. विवाह में गठबंधन का विधान क्यों?

गठबंधन विवाह संस्कार का प्रतीकात्मक स्वरूप है। पाणिग्रहण के बाद वर के कंधे पर डाले सफेद दुपट्टे में वधू की साड़ी के एक कोने की गांठ बांध दी जाती है, इसे आम बोलचाल की भाषा में गठबंधन बोलते हैं। इस बंधन का प्रतीक अर्थ है–दोनों के शरीर और मन का एक संयुक्त इकाई के रूप में एक नई सत्ता की शुरुआत। अब दोनों एक-दूसरे के साथ पूरी तरह से बंधे हुए हैं और उनसे यह आशा की जाती है कि वे जिन लक्ष्यों के साथ आपस में बंधे हैं, उन्हें आजीवन निरंतर याद रखेंगे। जीवन लक्ष्य की यात्रा में वे एक-दूसरे के पूरक बनकर चलेंगे। इसीलिए गठबंधन को अटूट अर्थात् कभी न टूटने वाला माना गया है।
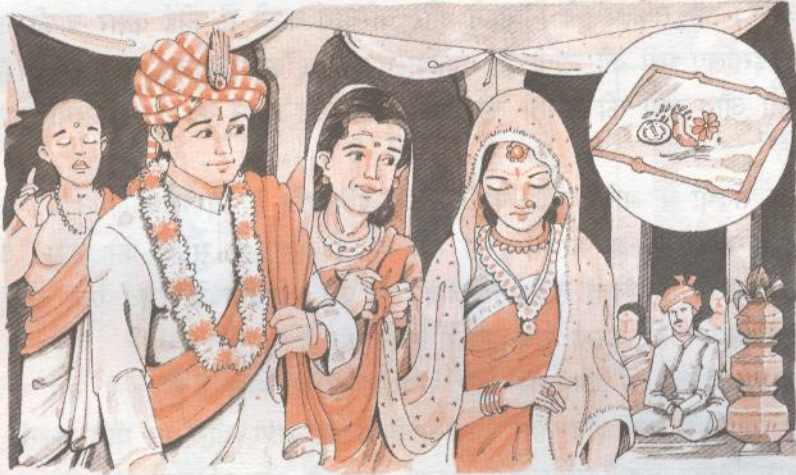
गठबंधन करते समय वधू के पल्ले और वर के दुपट्टे के बीच सिक्का (पैसा), पुष्प, हलदी, दूर्वा और अक्षत (चावल) ये पांच चीजें भी बांधते हैं, जिनका अपना-अपना महत्त्व है। विवाह पद्धति के अनुसार यह महत्त्व इस प्रकार है–

सिक्का (पैसा)–धन पर किसी एक का पूर्ण अधिकार नहीं होगा, बल्कि समान अधिकार रहेगा। खर्च करने में दोनों की सहमति रहेगी।

पुष्प–प्रतीक है, प्रसन्नता और शुभकामनाओं का। सदैव हंसते-खिलखिलाते रहें। एक-दूसरे को देखकर प्रसन्न हों। एक-दूसरे की प्रशंसा करें। अपमान न करें।

हलदी–आरोग्य और गुरु का प्रतीक है। एक-दूसरे के शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य को सुविकसित रखने के लिए प्रयत्नशील रहें। मन में कभी लघुता व्याप्त न होने दें।

दूर्वा–कभी प्रेम भावना न मुरझाने का प्रतीक है। उल्लेखनीय है कि दूर्वा का जीवन तत्त्व कभी नष्ट नहीं होता। सूखी दिखने पर भी यह पानी में डालने पर हरी हो जाती है। दोनों के मन में इसी प्रकार से एक-दूसरे के लिए अटूट प्रेम और आत्मीयता बनी रहे। चंद्र-चकोर की भांति वे एक-दूसरे पर निछावर होते रहें।

अक्षत (चावल)–अन्नपूर्णा का प्रतीक है। जो अन्न कमाएं, उसे अकेले नहीं, बल्कि मिल-जुलकर खाएं। परिवार, समाज के प्रति सेवा एवं उत्तरदायित्व का लक्ष्य भी ध्यान में रखें। इसी की प्रेरणा के लिए अक्षत रखे जाते हैं।

31. विवाह में सात फेरे अग्नि के समक्ष ही क्यों?

यज्ञाग्नि के चारों ओर फिरना ही परिक्रमाएं/फेरे के नाम से जानी जाती हैं। इसे भांवर फिरना भी कहते हैं। यों तो शास्त्रों के अनुसार यज्ञाग्नि की चार परिक्रमाएं करने का विधान है, लेकिन लोकाचार से सात परिक्रमाएं करने की प्रथा चल पड़ी है। ये सात फेरे विवाह संस्कार के धार्मिक आधार होते हैं। इन्हें अटूट विश्वास का प्रतीक माना जाता है।

विवाह के अवसर पर यज्ञाग्नि की परिक्रमा करते हुए वर-वधू मन में यह धारणा करते हैं कि अग्निदेव के सामने, सबकी उपस्थिति में हम सात परिक्रमा करते हुए यह शपथ लेते हैं कि हम दोनों एक महान धर्म बंधन में बंधते हैं। इस संकल्प को निबाहने और चरितार्थ करने में कोई कसर बाकी नहीं रखेंगे। अग्नि के सामने यह रस्म इसलिए पूरी की जाती है, क्योंकि एक ओर अग्नि जीवन का आधार है, तो दूसरी ओर जीवन में गतिशीलता और कार्य की क्षमता तथा शरीर को पुष्ट करने की क्षमता सभी कुछ अग्नि के द्वारा ही आती है।

आध्यात्मिक संदर्भों में अग्नि पृथ्वी पर सूर्य का प्रतिनिधि है और सूर्य जगत की आत्मा तथा विष्णु का रूप है। अतः अग्नि के समक्ष फेरे लेने का अर्थ है, परमात्मा के समक्ष फेरे लेना। अग्नि हमारे सभी पापों को जलाकर नष्ट भी कर देती है, अतः जीवन में पूरी पवित्रता के साथ एक अति महत्त्वपूर्ण कार्य का आरंभ अग्नि के सामने ही करना सब प्रकार से उचित है।

वर-वधू परिक्रमा बाएं से दाएं की ओर चलकर प्रारंभ करते हैं। पहली चार परिक्रमाओं में वधू आगे रहती है और वर पीछे, तथा शेष तीन परिक्रमाओं में वर आगे और वधू पीछे चलती है। हर परिक्रमा के दौरान पंडित द्वारा विवाह संबंधी मंत्रोच्चारण किया जाता है और परिक्रमा पूर्ण होने पर वर-वधू गायत्री मंत्रानुसार यज्ञ में हर बार एक-एक आहुति डालते जाते हैं।

फेरों में अग्नि की परिक्रमा क्यों?

उल्लेखनीय है कि सदा से नर (वर) से पहला स्थान नारी (वधू) को दिया जाता है। इसीलिए नारी को चार और पुरुष को तीन परिक्रमा करने का अवसर प्रदान किया जाता है। लक्ष्मीनारायण, सीताराम, राधेश्याम, उमाशंकर आदि युग्म नामों में पहले नारी का नाम आता है, पीछे नर का। नारी को आगे करने के पीछे मान्यता यह है कि घर-परिवार के कार्यों में उसका नेतृत्व रहेगा, उसके परामर्श को महत्त्व दिया जाएगा, जिसका अनुसरण वर करेगा, क्योंकि उन कामों का नारी को अनुभव अधिक होता है। व्यावसायिक, बाहरी कार्य-क्षेत्रों में नर का अनुभव अधिक होता है, इसलिए वह नेतृत्व करता है और नारी उसका अनुसरण करती है। अतः दोनों को घर और बाहर के कार्यों में परस्पर परामर्श और सामंजस्य से निर्णय लेना चाहिए और उचित रीति से कार्य करने चाहिए।

32. भांवरों के बाद सप्तपदी की रस्म क्यों?

सात परिक्रमाएं पूर्ण कर लेने के बाद सप्तपदी की रस्म अदा की जाती है। इसके लिए वर-वधू साथ-साथ कदम से कदम मिलाकर पहले से बना दी गई चावल की सात ढेरियों पर पैर लगाते हुए एक-एक कदम आगे बढ़ते हैं। रुकते हैं, फिर आगे बढ़ जाते हैं। इस प्रकार सात कदम साथ-साथ बढ़ाते समय पंडित प्रत्येक बार मंत्र उच्चारण करते जाते हैं। विवाह संस्कार पद्धति के अनुसार इसमें वचन और प्रतिज्ञाएं स्मरण कराई जाती हैं कि पति-पत्नी योजनाबद्ध प्रगतिशील जीवन के लिए देव-साक्षी में संकल्पित हो रहे हैं, जिसका लाभ वर-वधू को जीवन भर मिलता रहे। प्रत्येक कदम के साथ की भावनाएं इस प्रकार हैं–
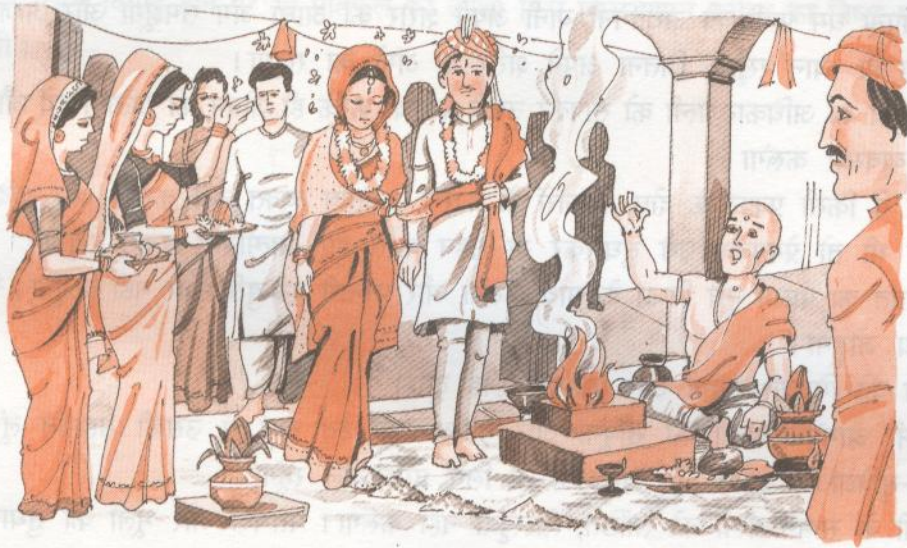
• **पहला कदम** अन्न वृद्धि के लिए उठाया जाता है। आहार का स्वास्थ्य से घनिष्ठ संबंध होता है, इसलिए उसकी सात्त्विकता का पूरा ध्यान रखें • **दूसरा कदम** शारीरिक और मानसिक बल वृद्धि के लिए उठाया जाता है। शारीरिक परिश्रम और व्यायाम तथा अध्ययन और विचार विमर्श से शारीरिक और मानसिक बल बढ़ता है • **तीसरा कदम** धन वृद्धि के लिए उठाया जाता है। घर की अर्थव्यवस्था को उचित ढंग से संभालने के लिए दोनों को प्रयत्न कर धन की वृद्धि करनी चाहिए • **चौथा कदम** सुख वृद्धि के लिए उठाया जाता है। संतोषी सदा सुखी का सिद्धांत अपनाते हुए हास-परिहास, मनोरंजन में दोनों लिप्त रहें • **पांचवां कदम** कर्तव्य प्रजापालन के लिए उठाया जाता है। इसमें घर के सभी सदस्यों, आश्रितों, पशु-पक्षियों की देखभाल, उनकी उन्नति और घर की सुख-शांति कायम रखने की ओर ध्यान देने की भावना है • **छठा कदम** ऋतुचर्या के लिए उठाया जाता है। ऋतु के अनुसार रहन-सहन करते हुए दांपत्य-जीवन संयम के साथ गुजारा जाए • **सातवां कदम** पत्नी को अनुगामिनी, मित्रतापूर्ण व्यवहार के लिए उठाया जाता है। इसमें पति का अनुसरण करना, सौजन्यता, सहृदयतापूर्ण व्यवहार कायम करते हुए कोई भूल चूक होने पर क्षमा आदि का सहारा लेना, ताकि दांपत्य-जीवन सुख-शांति से सफलता पूर्वक व्यतीत हो सके।

33. विवाह में वर-वधू कौन-सी प्रतिज्ञाएं लेते हैं और क्यों?

वर-वधू को विवाह की रस्में पूर्ण हो जाने के पश्चात् अपने कर्तव्य धर्म का महत्त्व भली-भांति समझाने और उनका निष्ठा पूर्वक पालन कराने हेतु संकल्प के रूप में अलग-अलग प्रतिज्ञाएं कराई जाती हैं, जिनके पूरी होने पर स्वीकृति स्वरूप दोनों से 'स्वीकार है', कहलवाने की प्रथा है। विवाह संस्कार पद्धति के अनुसार, ये सब प्रतिज्ञाएं दांपत्य-जीवन को खुशहाल एवं दीर्घजीवी बनाए रखने के लिए कराई जाती हैं।

वर की प्रतिज्ञाएं

1. मैं अपनी धर्म पत्नी को अर्धांगिनी यानी अपने शरीर का आधा अंग समझूंगा और आज से उसका उतना ही ध्यान रखूंगा, जितना अपने शरीर के अंगों का रखूंगा।
2. गृहलक्ष्मी का अधिकार पत्नी को सौंपकर उससे परामर्श करके ही जीवन की गतिविधियों और कार्यक्रमों की व्यवस्था करूंगा।
3. पत्नी में किसी प्रकार के दोष, विकारों के कारण असंतोष व्यक्त नहीं करूंगा और यदि कोई दोष होगा भी तो प्रेमपूर्वक उसे सुधारकर या सहन करते हुए आत्मीयता बनाए रखूंगा।
4. पत्नीव्रत का पालन पूरी निष्ठा के साथ करूंगा और परनारी पर बुरी नजर नहीं डालूंगा। न ही उससे संबंध जोड़ूंगा।
5. पत्नी को मित्रवत् रखूंगा और पूरा-पूरा स्नेह दूंगा।
6. अपनी आमदनी पत्नी को सौंपूंगा और गृह-व्यवस्था हेतु खर्च में उसकी सहमति लूंगा। उसकी सुख-सुविधाओं, प्रगति और प्रसन्नता के लिए प्रयत्नशील रहूंगा।
7. किसी के सामने पत्नी को लांछित, तिरस्कृत नहीं करूंगा। मतभेदों और भूलों का सुधार एकांत में बैठकर करूंगा।
8. पत्नी के प्रति सहिष्णुता एवं मधुरता का व्यवहार करूंगा। समझौता नीति का पालन करूंगा।
9. पत्नी के बीमार होने, असमर्थता की स्थिति, संतान न होने या जाने-अनजाने किसी गलत व्यवहार पर भी मैं अपने सहयोग और कर्तव्य पालन में कोई कमी नहीं लाऊंगा।
10. पत्नी के व्यक्तित्व विकास में पूरी शक्ति लगाऊंगा और उसके साथ मधुर प्रेमयुक्त चर्चा तथा सद्व्यवहार का पालन करूंगा।

वधू की प्रतिज्ञाएं

1. मैं अपने पति के साथ अपना व्यक्तित्व मिलाकर, सच्चे अर्थों में अर्धांगिनी बनकर, नए जीवन की सृष्टि करूंगी।
2. पति के परिजनों से मधुरता, शिष्टता, उदारता पूर्वक व्यवहार कर उन्हें प्रसन्न और संतुष्ट रखने में कोई कमी नहीं होने दूंगी।

3. परिश्रम पूर्वक गृहसंचालन कर पति की प्रगति में सहायक बनूंगी और आलस्य को छोड़ दूंगी।
4. पति के प्रति श्रद्धा भाव रखते हुए, उनके अनुकूल रहूंगी और पातिव्रत्य धर्म का पालन करूंगी।
5. सेवा भावना, मधुर वचन बोलने, प्रसन्न रहने का स्वभाव बनाऊंगी। रूठने, कुढ़ने और ईर्ष्या के दुर्गुण नहीं अपनाऊंगी।
6. मितव्ययता से अपना घर चलाऊंगी और फिजूलखर्ची से बचूंगी।
7. पति से विमुख न होऊंगी। उन्हें परमेश्वर मानूंगी। उनका साथ न छोड़ूंगी। उनका कभी अपमान नहीं करूंगी।
8. पति से हुए मतभेदों का एकांत में निराकरण करूंगी। उन्हें निंदात्मक रूप से प्रस्तुत नहीं करूंगी।
9. पति को सेवा और विनय द्वारा सदैव संतुष्ट रखूंगी।
10. पति के मुझसे विमुख होने पर भी प्रतिफल की आशा किए बिना अपने कर्तव्य का निष्ठा पूर्वक पालन करूंगी।

मांग में सिंदूर भरना सुहाग की निशानी क्यों?

विवाह के अवसर पर एक संस्कार के रूप में वर, वधू की मांग में सिंदूर भरता है। इसे ही सुमंगली क्रिया कहते हैं। इसके पश्चात् विवाहित स्त्री अपने पति की दीर्घायु की कामना करते हुए जीवन-भर मांग में सिंदूर लगाए रखती है, क्योंकि मांग में सिंदूर भरना हिंदू धर्म की परंपरा के अनुसार सुहागिन होने का प्रतीक माना जाता है। उल्लेखनीय है कि हमारे शास्त्रों में पति को परमेश्वर का दर्जा प्रदान किया गया है।

मांग में सिंदूर भरने से स्त्री के सौंदर्य में वृद्धि तो होती है, यह मंगल-सूचक भी है। इससे यह भाव प्रदर्शित होता है कि ब्रह्म ज्योतिर्मय है और उस ज्योति का रंग लाल है। देवी भागवत में भगवती ने स्वयं
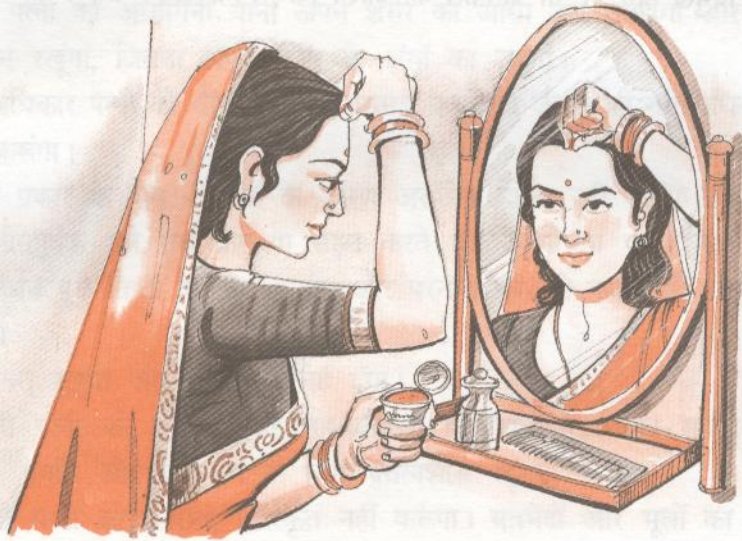
कहा है कि ब्रह्म और शक्ति (मैं) एक ही हूं। हम दोनों मिलकर ही सृष्टि को जन्म देते हैं। देवी, शक्ति को लाल रंग प्रिय है। शास्त्रों में विधवा को मांग में सिंदूर लगाने का निषेध है।

हमारे शास्त्रकारों ने मांग में सिंदूर भरने का प्रावधान इसलिए किया, क्योंकि यह स्थान ब्रह्मरंध्र और अध्मि नामक मर्म के ठीक ऊपर है, जो पुरुष की अपेक्षा स्त्री में अधिक कोमल होता है। सिंदूर में पारा जैसी धातु अधिकता में होने के कारण चेहरे पर जल्द झुर्रियां नहीं पड़तीं। इससे स्त्री के शरीर में स्थित वैद्युतिक उत्तेजना नियंत्रित होती है और यह मर्म स्थान को बाहरी बुरे प्रभावों से भी बचाता है। इसके अलावा सिंदूर का पारा स्त्रियों के सिर में होने वाली जूं, लीखों को भी नष्ट करता है।

जिन स्त्रियों के सीमंत या भृकुटी केंद्र में यदि नागिन रेखा पड़ी हो, तो सामुद्रिक-शास्त्र के मतानुसार इसे दुर्भाग्य का सूचक माना गया है। अतः उसके इस दोष के निवारण के लिए भी उसे मांग में सिंदूर भरने की सलाह दी जाती है।

35. शास्त्रों में सगोत्र विवाह करना वर्जित क्यों?

हमारी धार्मिक मान्यताओं के अनुसार विवाह अपने कुल में नहीं, बल्कि कुल के बाहर होना चाहिए। एक गोत्र में (सगोत्री) विवाह न हो सके, इसीलिए विवाह से पहले गोत्र पूछने की प्रथा आज भी प्रचलित है। शास्त्रों में अपने कुल में विवाह करना अधर्म, निंदित और महापाप बताया गया है। इसलिए माता की 5 तथा पिता की 7 पीढ़ियों को छोड़कर अपनी ही जाति की दूसरे गोत्र की कन्या के साथ विवाह करके शास्त्र मर्यादानुसार संतान पैदा करनी चाहिए। क्योंकि सगोत्र में विवाह करने पर पति-पत्नि में रक्त की अति समान जातीयता होने से संतान का उचित विकास नहीं होता। यही कारण है कि अनादि काल से पशु-पक्षियों में कोई विकास नहीं हुआ है, वे ज्यों-के-त्यों चले आ रहे हैं।

सगोत्र विवाह का निषेध मनु महाराज ने भी किया है–

असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने॥

–मनुस्मृति 3/5

अर्थात् जो माता की छह पीढ़ी में न हो तथा पिता के गोत्र में न हो ऐसी कन्या द्विजातियों में विवाह के लिए प्रशस्त है।

चिकित्सा-शास्त्रियों द्वारा किए गए अध्ययनों से यह स्पष्ट हुआ है कि सगोत्री यानी निकट संबंधियों के बीच विवाह करने से उत्पन्न संतानों में आनुवंशिक दोष अधिक होते हैं। ऐसे दंपतियों में प्राथमिक बंध्यता, संतानों में जन्मजात विकलांगता और मानसिक जड़ता जैसे दोषों की दर बहुत अधिक है। साथ ही मृत शिशुओं का जन्म, गर्भपात एवं गर्भकाल में या जन्म के बाद शिशुओं की मृत्यु जैसे मामले भी अधिक देखने में आए हैं। इसके अलावा रक्त संबंधियों में विवाह पर रोक लगाकर जन्मजात हृदय विकारों और जुड़वां बच्चों के जन्म में कमी लाई जा सकती है। उल्लेखनीय है कि भारत के देहाती क्षेत्रों में 100 प्रसव के पीछे 18 और शहरी क्षेत्रों में 11 जुड़वां बच्चे पैदा होने का अनुपात मिला है।

हाल ही में हैदराबाद में हुए एक नए अध्ययन से पता चला है कि खून के रिश्ते वाले लोगों की आपस में शादी हो जाने पर उनका होने वाला बच्चा आंखों से संबंधित बीमारियों का शिकार हो सकता है। वह न केवल कमजोर दृष्टि, बल्कि अंधेपन का शिकार भी हो सकता है। यहां के सरोजनी देवी आई हॉस्पिटल में किए गए अध्ययन से यह तथ्य भी प्रकाश में आया है कि आपसी रिश्तेदारी में शादी करने वाले जोड़ों से जन्मे लगभग 200 बच्चों में से एक बच्चा दृष्टि की कमजोरी का शिकार होता है। उल्लेखनीय है कि दक्षिण भारत में नजदीकी रिश्तेदारों में शादी हो जाना एक आम बात है।

36. पत्नी को वाम अंग बैठाने की प्रथा क्यों?

महाभारत शांति पर्व 235.18 के अनुसार पत्नी पति का शरीर ही है और उसके आधे भाग को अर्द्धांगिनी के रूप में वह पूरा करती है। **तैत्तिरीय ब्राह्मण 33.3.5** में इस प्रकार लिखा है–**'अथो अर्धो वा एव अन्यतः यत् पत्नी'** अर्थात् *पुरुष का शरीर तब तक पूरा नहीं होता, जब तक कि उसके आधे अंग को नारी आकर नहीं भरती।*

पौराणिक आख्यानों के अनुसार पुरुष का जन्म ब्रह्मा के दाहिने कंधे से और स्त्री का जन्म बाएं कंधे से हुआ है, इसलिए स्त्री को वामांगी कहा जाता है और विवाह के बाद स्त्री को पुरुष के वाम भाग में प्रतिष्ठित किया जाता है। सप्तपदी होने तक वधू को दाहिनी ओर बिठाया जाता है, क्योंकि वह बाहरी व्यक्ति जैसी स्थिति में होती है। प्रतिज्ञाओं से बद्ध हो जाने के कारण पत्नी बनकर आत्मीय होने से उसे बाईं ओर बैठाया जाता है। इस प्रकार बाईं ओर आने के बाद पत्नी गृहस्थ जीवन की प्रमुख सूत्रधार बन जाती है और अधिकार हस्तांतरण के कारण दाहिनी ओर से वह बाईं ओर आ जाती है। इस प्रक्रिया को शास्त्र में आसन परिवर्तन के नाम से जाना जाता है।
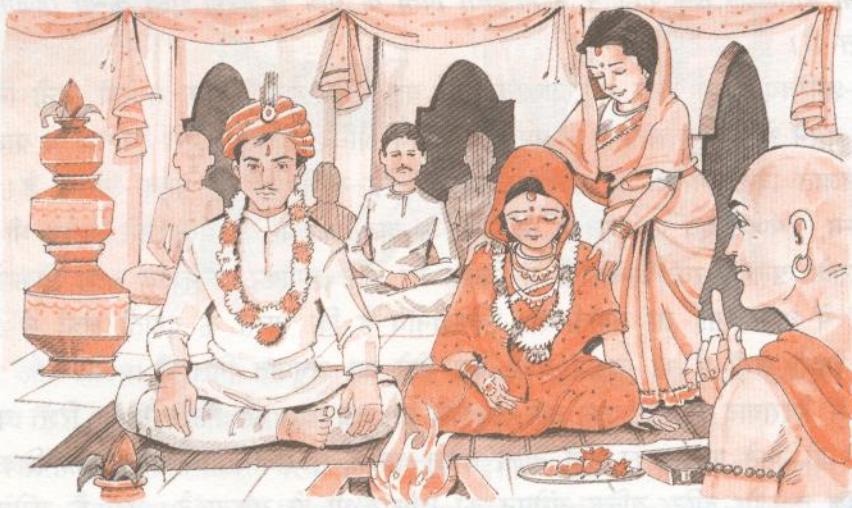
अन्य हिन्दू शास्त्रों में स्त्री को पुरुष का वाम-अंग बतलाया गया है। साथ ही वाम अंग में बैठने के अवसर भी बताए गए हैं।

वामे सिन्दूरदाने च वामे चैव द्विरागमने।
वामे शयनैकश्यायां भवेज्जाया प्रियार्थिनी॥ *–संस्कारगणपति म. म. 156*

अर्थात् सिंदूरदान, द्विरागमन के समय, भोजन, शयन व सेवा के समय में पत्नी हमेशा वाम भाग में रहे। इसके अलावा अभिषेक के समय, आशीर्वाद ग्रहण करते समय और ब्राह्मण के पांव धोते समय भी पत्नी को वाम (उत्तर) में रहने को कहा गया है।

उल्लेखनीय है कि जो धार्मिक कार्य पुरुष प्रधान होते हैं, जैसे विवाह, कन्यादान, यज्ञ, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, निष्क्रमण आदि में पत्नी पुरुष के दाईं (दक्षिण) ओर रहती है, जबकि स्त्री प्रधान कार्यों में वह पुरुष के वाम (बाईं) अंग की तरफ बैठती है।

आप जानते ही होंगे कि मौली (लाल नाड़ा/कलावा/रक्षा सूत्र) स्त्री के बाएं हाथ की कलाई में बांधने का नियम शास्त्रों में लिखा है। ज्योतिषी स्त्रियों के बाएं हाथ की हस्तरेखाएं देखते हैं। वैद्य स्त्रियों की बाएं हाथ की नाड़ी को छूकर उनका इलाज करते हैं। ये सब बातें भी स्त्री को वामांगी होने का संकेत करती हैं।

भगवान् मनु के अनुसार सृष्टि के प्रारंभ में परमात्मा ने अपने को दो भागों में विभक्त किया। कौन-सा भाग पुरुष और कौन-सा भाग स्त्री बना, इस संबंध में **देवी भागवत** में लिखा है–

स्वेच्छामयः स्वेच्छयायं द्विधारूपो बभूव ह।
स्त्री रूपो वामभागांशो दक्षिणांशः पुमान् स्मृतः ॥ –*देवी भागवत*

अर्थात् स्वेच्छामय भगवान् स्वेच्छा से दो रूप हो गए, वाम भाग के अंश से स्त्री और दक्षिण भाग के अंश से पुरुष बने।

37. वानप्रस्थ संस्कार क्यों?

लोकसेवियों की सुयोग्य और समर्थ सेना वानप्रस्थ आश्रम के भांडागार से ही निकलती है। इसीलिए चारों आश्रमों में वानप्रस्थ को सबसे महत्त्वपूर्ण माना जाता है। वानप्रस्थी राष्ट्र के प्राण, मानव जाति के शुभचिंतक एवं देवस्वरूप होते हैं।

गृहस्थ आश्रम का अनुभव लेने के बाद जब उम्र 50 वर्ष से ऊपर हो जाए तथा संतान की भी संतान हो जाए, तब परिवार का उत्तरदायित्व समर्थ बच्चों पर डाल कर वानप्रस्थ संस्कार करने की प्रथा प्रचलित है। इस संस्कार का मुख्य उद्देश्य सेवाधर्म ही है। भारतीय धर्म और संस्कृति का प्राण वानप्रस्थ संस्कार कहा जाता है, क्योंकि जीवन को ठीक तरह से जीने की समस्या इसी से हल हो जाती है। जिस देश, धर्म, जाति तथा समाज में हम उत्पन्न हुए हैं, उसकी सेवा करने, उसके ऋण से मुक्त होने का अवसर भी वानप्रस्थ में ही मिलता है। अतः जीवन का चतुर्थांश परमार्थ में ही व्यतीत करना चाहिए। नदी की तरह वानप्रस्थ का अर्थ है–चलते रहो चलते रहो। रुको मत। अपनी प्रतिभा के अनुदान सबको बांटते चलो।

वानप्रस्थ के संबंध में **हारीत स्मृतिकार** ने लिखा है–

एवं वनाश्रमे तिष्ठन् पातयश्चैव किल्विषम्।
चतुर्थमाश्रमं गच्छेत् संन्यासविधिना द्विजः॥ *–हारीत स्मृति 6/2*

अर्थात् गृहस्थ के बाद वानप्रस्थ ग्रहण करना चाहिए। इससे समस्त मनोविकार दूर होते हैं और वह निर्मलता आती है, जो संन्यास के लिए आवश्यक है।

मनुस्मृति में वानप्रस्थ के बारे में कहा गया है–

महर्षिपितृदेवानां गत्वाऽऽनृण्यं यथाविधि।
पुत्रे सर्वं समासज्य वसेन्माध्यस्थमाश्रितः॥ *–मनुस्मृति 4/257*

अर्थात् ढलतीं आयु में पुत्र को गृहस्थी का उत्तरदायित्व सौंप दें। वानप्रस्थ ग्रहण करें और देव, पितर तथा ऋषियों का ऋण चुकावें।

वानप्रस्थ आश्रम में उच्च आदर्शों के अनुरूप जीवन ढालने, समाज में निरंतर सद्ज्ञान, सद्भाव एवं लोकोपकारी रचनात्मक सत्प्रवृत्तियां बढ़ाने तथा कुप्रचलनों, मूढ़ मान्यताओं आदि के निवारण हेतु कार्य करने का मौका मिलता है, जिससे व्यक्ति का लोक-परलोक सुधरता है।

छान्दोग्य उपनिषद् 3/16/5 में उल्लेखित है कि वानप्रस्थ का मुनिदृश्य जीवन आयु के 48 वर्ष बीतने पर प्रारंभ होता है। जीवन एक यज्ञ है। मनुष्य की 48 वर्ष की आयु में तीसरे सवन (यज्ञ) में जगती छंद से यज्ञ किया जाता है।

अथर्ववेद 9/5/1 के अनुसार हे पुरुष, आत्मा को आगे ले चल। इस वानप्रस्थ व्रत को आरंभ कर। तेरी आत्मा महापुरुषों के लोक को संपन्न होकर प्राप्त हो। तू बड़े अज्ञानों को पार करके नित्य मानकर तीसरे सुखमय वानप्रस्थ दशा को प्राप्त होवे।

38. संन्यास आश्रम की व्यवस्था क्यों?

भारतीय संस्कृति में संन्यास आश्रम का बहुत अधिक महत्त्व है। जीवन के चार पुरुषार्थ, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में से मोक्ष प्राप्ति का साधन संन्यास आश्रम ही है।

मोक्ष का अर्थ है–समस्त कामनाओं का समाप्त हो जाना और कामनाओं से मुक्त होने के लिए जो साधन या अभ्यास किया जाता है, उसी को संन्यास कहते हैं।

संन्यास ग्रहण करने के विषय में मनु ने व्यवस्था दी है–

चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा संगान्परिव्रजेत् ॥ *–मनुस्मृति 6/33*

अर्थात् आयु के चौथे भाग में सभी प्रकार के संग साथ को त्याग कर संन्यास ग्रहण करें।

यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि 25 से 50 वर्ष की अवस्था तक गृहस्थ जीवन का भोग करने के कारण इंद्रियों को एक साथ वासना मुक्त करना बहुत कठिन है। इसलिए ऋषियों ने 50 से 75 वर्ष तक आयु के तीसरे भाग को वानप्रस्थ आश्रम के रूप में वन में बिताने की व्यवस्था दी है। इस आश्रम में पत्नी को साथ रखा जा सकता है और इंद्रियों का संयम करते हुए सभी प्रकार के यज्ञ, हवन आदि कार्य किए जाते हैं तथा शेष रह गए ऋणों से मुक्त होने के प्रयास भी जारी रहते हैं। इसके बाद ही संन्यास की व्यवस्था है–

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।
अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः ॥
अधीत्य विधिवद्वेदान्पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः।
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत् ॥ *–मनुस्मृति 6/35-36*

अर्थात् तीनों ऋणों–देवऋण, ऋषिऋण और पितृऋण से मुक्त होकर मन को मोक्ष में लगाएं। ऋण चुकाए बिना जो मोक्षार्थी होता है, वह नरकगामी होता है। विधिपूर्वक वेदों को पढ़कर धर्म से पुत्रों को उत्पन्न कर और यथाशक्ति यज्ञों का अनुष्ठान करके तब चतुर्थ आश्रम में मन को लगाएं।

उपरोक्त विधान इसलिए है कि चतुर्थ आश्रम में संन्यासी के लिए कोई कर्म शेष नहीं रह जाता, उसका उद्देश्य तो कर्म से छूटना होता है–

अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः।
आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरेदिह ॥ *–मनुस्मृति 6/49*

अर्थात् संन्यासी सदा आत्मा के ही चिंतन में लगा रहे; विषयों की इच्छा से रहित निरामिष होकर एक देह मात्र की सहायता से मोक्ष सुख का अभिलाषी होकर संसार में विचरे।

नारद परिव्राजकोपनिषद् में कहा गया है कि जिसमें शांति, शम, शौच, सत्य, संतोष, दयालुता, नम्रता, निरहंकारिता, दंभहीनता भरी हो, वही संन्यास का अधिकारी है।

संन्यासी के लिए दी गई इन व्यवस्थाओं के बारे में भगवान् श्रीकृष्ण ने भी श्रीमद्भगवद्गीता के निष्काम कर्मयोग और सांख्ययोग अध्यायों में विस्तार से प्रकाश डाला है। उनका कहना है कि जो कर्म के फल को न चाहकर करने योग्य कर्म करता है, वही संन्यासी और योगी है।

संन्यास की व्यवस्था हमारे ऋषियों द्वारा मोक्ष प्राप्ति के लिए की गई अत्यंत वैज्ञानिक व्यवस्था है। इसे भली प्रकार समझने के लिए धर्म के मूल को समझना बहुत आवश्यक है। आत्मा की अमरता और पुनर्जन्म में विश्वास हिंदू धर्म के दो आधारभूत सिद्धांत हैं। अच्छे और बुरे कर्मों के अनुसार विभिन्न योनियों में जन्म होता है। मनुष्य योनि इनमें सर्वश्रेष्ठ मानी गई है, किन्तु जीवन-भर सुख-दुख तो इस योनि में भी भोगने ही पड़ते हैं। इन सुख-दुखों से भी आगे नौ महीने के गर्भवास की घोर यातना और बुरे कर्म बन पड़ने पर मृत्यु के बाद प्रेत योनि का घोर कष्ट जीव को सहना होता है। इन सभी कष्टों से बचने के लिए यह आवश्यक है कि जीवन में पाप कर्म न किए जाएं। यदि कोई पाप-कर्म हो भी गया है, तो उसका प्रायश्चित कर लिया जाए और जीवन को कर्मफल रहित कर लिया जाए। जब कर्म ही शेष नहीं होंगे, तो पुनर्जन्म भी नहीं होगा और आत्मा अपने मूल स्रोत परमात्मा के साथ मिलकर सदा-सर्वदा के लिए शांति और आनंद में समा जाएगी।

इन फलरहित कर्मों की साधना का नाम ही संन्यास है और आत्मा की मुक्ति ही संन्यास का परिणाम।

व्यक्ति का जन्म कर्मफल के बंधन के कारण होता है, किंतु आत्मा के निवास के लिए शरीर की रचना तो माता-पिता के द्वारा ही की जाती है। अतः मनुष्य पर सबसे पहला ऋण माता-पिता का होता है। इसे पितृऋण कहते हैं। माता-पिता शरीर के निमित्त होते हैं, लेकिन शरीर की रचना जिन तत्त्वों से मिलकर हुई है तथा जिन तत्त्वों को खा-पीकर यह बढ़ता है, उन तत्त्वों की रचना माता-पिता ने नहीं की है। वे तत्त्व देवताओं द्वारा दिए गए हैं। अतः उनका कर्ज चुकाना भी जरूरी है। इस ऋण को देवऋण कहते हैं।

माता-पिता के जिस रज और शुक्र के अंश से शरीर की रचना हुई है, वह रज-शुक्र उन्हें अपने माता-पिता की परंपरा से प्राप्त हुआ है। उस परंपरा को देने वाले समय के साथ-साथ मृत्यु को प्राप्त होते गए हैं, किंतु उनके द्वारा दी गई सभ्यता संस्कृति और ज्ञान का अंश ऋण रूप में हमारे पास है। इसे ऋषिऋण कहते हैं।

इन तीन प्रकार के कर्जों से मुक्त हुए बिना हम किसी भी प्रकार की मुक्ति की कामना नहीं कर सकते, इसीलिए संन्यास के लिए आयु के चौथे भाग की व्यवस्था की गई है।

धार्मिक आचरण करते हुए गृहस्थ आश्रम में व्यक्ति जीवन के सभी भोगों को पर्याप्त मात्रा में भोग लेता है। उसके बाद वानप्रस्थ में इंद्रिय संयम रखते हुए बहुत आवश्यक होने पर इंद्रियों की तृप्ति करने का विधान 25 वर्ष का संन्यास आश्रम आरंभ होता है। जिसमें मन को नियंत्रित करके व्यक्ति कर्मफल से बचने की साधना करता है और मोक्ष प्राप्त करने को प्रयत्नशील रहता है।

39. अंत्येष्टि संस्कार क्यों?

मनुष्य के प्राण निकल जाने पर मृत शरीर को अग्नि में समर्पित कर अंत्येष्टि संस्कार करने का विधान हमारे ऋषियों ने इसलिए बनाया, ताकि सभी स्वजन, संबंधी, मित्र, परिचित अपनी अंतिम विदाई देने आएं और इससे उन्हें जीवन का उद्देश्य समझने का मौका मिले, साथ ही यह भी अनुभव हो कि भविष्य में उन्हें भी शरीर छोड़ना है।

चूड़ामण्युपनिषद् में कहा गया है कि ब्रह्म से स्वयं प्रकाशरूप आत्मा की उत्पत्ति हुई। आत्मा से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई। इन पांच तत्त्वों से मिलकर ही मनुष्य शरीर की रचना हुई है। हिंदू अंत्येष्टि संस्कार में मृत शरीर को अग्नि में समर्पित करके आकाश, वायु, जल, अग्नि और भूमि इन्हीं पंच तत्त्वों में पुनः मिला दिया जाता है।
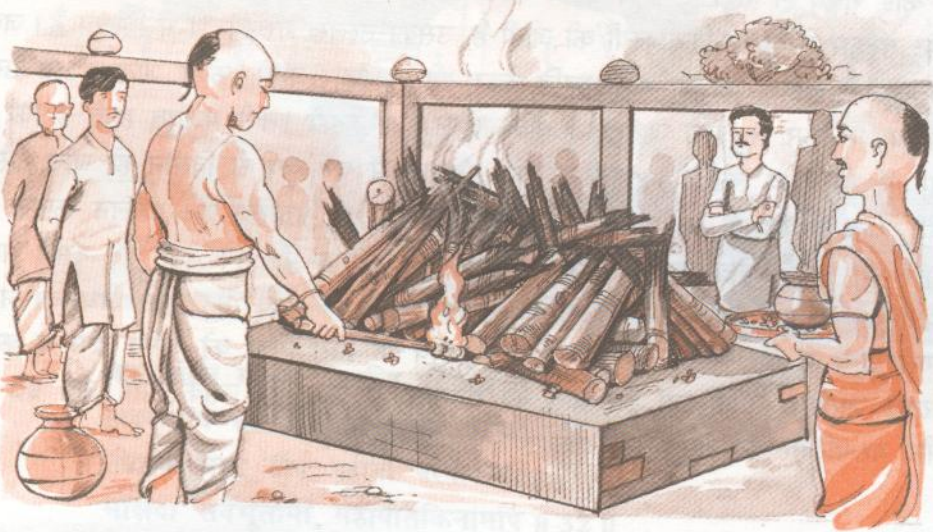
मृतक देह को जलाने यानी शवदाह करने के संबंध में अथर्ववेद में लिखा है–

इमौ युनिज्मि ते वह्नी असुनीताय वोढवे।
ताभ्यां यमस्य सादनं समितीश्वाव गच्छतात्॥ *–अथर्ववेद 18.2.56*

अर्थात् हे जीव, तेरे प्राणविहीन मृतदेह को सद्गति के लिए मैं इन दो अग्नियों को संयुक्त करता हूं अर्थात् तेरी मृतक देह में लगाता हूं। इन दोनों अग्नियों के द्वारा तू सर्व नियंता यम परमात्मा के समीप परलोक को श्रेष्ठ गतियों के साथ प्राप्त हो।

आरभस्व जातवेदस्तेजस्वद् हरो अस्तु ते।
शरीरमस्य संद हाथैनं धेहि सुकृतामु लोके॥ *–अथर्ववेद 18.3.71*

अर्थात् हे अग्नि! इस शव को तू प्राप्त हो। इसे अपनी शरण में ले। तेरा हरण सामर्थ्य तेजयुक्त होवे। इस शव को तू जला दे और हे अग्निरूप प्रभो, इस जीवात्मा को तू सुकृतलोक में धारण करा।

वायु रनिलम मृत मथेदं भस्मान्तं शरीरम्।
ओम् क्रतो स्मर क्लिवे स्मर कृतं स्मर ॥ *–यजुर्वेद 40/15*

अर्थात् हे कर्मशील जीव, तू शरीर छूटते समय परमात्मा के श्रेष्ठ और मुख्य नाम ओम् का स्मरण कर। प्रभु को याद कर। किए हुए अपने कर्मों को याद कर। शरीर में आने जाने वाली वायु अमृत है, परंतु यह भौतिक शरीर भस्म पर्यन्त है। भस्मान्त होने वाला है। यह शव भस्म करने योग्य है।

हिंदुओं में यह मान्यता भी है कि मृत्यु के बाद भी आत्मा शरीर के प्रति वासना बने रहने के कारण अपने स्थूल शरीर के आस-पास मंडराती रहती है, इसलिए उसे अग्नि को समर्पित कर दिया जाता है, ताकि उनके बीच कोई संबंध न रहे।

अंत्येष्टि संस्कार में कपाल-क्रिया क्यों की जाती है, उसका उल्लेख गरुड़पुराण में मिलता है। जब शवदाह के समय मृतक की खोपड़ी को घी की आहुति देकर डंडे से प्रहार करके फोड़ा जाता है तो उस प्रक्रिया को कपाल-क्रिया के नाम से जाना जाता है। चूंकि खोपड़ी की हड्डी इतनी मजबूत होती है कि उसे आग से भस्म होने में भी समय लगता है। वह टूट कर पंचतत्त्व में पूर्ण रूप से विलीन हो जाए, इसलिए उसे तोड़ना जरूरी होता है। इसके अलावा अलग-अलग मान्यताएं भी प्रचलित हैं। मसलन कपाल का भेदन होने पर प्राण पूरी तरह स्वतंत्र होते हैं और नए जन्म की प्रक्रिया में आगे बढ़ते हैं। दूसरी मान्यता यह है कि खोपड़ी को फोड़कर मस्तिष्क को इसलिए जलाया जाता है ताकि वह भाग अधजला न रह जाए अन्यथा अगले जन्म में वह अविकसित रह जाता है। पुत्र के द्वारा पिता को अग्नि देना व कपाल-क्रिया इसलिए करवाई जाती है ताकि उसे इस बात का एहसास हो जाए कि उसके पिता अब इस दुनिया में नहीं रहे और घर-परिवार का संपूर्ण भार उसे ही वहन करना है।

40. फूल (अस्थियों) का गंगा आदि पवित्र नदियों में विसर्जन क्यों?

मृतक की अस्थियों (हड्डियों) को धार्मिक दृष्टिकोण से 'फूल' कहते हैं। इसमें अगाध श्रद्धा और आदर प्रकट करने का भाव निहित होता है। जहां संतान फल है, वहीं पूर्वजों की अस्थियां 'फूल' कहलाती हैं। इन्हें गंगा जैसी पवित्र नदी में विसर्जन करने के दो कारण बताए गए हैं। पहला **कूर्मपुराण** के मतानुसार–
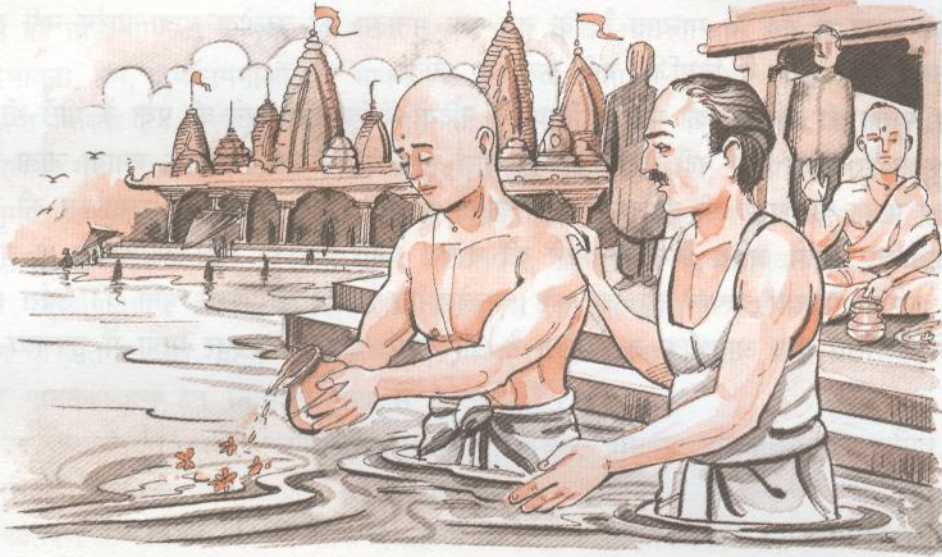
यावदस्थीनि गंगायां तिष्ठन्ति पुरुषस्य तु।
तावद् वर्ष सहस्राणि स्वर्गलोके महीयते ॥ 31 ॥
तीर्थानां परमं तीर्थ नदीनां परमा नदी।
मोक्षदा सर्वभूतानां महापातकिनामपि ॥ 32 ॥
सर्वत्र सुलभा गंगा त्रिषु स्थानेषु दुर्लभा।
गंगाद्वारे प्रयागे च गंगासागरसंगमे ॥ 33 ॥
सर्वेषामेव भूतानां पापोपहतचेतसाम्।
गतिमन्वेषमाणानां नास्ति गंगासमा गतिः ॥ 34 ॥ *–कूर्मपुराण, अध्याय 35, श्लोक 31-34*

अर्थात् जितने वर्ष तक पुरुष की अस्थियां (फूल) गंगा में रहती हैं, उतने हजार वर्षों तक वह स्वर्गलोक में पूजित होता है। गंगा को सभी तीर्थों में परम तीर्थ और नदियों में श्रेष्ठ नदी माना गया है, वह सभी प्राणियों, यहां तक कि महापातकियों को भी मोक्ष प्रदान करने वाली हैं। गंगा सर्व-साधारण के लिए सर्वत्र सुलभ होने पर भी हरिद्वार, प्रयाग एवं गंगासागर–इन तीनों स्थानों में दुर्लभ होती है। उत्तम गति की इच्छा करने वाले तथा पाप से उपहत चित्त वाले सभी प्राणियों के लिए गंगा के समान और कोई दूसरी गति नहीं है।

मृतक की पंचांग अस्थियों को गंगा में विसर्जित करने के संबंध में शास्त्रकार कहते हैं–

यावदस्थीनि गंगायां तिष्ठिन्ति पुरुषस्य च।
तावद्वर्ष सहस्राणि ब्रह्मलोके महीयते॥ *–शंखस्मृति, पृ. 7*

अर्थात् मृतक की अस्थियां जब तक गंगा में रहती हैं, तब तक मृतात्मा शुभ लोकों में निवास करता हुआ हजारों वर्षों तक आनन्दोपभोग करता है।

धार्मिक लोगों में यह भी मान्यता है कि तब तक मृतात्मा की परलोक यात्रा प्रारंभ नहीं होती, जब तक कि उसके फूल गंगा में विसर्जित नहीं कर दिए जाते।

दूसरा, मृतक की अस्थियों को गंगा आदि पवित्र नदियों में विसर्जन करने की प्रथा के पीछे भी वैज्ञानिक तथ्य छुपा हुआ है। चूंकि गंगा नदी से सैकड़ों वर्ग मील भूमि को सींचकर उपजाऊ बनाया जाता है, जिससे उसके निरंतर प्रवाह के कारण भी उपजाऊ शक्ति घटती रहती है। ऐसे में गंगा में फास्फोरस की उपलब्धता बनी रहे, इसीलिए उसमें अस्थि विसर्जन करने की परंपरा बनाई गई है, ताकि फास्फोरस से युक्त खाद, पानी द्वारा अधिक पैदावार उत्पन्न की जा सके। उल्लेखनीय है कि फास्फोरस भूमि की उर्वरा शक्ति को बनाए रखने के लिए एक आवश्यक तत्त्व होता है, जो हमारी हड्डियों में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होता है।

41. मृतक का तर्पण क्यों किया जाता है?

मनुस्मृति में तर्पण को पितृ-यज्ञ बताया गया है और सुख-संतोष की वृद्धि हेतु तथा स्वर्गस्थ आत्माओं की तृप्ति के लिए तर्पण किया जाता है। तर्पण का अर्थ पितरों का आवाहन, सम्मान और क्षुधा मिटाने से ही है। इसे ग्रहण करने के लिए पितर अपनी संतानों के द्वार पर पितृपक्ष में आस लगाए खड़े रहते हैं। तर्पण में पूर्वजों को अर्पण किए जाने वाले जल में दूध, जौ, चावल, तिल, चंदन, फूल मिलाए जाते हैं, कुशाओं के सहारे जल की छोटी-सी अंजलि मंत्रोच्चार पूर्वक डालने मात्र से वे तृप्त हो जाते हैं। जब जलांजलि श्रद्धा, कृतज्ञता, सद्भावना, प्रेम, शुभकामनाओं की भावना के साथ दी जाती है, तो तर्पण का उद्देश्य पूरा होकर पितरों को तृप्ति मिलती है। उल्लेखनीय है कि पितृ तर्पण उसी तिथि को किया जाता है, जिस तिथि को पूर्वजों का परलोक गमन हुआ हो। जिन्हें पूर्वजों की मृत्यु तिथि याद न रही हो, वे आश्विन कृष्ण अमावस्या यानी सर्वपितृमोक्ष अमावस्या को यह कार्य करते हैं, ताकि पितरों को मोक्ष मार्ग दिखाया जा सके।

हमारी श्राद्ध प्रक्रिया में जो 6 तर्पण कृत्य (देवतर्पण, ऋषितर्पण, दिव्यमानवतर्पण, दिव्यपितृतर्पण, यमतर्पण और मनुष्यपितृतर्पण के नाम से किए जाते हैं), इनके पीछे भिन्न-भिन्न दार्शनिक पक्ष बताए गए हैं।

देवतर्पण के अंतर्गत जल, वायु, सूर्य, अग्नि, चंद्र, विद्युत एवं अवतारी ईश्वर अंशों की मुक्त आत्माएं आती हैं, जो मानवकल्याण हेतु निःस्वार्थ भाव से प्रयत्नरत हैं।

ऋषितर्पण के अंतर्गत नारद, चरक, व्यास, दधीचि, सुश्रुत, वसिष्ठ, याज्ञवल्क्य, विश्वामित्र, अत्रि, कात्यायन, पाणिनि आदि ऋषियों के प्रति श्रद्धा आती है।

दिव्यमानवतर्पण के अंतर्गत जिन्होंने लोक मंगल के लिए त्याग-बलिदान किया है, जैसे—पांडव, महाराणा प्रताप, राजा हरिश्चंद्र, जनक, शिवि, शिवाजी, भामाशाह, गोखले, तिलक आदि महापुरुषों के प्रति कृतज्ञता की अभिव्यक्ति की जाती है।

दिव्यपितृतर्पण के अंतर्गत जो अनुकरणीय परंपरा एवं पवित्र प्रतिष्ठा की संपत्ति छोड़ गए हैं, उनके प्रति कृतज्ञता हेतु तर्पण किया जाता है।

यमतर्पण जन्म-मरण की व्यवस्था करने वाली शक्ति के प्रति और मृत्यु का बोध बना रहे, इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए करते हैं।

मनुष्यपितृतर्पण के अंतर्गत परिवार से संबंधित सभी परिजन, निकट संबंधी, गुरु, गुरु-पत्नी, शिष्य, मित्र आते हैं, यह उनके प्रति श्रद्धा भाव है।

इस प्रकार तर्पण रूपी कर्मकांड के माध्यम से हम अपनी सद्भावनाओं को जाग्रत करते हैं, ताकि वे सत्प्रवृत्तियों में परिणत होकर हमारे जीवन लक्ष्य में सहायक हो सकें।

42. पिंडदान करने की परंपरा क्यों?

हिंदू धर्म में पिंडदान की परंपरा वेदकाल से ही प्रचलित है। मरणोपरांत पिंडदान किया जाता है। दस दिन तक दिए गए पिंडों से शरीर बनता है। क्षुधा का जन्म होते ही ग्यारहवें व बारहवें दिन सूक्ष्म जीव श्राद्ध का भोजन करता है। ऐसा माना जाता है कि तेरहवें दिन यमदूतों के इशारे पर नाचता हुआ यमलोक चला जाता है। पितरों के मोक्ष के लिए यह एक अनिवार्य परंपरा है और इसका बहुत अधिक धार्मिक महत्त्व है। **योगवासिष्ठ** में बताया गया है–

आदौ मृता वयमिति बुध्यन्ते तदनुक्रमात्।
बंधु पिण्डादिदानेन प्रोत्पन्ना इवा वेदिनः ॥ *–योगवासिष्ठ 3/55/27*

अर्थात् प्रेत अपनी स्थिति को इस प्रकार अनुभव करते हैं कि हम मर गए हैं और अब बंधुओं के पिंडदान से हमारा नया शरीर बना है। चूंकि यह अनुभूति भावनात्मक ही होती है, इसलिए पिंडदान का महत्त्व उससे जुड़ी भावनाओं की बदौलत ही होता है। ये भावनाएं प्रेतों-पितरों को स्पर्श करती हैं।
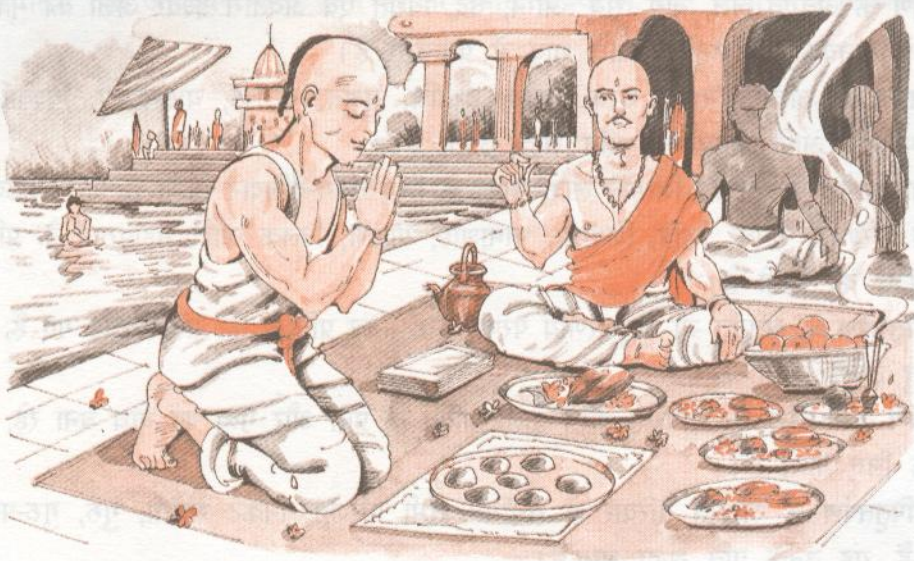
पिंडदानादि पाकर पितृगण प्रसन्न होकर सुख, समृद्धि का आशीर्वाद देते हैं और पितृलोक को लौट जाते हैं। जो पुत्र इसे नहीं करते, उनके पितर उन्हें शाप भी देते हैं।

कहा जाता है कि सर्वप्रथम सत्युग में ब्रह्माजी ने गया में पिंडदान किया था, तभी से यहां परंपरा जारी है। पितृपक्ष में पिंडदान का विशेष महत्त्व है। पिंडदान के लिए जौ या गेहूं के आटे में तिल या चावल का आटा मिलाकर इसे दूध में पकाते हैं और शहद तथा घी मिलाकर लगभग 100 ग्राम के 7 पिंड बनाते हैं। एक पिंड मृतात्मा के लिए और छह जिन्हें तर्पण किए जाते हैं, उनके लिए समर्पित करने का विधान है।

प्राचीन काल में पिंडदान का कार्य वर्षभर चलता था। यात्री 360 वेदियों पर गेहूं, जौ के आटे में खोया मिलाकर तथा अलग से बालू के पिंड बनाकर दान करते थे। अब विष्णु मंदिर, अक्षय, वट, फल्गू और पुनपुन नदी, रामकुंड, सीता कुंड, ब्रह्म मंगलगौरी, कागवलि, वैतरणी तथा पंचाय तीर्थों सहित 48 वेदियां शेष हैं, जहां पिंडदान किया जाता है।

वायुपुराण में दी गई **गया माहात्म्य** कथानुसार ब्रह्मा ने सृष्टि रचते समय गयासुर नामक एक दैत्य को उत्पन्न किया। उसने कोलाहल पर्वत पर घोर तपस्या की, जिससे प्रसन्न होकर विष्णु ने वर मांगने को कहा। इस पर गयासुर ने वर मांगा, 'मेरे स्पर्श से सुर, असुर, कीट, पतंग, पापी, ऋषि-मुनि, प्रेत आदि पवित्र होकर मुक्ति प्राप्त करें।' उसी दिन से गयासुर के दर्शन और स्पर्श से सभी जीव मुक्ति प्राप्त कर बैकुंठ जाने लगे।

कूर्मपुराण में कहा गया है–

गयातीर्थं परं गुह्यं पितृणां चातिवल्लभम्।
कृत्वा पिण्डप्रदानं तु न भूयो जायते नरः॥
सकृद् गयाभिगमनं कृत्वा पिण्डं ददाति यः।
तारिताः पितरस्तेन यास्यन्ति परमांगतिम्॥ –*कूर्मपुराण 34/7-8*

अर्थात् गया नामक परम तीर्थ पितरों को अत्यंत प्रिय है। यहां पिंडदान करके मनुष्य का पुनः जन्म नहीं होता। जो एक बार भी गया जाकर पिंडदान करता है, उसके द्वारा तारे गए पितर परम गति को प्राप्त करते हैं और नरक आदि कष्टप्रद लोकों से मुक्त हो जाते हैं।

कूर्मपुराण में आगे यह भी लिखा है कि वे मनुष्य धन्य हैं, जो गया में पिंडदान करते हैं, वे माता-पिता दोनों के कुल की सात पीढ़ियों का उद्धार कर स्वयं भी परम गति को प्राप्त करते हैं।

पिंडदान का अधिकार पुत्र के या वंश के किसी अन्य पुरुष को ही होता है। किंतु 1985 में मिथिला के पंडितों द्वारा स्त्रियों को भी पिंडदान का अधिकार दे दिया गया है। इस संबंध में सीताजी द्वारा दशरथ को किए गए पिंडदान का आख्यान प्रसिद्ध है।

सीता द्वारा पिंडदान : कहा जाता है कि राम, लक्ष्मण और सीता जब पिता दशरथ का पिंडदान करने गया में फल्गू नदी के तट पर पहुंचे, तो वे सीता को छोड़कर पिंड सामग्री जुटाने चले गए। इस बीच आकाशवाणी होने से पता चला कि शुभ मुहूर्त निकला जा रहा है, अतः सीता ही पिंडदान कर दें। स्थिति को देखते हुए सीता ने गायों, फल्गू नदी, केतकी पुष्पों और अग्नि को साक्षी मानकर श्वसुर दशरथ को बालू के पिंड बनाकर दान कर दिए। जब राम और लक्ष्मण लौटे तो सीता ने इस घटना को बताया, लेकिन उन्हें विश्वास नहीं हुआ। तब सीता ने सभी साक्षियों को इसकी पुष्टि करने को कहा तो वटवृक्ष के अलावा किसी ने साक्षी न दी। इससे क्रोधित होकर सीता ने गायों को अपवित्र वस्तुएं खाने, फल्गू नदी को ऊपर से सूखी किंतु धरातल के नीचे बहने, केतकी पुष्प को शुभकार्य से वंचित रहने और अग्नि को संपर्क में आने वाली सभी वस्तुओं को नष्ट करने का शाप दे दिया तथा वटवृक्ष को हर ऋतु में हरा-भरा रहने का वरदान दे दिया।

43. पूर्वजों का श्राद्ध कर्म करना आवश्यक क्यों?

ब्रह्मपुराण के मतानुसार अपने मृत पितृगण के उद्देश्य से पितरों के लिए श्रद्धा पूर्वक किए जाने वाले कर्म विशेष को श्राद्ध कहते हैं। श्राद्ध से ही श्रद्धा कायम रहती है। कृतज्ञता की भावना प्रकट करने के लिए किया हुआ श्राद्ध समस्त प्राणियों में शांतिमयी सद्भावना की लहरें पहुंचाता है। ये लहरें, तरंगें न केवल जीवित को बल्कि मृतक को भी तृप्त करती हैं। श्राद्ध द्वारा मृतात्मा को शांति-सद्गति, मोक्ष मिलने की मान्यता के पीछे यही तथ्य है। इसके अलावा श्राद्धकर्ता को भी विशिष्ट फल की प्राप्ति होती है।

मनुस्मृति में लिखा है–

यद्यद्ददाति विधिवत् सम्यक् श्रद्धासमन्वितैः।
तत्तत् पितृणां भवति परत्रानन्तमक्षयम्॥ *–मनुस्मृति 3/275*

अर्थात् मनुष्य श्रद्धावान होकर जो-जो पदार्थ अच्छी तरह विधि पूर्वक पितरों को देता है, वह-वह परलोक में पितरों को अनंत और अक्षय रूप में प्राप्त होता है।
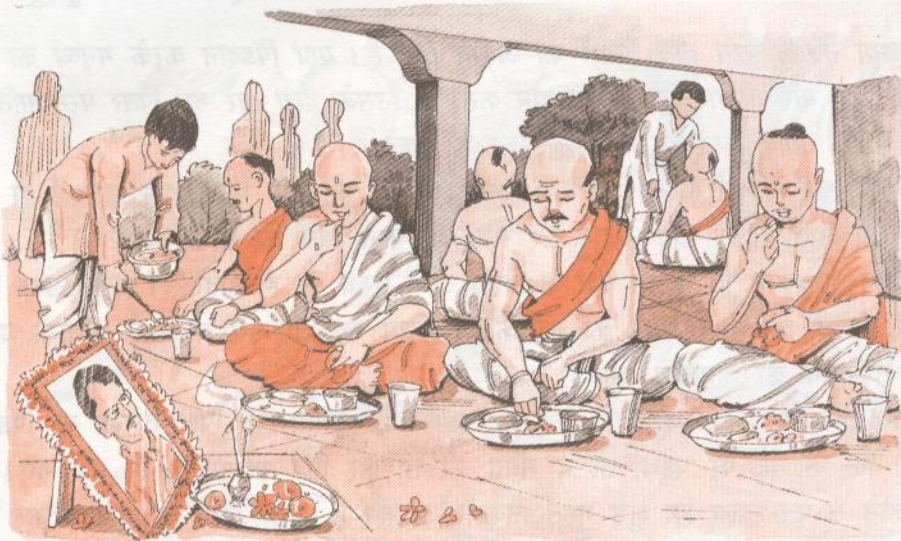
ब्रह्मपुराण में कहा गया है कि आश्विन मास के कृष्ण पक्ष में यमराज सभी पितरों को अपने यहां से छोड़ देते हैं, ताकि वे अपनी संतान से श्राद्ध के निमित्त भोजन ग्रहण कर लें। इस माह में श्राद्ध न करने वालों के पितर अतृप्त उन्हें शाप देकर पितृ लोक को चले जाते हैं। इससे आने वाली पीढ़ियों को भारी कष्ट उठाना पड़ता है। इसे ही पितृदोष कहते हैं। पितृ जन्य समस्त दोषों की शांति के लिए पूर्वजों की मृत्यु तिथि के दिन श्राद्ध कर्म किया जाता है। इसमें ब्राह्मणों को भोजन कराकर तृप्त करने का विधान है। श्राद्ध करने वाले व्यक्ति को क्या फल मिलता है, इस बारे में **गरुड़पुराण** में कहा गया है–

आयुः पुत्रान् यशः स्वर्गं कीर्तिं पुष्टिं बलं श्रियम्।
पशुन् सौख्यं धनं धान्यं प्राप्नुयात् पितृपूजनात्॥

अर्थात् श्राद्ध कर्म करने से संतुष्ट होकर पितृ मनुष्यों के लिए आयु, पुत्र, यश, मोक्ष, स्वर्ग, कीर्ति, पुष्ठि, बल, वैभव, पशुधन, सुख, धन और धान्य वृद्धि का आशीष प्रदान करते हैं।

यमस्मृति *36.37* में लिखा है कि पिता, दादा और परदादा ये तीनों ही श्राद्ध की ऐसे आशा करते हैं, जैसे वृक्ष पर रहते हुए पक्षी वृक्षों में फल लगने की आशा करते हैं। उन्हें आशा रहती है कि शहद, दूध व खीर से हमारी संतान हमारे लिए श्राद्ध करेगी।

देवताओं के लिए जो हव्य और पितरों के लिए जो कव्य दिया जाता है, ये दोनों देवताओं और पितरों को कैसे मिलता है, इसके संबंध में *यमराज ने अपनी स्मृति* में कहा है–

यावतो ग्रसते ग्रासान् हव्यकव्येषु मन्त्रवित्।
तावतो ग्रसते पिण्डान् शरीरे ब्रह्मणः पिता॥ *–यमस्मृति 40*

अर्थात् मंत्रवेत्ता ब्राह्मण श्राद्ध के अन्न के जितने कौर अपने पेट में डालता है, उन कौरों को श्राद्धकर्ता का पिता ब्राह्मण के शरीर में स्थित होकर पा लेता है।

अथर्ववेद में पितरों तक सामग्री पहुंचाने का अलग ही रास्ता बताया गया है–पितरों के लिए श्राद्ध करने वाला व्यक्ति अलग से आहुति देते समय अग्नि से प्रार्थना करता है–

त्वमग्न ईडितो जातवेदो वाड्ढव्यानि सुरभीणि कृत्वा। प्रादाः पितृभ्यः। *–अथर्ववेद 18.3.42*

अर्थात् हे स्तुत्य अग्निदेव! हमारे पितर जिस योनि में जहां रहते हैं, तू उनको जानने वाला है। हमारा प्रदान किया हुआ स्वधाकृत हव्य सुगंधित बनाकर पितरों को प्रदान करें।

महर्षि जाबालि के मतानुसार पितृपक्ष (आश्विन कृष्णपक्ष) में श्राद्ध करने से पुत्र, आयु, आरोग्य, अतुल ऐश्वर्य और अभिलषित वस्तुओं की प्राप्ति होती है।

विष्णुपुराण में लिखा है कि श्रद्धायुक्त होकर श्राद्धकर्म करने से केवल पितृगण ही तृप्त नहीं होते, बल्कि ब्रह्मा, इंद्र, रुद्र, अश्विनीकुमार, सूर्य, अग्नि, अष्टवसु, वायु, ऋषि, मनुष्य, पशु-पक्षी और सरीसृप आदि समस्त भूत प्राणी तृप्त होते हैं।

ब्रह्मपुराण में कहा गया है जो मनुष्य शाक के द्वारा भी श्रद्धा-भक्ति से श्राद्ध करता है, उसके कुल में कोई भी दुखी नहीं होता।

महर्षि सुमन्तु का कहना है कि संसार में श्राद्ध से बढ़कर और कोई दूसरा कल्याणप्रद मार्ग नहीं है। अतः बुद्धिमान् मनुष्य को प्रयत्नपूर्वक श्राद्ध करना चाहिए।

मार्कण्डेयपुराण के मतानुसार जिस देश अथवा कुल में श्राद्ध कर्म नहीं होता, वहां वीर, निरोग तथा शतायु पुरुष उत्पन्न नहीं होते।

महाभारत की विदुरनीति में धृतराष्ट्र से विदुरजी ने कहा है कि जो मनुष्य अपने पितरों के निमित्त श्राद्ध नहीं करता, उसको बुद्धिमान् मनुष्य मूर्ख कहते हैं।

44. पिंडदान, श्राद्ध आदि कर्म पुत्र द्वारा ही क्यों?

आचार्य वसिष्ठ ने पुत्रवान् व्यक्ति की महिमा के संबंध में कहा है–

अपुत्रिण इत्यभिशापः। *–वासिष्ठ स्मृति 17/3*

अर्थात् पुत्रहीनता एक प्रकार का अभिशाप है।

और आगे भी बताया है–

पुत्रेण लोकांजयति पौत्रेणानन्त्यमश्नुते।
अथ पुत्रस्य पौत्रेण ब्रध्नस्याप्नोति विष्टपम्॥ *–वासिष्ठ स्मृति 17/5*

अर्थात् पिता, पुत्र होने से लोकों को जीत लेता है, पौत्र होने पर आनन्त्य को प्राप्त करता है और प्रपौत्र होने पर वह सूर्य लोक को प्राप्त कर लेता है।

मनु महाराज का वचन है–

पुंनाम्नो नरकाद्यस्मात्त्रायते पितरं सुतः।
तस्मात्पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयंभुवा॥ *–मनुस्मृति 9/138*

अर्थात् 'पुं' नामक नरक से 'त्र' त्राण करने वाला 'पुत्र' कहा जाता है। ब्रह्मा जी ने लड़के को पुत्र कहा है। इसीलिए आस्तिक जन नरक से रक्षा की दृष्टि से पुत्र की इच्छा करते हैं। यही कारण है कि पिंडदान, श्राद्धादि कर्म करने का अधिकार पुत्र को प्रदान किया गया है।

शास्त्रों में यह भी कहा गया है कि पुत्र वाले धर्मात्माओं की कभी दुर्गति नहीं होती। पुत्र का मुख देख लेने से पिता पितृ-ऋण से मुक्त हो जाता है। पुत्र द्वारा प्राप्त श्राद्ध से मनुष्य स्वर्ग में जाता है। पूत का अर्थ है–पूरा करना। त्र का अर्थ है–न किए से भी पिता की रक्षा करना। पिता अपने पुत्र द्वारा इस लोक में स्थित रहता है। धर्मराज यमराज के मतानुसार जिसके अनेक पुत्र हों, तो श्राद्ध आदि पितृ-कर्म तथा वैदिक (अग्निहोत्र आदि) कर्म ज्येष्ठ पुत्र के करने से ही सफल होता है। भाइयों को अलग-अलग पिंडदान, श्राद्ध-कर्म नहीं करना चाहिए।

भ्रातरश्च पृथक् कुर्युर्नाविभक्ताः कदाचन।

अर्थात् श्राद्ध के अधिकार के संबंध में शास्त्रों में लिखा है कि पिता का श्राद्ध पुत्र को ही करना चाहिए। पुत्र न हो, तो स्त्री श्राद्ध करे। पत्नी के अभाव में सहोदर भाई और उसके भी अभाव में जामाता एवं दौहित्र भी श्राद्ध के अधिकारी हैं।

45. सबसे बड़ा दान क्या है?

दान देना मनुष्य जाति का सबसे बड़ा तथा पुनीत कर्तव्य है। इसे कर्तव्य समझकर दिया जाना चाहिए और उसके बदले में कुछ पाने की इच्छा नहीं रहनी चाहिए। अन्नदान महादान है, विद्यादान और बड़ा है। अन्न से क्षणिक तृप्ति होती है, किंतु विद्या से जीवनपर्यंत तृप्ति होती है।

ऋग्वेद में कहा गया है–संसार का सर्वश्रेष्ठ दान ज्ञानदान है, क्योंकि चोर इसे चुरा नहीं सकते, न ही कोई इसे नष्ट कर सकता है। यह निरंतर बढ़ता रहता है और लोगों को स्थायी सुख देता है।

धर्म शास्त्रों में हर तिथि-पर्व पर स्नानादि के पश्चात् दान का विशेष महत्त्व बताया गया है। सुपात्र को सात्विक भाव से श्रद्धा के साथ किए गए दान का फल अकसर जन्मांतर में मिलता है।

भविष्यपुराण 151/18 में लिखा है कि दानों में तीन दान अत्यन्त श्रेष्ठ हैं–गोदान, पृथ्वीदान और विद्यादान। ये दुहने, जोतने और जानने से सात कुल तक पवित्र कर देते हैं।

मनुस्मृति के अध्याय 4 में श्लोक 229 से 234 के मध्य दान के संबंध में महत्त्वपूर्ण बातें बताई गई हैं–

भूखे को अन्नदान करने वाला सुख लाभ पाता है, तिल दान करने वाला अभिलषित संतान और दीप दान करने वाला उत्तम नेत्र प्राप्त करता है। भूमिदान देने वाला भूमि, स्वर्णदान देने वाला दीर्घ आयु, चांदी दान करने वाला सुंदर रूप पाता है। सभी दानों में वेद का दान सबसे बढ़कर है। जो दाता आदर से प्रतिग्राही को दान देता है और प्रतिग्राही आदर से उस दान को ग्रहण करता है, वे दोनों स्वर्ग को जाते हैं। इससे उलटा अपमान से दान देने वाला और दान लेने वाला दोनों नरक में जाते हैं। जिस-जिस भाव से जिस फल की इच्छा कर जो दान करता है, जन्मांतर में सम्मानित होकर वह उन-उन वस्तुओं को उसी भाव से पाता है।

अन्यायपूर्वक कमाए धन के दान के संबंध में **स्कंदपुराण** में लिखा है–

न्यायोपार्जित वित्तस्य दशमांशेन धीमतः।
कर्त्तव्यो विनियोगश्च ईश्वरप्रीत्यर्थमेव च॥ *–स्कंदपुराण/माहेश्वरखंड*

अर्थात् अन्याय पूर्वक अर्जित धन का दान करने से कोई पुण्य नहीं होता। दान रूप कर्तव्य का पालन करते हुए भगवत्प्रीति को बनाए रखना भी आवश्यक है।

यक्ष ने युधिष्ठिर से प्रश्न किया : 'श्रेष्ठ दान क्या है?' इस पर युधिष्ठिर ने उत्तर दिया, 'जो सत्पात्र को दिया जाए। जो प्राप्त दान को श्रेष्ठ कार्य में लगा सके, उसी सत्पात्र को दिया दान श्रेष्ठ होता है। वही पुण्य फल देने में समर्थ है।' कर्ण ने अपनी त्वचा का, शिवि ने अपने मांस का, जीमूतवाहन ने अपने जीवन का तथा दधीचि ने अपनी अस्थियों का दान कर दिया था। दानवीर कर्ण की दानशीलता जगविख्यात है ही।

जब शक्तिशाली वृत्रासुर किसी भी तरह नहीं मारा जा सका, तो उसके त्रास से सभी देवता भयभीत हो गए। ब्रह्माजी से ज्ञात हुआ कि किसी तपस्वी की अस्थियों के वज्र से ही वृत्रासुर मारा जा सकता है। तपस्वियों में प्रसिद्ध महर्षि दधीचि के पास इंद्र, विष्णु आदि देवता पहुंचे। उन्होंने परमार्थ के लिए, देवत्व की रक्षा हेतु अपना नश्वर शरीर सहर्ष प्रस्तुत कर दिया। उनकी अस्थियों के दान से वज्र बनाया गया और वृत्रासुर को उसी से मारा गया।

46. आत्मा को अमर माना जाता है क्यों?

धार्मिक ग्रंथों के अनुसार आत्मा ईश्वर का अंश है, अतः यह ईश्वर की ही भांति अजर-अमर है। संस्कारों के कारण इस दुनिया में उसका अस्तित्त्व भी है। वह जब जिस शरीर में प्रवेश करती है, तो उसे उसी स्त्री या पुरुष के नाम से पुकारा जाता है। आत्मा का न कोई रंग है और न कोई रूप, इसका कोई लिंग भी नहीं होता।

ऋग्वेद में बताया गया है–

अपाङ्प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनि।
ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्तान्यन्यं चिक्युर्न निचिक्युरन्यम्॥ –*ऋग्वेद 1/164/38*

अर्थात् जीवात्मा अमर है और शरीर प्रत्यक्ष नाशवान। संपूर्ण शारीरिक क्रियाओं का अधिष्ठाता आता है, क्योंकि जब तक शरीर में प्राण रहता है, तब तक वह क्रियाशील रहता है। इस आत्मा के संबंध में बड़े-बड़े पंडित व मेधावी पुरुष भी नहीं जानते। इसे ही जानना मानव जीवन का प्रमुख लक्ष्य है।

बृहदारण्यक उपनिषद् 8/7/1 में आत्मा के संबंध में लिखा है–

आत्मा वह है, जो पाप से मुक्त है, वृद्धावस्था से रहित है, मृत्यु एवं शोक से रहित है, भूख और प्यास से रहित है, जो किसी वस्तु की इच्छा नहीं करती, यद्यपि उसकी इच्छा करनी चाहिए, किसी वस्तु की कल्पना नहीं करती, यद्यपि उसकी कल्पना करनी चाहिए। यह वह सत्ता है जिसको समझने का प्रयत्न करना चाहिए।

श्रीमद्भगवद्गीता में आत्मा की अमरता के विषय पर विस्तृत व्याख्या की गई है–

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता व न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ –*श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय 2/20*

अर्थात् यह आत्मा किसी काल में भी न तो जन्मता है और न मरता ही है तथा न यह उत्पन्न होकर फिर होने वाला ही है, क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है। शरीर के मारे जाने पर भी यह नहीं मारा जाता।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥ –*श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय 2/22*

अर्थात् जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्यागकर दूसरे नए वस्त्रों को ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीर को त्यागकर दूसरे नए शरीर को प्राप्त होता है। आगे श्लोक 23 व 24 में लिखा है कि आत्मा को शस्त्र नहीं काट सकते, इसको आग नहीं जला सकती, इसको जल नहीं गला सकता और वायु सुखा नहीं सकता, क्योंकि यह आत्मा अछेद्य है, अदाह्य और निःसंदेह अशोष्य है और यह नित्य, सर्वव्यापी, अचल, स्थिर रहने वाला तथा सनातन है।

शरीर की मृत्यु के बाद आत्मा को प्रेत योनि से मुक्ति के लिए 13 दिनों का समय लगता है। इसलिए इस दौरान आत्मा की शांति व मुक्ति के लिए पूजा-पाठ, दान-दक्षिणा आदि अनुष्ठान किए जाते हैं। इसके बाद आत्मा पितृ-लोक को प्राप्त हो जाती है। आत्मा की अमरता का यही दृढ़ विश्वास है।

47. पुनर्जन्म की मान्यता में विश्वास क्यों?

हमारे धर्मशास्त्रों, अगणित आप्त वचनों में आत्मा के पुनर्जन्म लेने की बात कही गई है। मृत्यु के साथ शरीर की समाप्ति भौतिक मान्यता है, लेकिन आध्यात्मिक मान्यता के अनुसार आत्मा की अमरता का एक प्रमाण पुनर्जन्म है। भारत में समय-समय पर समाचार पत्रों में प्रकाशित घटनाओं के माध्यम से पुनर्जन्म के उदाहरणों का विवरण मिलता रहता है, जिसमें पिछले जन्म की स्मृतियों को प्रामाणिक करके अनेक लोग इस तथ्य के यथार्थ को सिद्ध करते हैं। पुनर्जन्म की घटना को विज्ञान की भाषा में *'पैरानार्मल फिनामिना'* भी कहा जाता है।

प्रायः संचित संस्कारों के अनुरूप ही दिवंगत आत्माएं नया शरीर धारण कर पुनर्जन्म लेती हैं। इस संबंध में हमारे शास्त्रों में विस्तृत विवरण मिलता है–

शुभैः प्रयोगैर्देवत्वं व्यामिश्रैर्मानुषो भवेत्। *–महाभारत वनपर्व 209.32*

अर्थात् प्राणी शुभ कर्मों से देव योनि को प्राप्त होता है और मिले-जुले (पाप-पुण्यमय) कर्मों से मनुष्य योनि को प्राप्त होता है।

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्॥ *–कठोपनिषद् 2/2/7*

अर्थात् अपने कर्म और ज्ञान के अनुसार कोई देहधारी शरीर धारणार्थ विशिष्ट योनि को प्राप्त होते हैं और अन्य कोई देहधारी स्थावर भाव को प्राप्त होते हैं।

एहिकं प्रोक्तनं वापि कर्म यदचितं स्फुरन्।
पौरषोऽसो परो यत्नो न कदाचन निष्फलः॥ *–योगवासिष्ठ*

अर्थात् पुनर्जन्म और इस जन्म में किए हुए कर्म, फल के रूप में अवश्य प्रकट होते हैं, क्योंकि मनुष्य के द्वारा किए हुए कर्म, फल लाए बिना नहीं रहते हैं।

क्लेशमूलः कर्मोशयो दृष्टादृष्ट जन्मनेदनीयः।
सतिमूले तदिपाको जात्यामुर्भोगाः॥ *–पातंजलि योगसूत्र सा. 2/12/13*

अर्थात् यदि पूर्वजन्म के संचित संस्कार या कर्म अच्छे हैं, तो उत्तम जाति, आयु और योग प्राप्त होते हैं। जब मनुष्य शरीर का त्याग करता है, तब इस जन्म की विद्या, कर्म और पूर्व प्रज्ञा, आत्मा के साथ ही चली जाती है, उसी ज्ञान और कर्म के अनुसार उस जीवात्मा का जन्म होता है। तदनुसार उसके संस्कार नवीन जीवन में प्रकट होने लगते हैं।

आशापाशा शताबद्धा वासनाभाव धारिणः।
कायात्कायमुपायान्ति वृक्षाद्वृक्षमिवाण्डजा॥ *–महर्षि वसिष्ठ*

अर्थात् मनुष्य का मन सैकड़ों आशाओं (महत्त्वाकांक्षाओं) और वासनाओं के बंधन में बंधा हुआ मृत्यु के उपरांत उन क्षुद्र वासनाओं की पूर्ति वाली योनियों और शरीर में उसी प्रकार चला जाता है, जिस प्रकार एक पक्षी एक वृक्ष को छोड़कर फल की आशा से दूसरे वृक्ष पर जा बैठता है।

श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में भी श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है–

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्‌भावभावितः॥ *–श्रीमद्‌भगवद्‌गीता 8/6*

अर्थात् यह मनुष्य अंत समय में जिस-जिस भी भाव का स्मरण करता हुआ शरीर छोड़ता है, सदा उसी भाव से भावित होने के कारण उस भाव को ही प्राप्त होता है।

पुराणों में भागवत, विष्णु, अग्नि, मार्कण्डेय और देवीपुराण में अनेक कथाओं और घटनाओं के जरिए पुनर्जन्म को सिद्ध किया गया है। महर्षि वाल्मीकि और संत तुलसीदास ने रामायण में कई स्थलों पर पुनर्जन्म का रोचक वर्णन किया है।

एक बार मनु से शतरूपा ने पूछा–'भगवन्! मनुष्य को अन्यान्य योनियों में क्यों भटकना पड़ता है? कई बार मानव योनि पाकर भी मुक्त होने के स्थान पर फिर पदच्युत कर दिया जाता है, ऐसा क्यों?'

मनु बोले–'शारीरिक पाप कर्मों से जड़ योनियों में जन्म होता है। वाणी के पाप से पशु-पक्षी बनना पड़ता है। मानसिक दोष करने वाले मनुष्य योनि से बहिष्कृत हो जाते हैं। इस जन्म के अथवा पूर्वजन्म के किए हुए पापों से मनुष्य अपनी अस्वाभाविकता खोकर विद्रूप बनते हैं।

जब महाराज प्रद्युम्न का स्वर्गवास हो गया, तो पूरे परिवार में कुहराम मच गया। महर्षि कौत्स पुनर्जन्म विज्ञान के ज्ञाता थे। उन्हें बुलाया गया और कहा, 'राजा जिस रूप में भी हों, हम उनका दर्शन करना चाहते हैं।'

राजा काष्ठ कीट हो गए थे। उनका छोटा-सा परिवार भी बन गया। कीड़े को पकड़ने का प्रयत्न किया गया, तो उसने कहा कि मुझे मत छेड़ो, मैं अब इसी योनि में प्रसन्न हूं। नए मोह ने मेरा पुराना मोह समाप्त कर दिया है। सांसारिक संबंध शरीर रहने तक ही है।'

इस प्रकार देखें, तो हमें पुनर्जन्म के धार्मिक, नैतिक, मनोवैज्ञानिक व दार्शनिक आधारों का विवरण मिलता है। परामनोवैज्ञानिक डॉ. रैना रूथ ने पदार्थगत रूपांतरण को ही पुनर्जन्म माना है। उन्होंने अपनी पुस्तक में उल्लेख किया है कि पदार्थ एवं ऊर्जा दोनों ही परस्पर परिवर्तनशील हैं। ऊर्जा नष्ट नहीं होती, भले ही रूपांतरित व अदृश्य हो जाए। उनके मतानुसार डी.एन.ए. मृत्यु के बाद भी संस्कारों के रूप में अदृश्य अवस्था में रहते हैं और नए जन्म के समय फिर से प्रकट हो जाते हैं। हमें जो विलक्षण प्रतिभाएं देखने को मिलती हैं, वे पूर्वजन्म के संचित ज्ञान का प्रतिफल होती हैं। पुनर्जन्म की यादें, पूर्वाभास होना, भविष्य ज्ञान की अतींद्रिय क्षमता, विलक्षणताएं इन्हीं संचित संस्कारों का शुभ परिणाम होती हैं। इस प्रकार कह सकते हैं कि पुनर्जन्म पुनरावर्तन नहीं, बल्कि जीवात्मा इस जन्म के संचित संस्कारों को लेकर ही अगला जन्म लेती है। उल्लेखनीय है कि जींस (डी.एन.ए.) में पूर्वजन्म के या पैतृक संस्कार मौजूद रहते हैं और इसकी संरचना में प्रकाशीय भाग ही प्राण कहलाता है।

48. ब्रह्म मुहूर्त में उठने के निर्देश क्यों?

ऐसा माना जाता है कि रात्रि 12 बजे से प्रातः 4 बजे तक आसुरी व गुप्त शक्तियों का प्रभाव रहता है। ब्रह्म मुहूर्त में यानी प्रातः 4 बजे के बाद ईश्वर का वास होता है। ब्रह्म मुहूर्त का नाम ब्रह्मी शब्द से पड़ा है, जिसका अर्थ शास्त्रों में ज्ञान की देवी सरस्वती बताया गया है। यही कारण है कि प्राचीन काल से ब्रह्म मुहूर्त में शिष्यों को वेद अध्ययन करवाया जाता रहा है। संसार के प्रसिद्ध साधक, बड़े-बड़े विद्वान् और दीर्घजीवी मनुष्य सूर्योदय के पूर्व ब्रह्म मुहूर्त में उठकर दैनिक कार्यों की शुरुआत करने के अभ्यस्त रहे हैं।
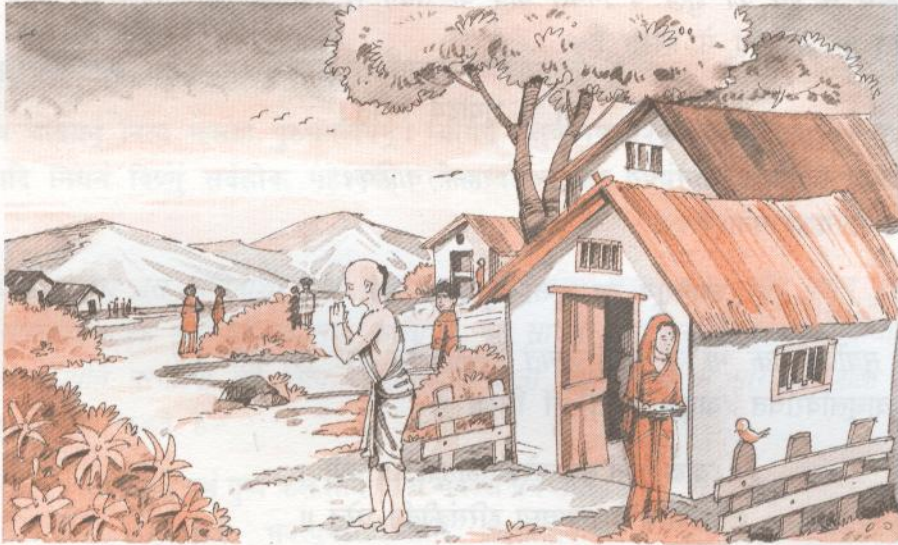
आयुर्वेद के अनुसार ब्रह्म मुहूर्त (प्रातः 4 से 5.30 बजे तक का समय) में बहने वाली वायु चंद्रमा से प्राप्त अमृत कणों से युक्त होने के कारण हमारे स्वास्थ्य के लिए अमृततुल्य होती है। इस समय की शांत, सुखद, शीतल, परम आनंदप्रद, स्वास्थ्य और सौंदर्यवर्धक वायु में 41 प्रतिशत ऑक्सीजन, 55 प्रतिशत नाइट्रोजन एवं 4 प्रतिशत कार्बन डाइऑक्साइड होती है। सूर्य की किरणों की शक्ति बढ़ने के साथ-साथ ऑक्सीजन का प्रतिशत कम और कार्बन डाइऑक्साइड का प्रतिशत बढ़ता जाता है।

ब्रह्म मुहूर्त का समय शारीरिक, यौगिक व मानसिक क्रियाओं जैसे ध्यान, योगाभ्यास, ईश्वर उपासना, विद्याध्ययन, मनन-चिंतन आदि के लिए सर्वाधिक उपयुक्त होता है, क्योंकि इस समय के शांत एवं शीतल वातावरण में मस्तिष्क के एकाग्रता से कार्य करने के सुखद परिणाम मिलते हैं।

ऋग्वेद में कहा गया है–

प्रातारत्नं प्रातरित्वा दधाति तं चिकित्वान्प्रतिगृह्यनिधत्ते।
तेन प्रजां वर्धयमान आयू रायस्पोषेण सचेत सुवीरः ॥ *–ऋग्वेद 1/125/1*

अर्थात् प्रातः काल सूर्योदय से पूर्व उठने वाले को उत्तम स्वास्थ्य रत्न की प्राप्ति होती है, इसलिए बुद्धिमान् उस समय को व्यर्थ नहीं खोते। प्रातः जल्दी उठने वाला पुष्ट, स्वस्थ, बलवान, सुखी, दीर्घायु और वीर होता है।

सामवेद में कहा गया है–

यद्य सूर उदितोऽनागा मित्रोअर्यमा। सुवाति सविता भगः॥ *–सामवेद 35*

अर्थात् मनुष्य को प्रातः काल सूर्योदय से पूर्व शौच व स्नान से निवृत्त होकर ईश्वर की उपासना करनी चाहिए। सूर्योदय से पूर्व की शुद्ध व निर्मल वायु के सेवन से स्वास्थ्य और संपदा की वृद्धि होती है।

महाभारत के शांतिपर्व में लिखा है–

न च सूर्योदये स्वपेत्।

अर्थात् सूर्य उदय हो जाने पर सोये नहीं रहना चाहिए।

अथर्ववेद में कहा गया है–

उद्यन्त्सूर्यं इव सुप्तानां द्विषतां वर्च आददे। *–अथर्ववेद 7/16/2*

अर्थात् सूर्योदय तक भी जो नहीं जागते इनका तेज नष्ट हो जाता है।

महर्षि वाधूलविरचित **'वाधूल स्मृति'** में लिखा है–

ब्राह्मे मुहूर्ते सम्प्राप्ते त्यक्तनिद्रः प्रसन्नधीः।
प्रक्षाल्य पादावाचम्य हरिसंकीर्तनं चरेत्॥
ब्राह्मे मुहूर्ते निद्रां च कुरुते सर्वदा तु यः।
अशुचिं तं विजानीयादनर्हः सर्वकर्मसु॥ *–वाधूल स्मृति 4-5*

अर्थात् ब्रह्म मुहूर्त में ही जग जाना चाहिए और निद्रा का परित्याग कर प्रसन्न मन रहना चाहिए। हाथ-पांव धोकर आचमन से पवित्र होकर प्रातःकालीन मंगल श्लोकों तथा पुण्य श्लोकों का पाठ करना चाहिए और भगवन्नामों का कीर्तन करना चाहिए। ऐसा करने से सब प्रकार का कल्याण होता है।

49. नित्य पूजा की आवश्यकता क्यों?

ऋग्वेद में कहा गया है–

ईयुष्टे ये पूर्वतरामपश्यन्व्युच्छन्तीमुषसं मर्त्यासः।
अस्माभिरु नु प्रतिचक्ष्यामूदो ते यन्ति ये अपरीषु पश्यान्॥ *–ऋग्वेद 1-113-11*

अर्थात् जो मनुष्य उषाकाल से पहले उठकर नित्य कर्म करके ईश्वर की उपासना करते हैं, वे बुद्धिमान् और धर्माचरण करने वाले होते हैं, जो स्त्री-पुरुष ईश्वर का ध्यान करके परस्पर प्रीतिपूर्वक बोलते हैं, वे अनेक प्रकार के सुख प्राप्त करते हैं।

परमात्मा की नित्य स्तुति के महत्त्व को भगवान् **वेदव्यास** ने यूं बताया है–

तमेव चार्चयन् नित्यं भक्त्या पुरुषमव्ययम्। ध्यायन् स्तुवन्नमस्यश्च यजमान स्तमेव च॥
अनादि निधनं विष्णुं सर्वलोक महेश्वरम्। लोकाध्यक्षं स्तुवन् नित्यं सर्वदुःखातिगो भवेत्॥
–महाभारत/अनुशासन पर्व 149/5-6

अर्थात् जो मनुष्य उस अविनाशी परम पुरुष का सदा भक्ति पूर्वक पूजन और ध्यान करता है तथा स्तवन और नमस्कार पूर्वक उसी की उपासना करता है, वह साधक उस अनादि, अनंत, सर्वव्यापी, सर्वलोक महेश्वर, अखिलाधिपति परमात्मा की नित्य स्तुति करता हुआ संपूर्ण दुखों से पार हो जाता है।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं–

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥ *–श्रीमद्भगवद्गीता 9/26*

अर्थात् जो कोई भक्त मेरे लिए प्रेम से पत्र, पुष्प, फल, जल आदि अर्पण करता है, उस शुद्ध बुद्धि निष्काम प्रेमी भक्त का प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं सगुणरूप से प्रकट होकर प्रीति पूर्वक खाता हूं।

पद्मपुराण 5/84 में भगवान् के पुष्पों के संबंध में बताया गया है कि अहिंसा प्रथम पुष्प, इंद्रिय निग्रह दूसरा पुष्प, प्राणियों पर दया तीसरा पुष्प, क्षमा चौथा पुष्प, शांति पांचवां पुष्प, मन का निग्रह छठा पुष्प, ध्यान सातवां पुष्प, सत्य आठवां पुष्प है। बाहरी गुलाबादि के और भी पुष्प हैं, लेकिन भगवान् तो भीतरी अहिंसा आदि पुष्पों से ही अधिक प्रसन्न होते हैं।

परमपिता परमेश्वर की पूजा-अर्चना करने से मन को शांति मिलती है, जाने-अनजाने हुए पापों से मुक्ति मिलती है, देवत्व का भाव मन में पैदा होता है, आत्मविश्वास बढ़ता है, सद्कार्यों में मन लगता है, जीवन को एक नई रोशनी मिलती है, झुकने, समर्पण करने और अहंकार रहित होने की प्रेरणा मिलती है, बुराई से बचने में सहायता मिलती है, चिंता और तनाव से मन मुक्त होकर प्रसन्न रहता है। पर इन सबकी प्राप्ति तभी हो सकती है, जब सच्चे मन, श्रद्धा एवं भावना से पूजा की जाए। जैसे जमीन की गहराई में जाने से बहुमूल्य पदार्थों की प्राप्ति होती है, ठीक वैसे ही अंतर मन में उतरने से देव विभूतियां प्राप्त होती हैं।

यूं तो देवी-देवताओं के पूजन की मूल भावना यही है कि जल की तरह निर्मलता, विनम्रता, शीतलता, फूल की तरह हंसता-हंसाता जीवन, अक्षत की तरह अटूट निष्ठा, नैवेद्य की तरह मिठास-मधुरता से युक्त व्यक्तित्व, दीपक की तरह स्वयं जलकर दूसरों को प्रकाश देने वाला आचरण अपनाया जाए।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं–

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः। –*श्रीमद्भगवद्गीता 18/16*

अर्थात् अपने अच्छे काम से भगवान् की पूजा करके मनुष्य मुक्ति या परम आनंद को पाता है।

स्वामी विवेकानंद ने कहा है–'सौंपे गए कार्य को उत्तम तरीके से निर्वाह करना ही परमात्मा की सच्ची पूजा है।'

एक बार चैतन्य महाप्रभु से एक श्रद्धालु ने पूछा–'गुरुदेव! भगवान् संपन्न लोगों की पूजा से संतुष्ट नहीं हुए। गोपियों की छाछ और विदुर के शाक उन्हें पसंद आए। लगता है पूजा के पदार्थों से ही उनकी प्रसन्नता का संबंध नहीं है।'

चैतन्य बोले–'ठीक समझे वत्स! प्रभु के ही बनाए हुए सभी पदार्थ हैं, फिर उसे किस बात की कमी? वास्तव में पूजा तो साधक के भाव जागरण की एक मनोवैज्ञानिक पद्धति है। जो-जो वस्तुएं भगवान् को पूजा के समय चढ़ाई जाती हैं, वे इस बात की प्रतीक हैं कि भगवान् किस प्रकार के भावसंपन्न व्यक्तियों के भावों को अंगीकार करते हैं।'

50. शुभ कार्यों में पूर्व दिशा में ही मुख क्यों?

यह तो हम सभी जानते हैं कि सूर्य पूर्व दिशा की ओर से उदित होता है। वेदों में उदित होते हुए सूर्य की किरणों का बहुत महत्त्व बताया गया है–

उद्यन्त्सूर्यो नुदतां मृत्युपाशान्। *–अथर्ववेद 17/1/30*

अर्थात् उदित होता हुआ सूर्य मृत्यु के सभी कारणों अर्थात् सभी रोगों को नष्ट करता है।

सूर्य की किरणें मनुष्य को मृत्यु से बचाती हैं–

सूर्यस्त्वाधिपतिर्मृत्योरुदायच्छतु रश्मिभिः। *–अथर्ववेद 5/30/15*

अर्थात् मृत्यु के बंधनों को यदि तोड़ना है, तो सूर्य के प्रकाश से अपना संपर्क बनाए रखें–

मृत्योः पड्वीशं अवमुंचमानः। माच्छित्था सूर्यस्य संदृशः॥ *–अथर्ववेद 8/1/4*

अर्थात् सूर्य के प्रकाश में रहना अमृत के लोक में रहने के तुल्य है।

चूंकि भगवान् सूर्य परमात्मा नारायण के साक्षात् प्रतीक हैं, इसलिए वे सूर्य नारायण कहलाते हैं। सूर्य ही ब्रह्मा का आदित्य रूप हैं। ये ही जगत के एकमात्र नेत्र (प्रकाशक) हैं, समस्त प्राणियों की उत्पत्ति का कारण और पालनहार हैं। प्रत्यक्ष देवता हैं, जिनका अवतरण ही संसार के कल्याण के लिए हुआ है। सूर्य ही एक ऐसे देव हैं, जिनकी उपासना से हमें प्रत्यक्ष फल प्राप्त होता है, मनोकामनाएं पूरी होती हैं। वेदों में ओजस्, तेजस् एवं ब्रह्मवर्चस् की प्राप्ति के लिए सूर्य की उपासना करने का विधान है। सूर्य मानव मात्र के समस्त शुभ और अशुभ कर्मों के साक्षी हैं। उनसे हमारा कोई भी कार्य या व्यवहार छिपा नहीं रह सकता, क्योंकि सूर्य विश्व चक्षु जो है।

सूर्य उपनिषद् के अनुसार समस्त देव, गंधर्व एवं ऋषि भी सूर्य रश्मियों (किरणों) में निवास करते हैं। अतः सूर्य की किरणों और उनके प्रभावों की प्राप्ति के लिए ही प्रत्येक शुभ कार्यों व संस्कारों को करते समय पूर्व दिशा की ओर मुख करके बैठने की परंपरा हमारे वेदों के निर्देशों पर की गई है, ताकि धार्मिक व्यक्ति इसका अधिक-से-अधिक लाभ उठा सकें।

उल्लेखनीय है कि इस समय की किरणों में अवरक्त (infrared) किरणें होती हैं, जिनमें रोगों को नष्ट करने की विशेष क्षमता होती है। सूर्य की सात अलग-अलग रंग की किरणों से सात प्रकार की ऊर्जा भी प्राप्त होती है। इस ऊर्जा के कारण सभी धार्मिक अनुष्ठान सफल होते हैं। सूर्य की अवरक्त किरणें सीधे छाती पर पड़ती रहें, तो उनके प्रभाव से व्यक्ति सदा निरोग रहता है। इसीलिए प्रातः सूर्योदय के समय पूर्व की ओर मुख करके सूर्य नमस्कार, सूर्य उपासना, संध्योपासना, पूजा-पाठ, हवन आदि शुभ कृत्य करना बहुत लाभदायक है।

51. धार्मिक कर्मकांड में आसन पर बैठना आवश्यक क्यों?

पूजा-पाठ, साधना, तपस्या आदि कर्मकांड के लिए उपयुक्त आसन पर बैठने का विशेष महत्त्व होता है। ब्रह्मांडपुराण तंत्रसार में कहा गया है कि इन कर्मकांडों हेतु भूमि पर बैठने से दुख, पत्थर पर बैठने से रोग, पत्तों पर बैठने से चित्तभ्रम, लकड़ी पर बैठने से दुर्भाग्य, घास-फूस पर बैठने से अपयश, कपड़े पर बैठने से तपस्या में हानि और बांस पर बैठने से दरिद्रता आती है।
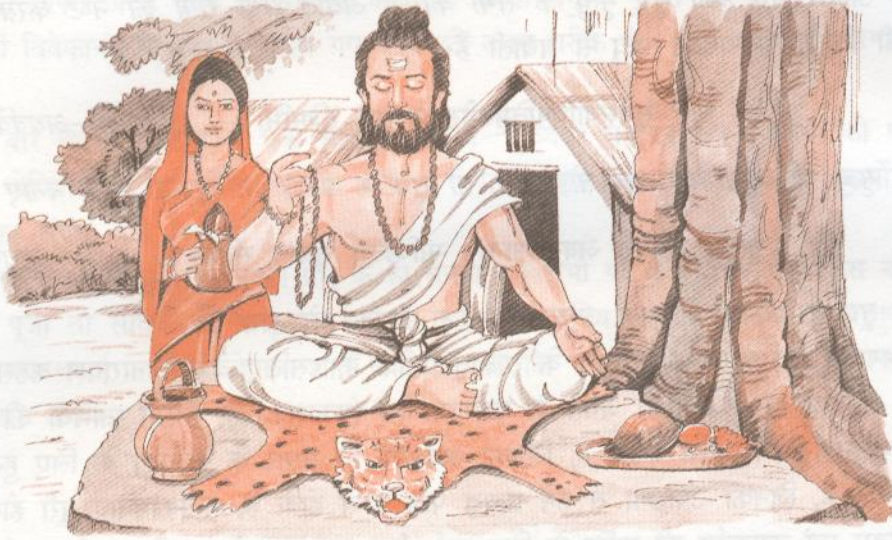
उल्लेखनीय है कि बिना आसन बिछाए धार्मिक कर्मकांड करने के लिए बैठने से उसमें सिद्धि अर्थात् पूर्ण सफलता नहीं मिलती, ऐसे संकेत हमारे धर्मशास्त्र में दिए गए हैं। प्राचीन काल में ऋषि-मुनि काले हिरण के चर्म, कुशासन, गोबर का चौका, चीता या बाघ के चर्म, लाल कंबल आदि का आसन उपयोग में लेते थे। इसके पीछे मान्यता यह थी कि काले हिरण के चर्म से निर्मित आसन का प्रयोग करने से ज्ञान की सिद्धि होती है। कुश के आसन पर बैठकर जाप करने से सभी प्रकार के मंत्र सिद्ध होते हैं। गोबर के चौके पर बैठने से पवित्रता मिलती है। चीता या बाघ के चर्म से निर्मित आसन पर बैठने से मोक्ष की प्राप्ति होती है। लाल कंबल से बने आसन पर बैठने से किसी इच्छा से किए जाने वाले कर्मों में सफलता मिलती है।

आपने देखा होगा कि साधु-महात्मा, ऋषि-मुनि जो नियमित रूप से पूजा-पाठ व धार्मिक अनुष्ठान करते रहते हैं। एक विशेष प्रकार की आध्यात्मिक शक्ति का संचय होने के कारण उनका व्यक्तित्व प्रभावशाली बन जाता है। चेहरे पर तेज और विशेष प्रकार की चमक देखने को मिलती है। ये लोग कर्मकांड करते समय विद्युत के कुचालक आसन बिछाकर बैठते हैं, क्योंकि इससे उनकी संचित की गई शक्ति व्यर्थ नहीं जाती। अन्यथा सुचालक आसन के माध्यम से शक्ति लीक होकर पृथ्वी में चली जाने से व्यर्थ हो जाएगी और साधना का इच्छित लाभ नहीं मिलेगा। यही आसन बिछाने का वैज्ञानिक कारण है।

52. धार्मिक कर्मकांडों में पुष्प का महत्त्व क्यों?

भारतीय संस्कृति में पुष्प का उच्च स्थान है। देवी-देवताओं और भगवान् पर आरती, व्रत, उपवास या पर्वों पर पुष्प चढ़ाए जाते हैं। धार्मिक अनुष्ठान, संस्कार व सामाजिक, पारिवारिक कार्यों को बिना पुष्प के अधूरा समझा जाता है। पुष्पों की सुगंध से देवता प्रसन्न होते हैं। सुंदरता के प्रतीक पुष्प हमारे जीवन में उल्लास, उमंग, प्रसन्नता के प्रतीक हैं।

पुष्प के संबंध में कहा गया है–

पुण्य संवर्धनाच्चापि पापौघपरिहारतः पुष्कलार्थप्रदानार्थं पुष्पमित्य भिधीयते। –*कुलार्णवतंत्र*

अर्थात् पुण्य को बढ़ाने, पापों को भगाने और श्रेष्ठ फल को प्रदान करने के कारण यह पुष्प कहा जाता है।

दैवस्य मस्तकं कुर्यात्कुसुमोपहितं सदा। –*शारदा तिलक*

अर्थात् देवता का मस्तक सदैव पुष्प से सुशोभित रहना चाहिए।

पुष्पैर्देवां प्रसीदंति पुष्पैः देवाश्च संस्थिताः
न रत्नैर्न सुवर्णेन न वित्तेन च भूरिणा
तथा प्रसादमायाति यथा पुश्पैर्जनार्दन। –*विष्णु नारदीय व धर्मोत्तरपुराण*

अर्थात् देवता लोग रत्न, सुवर्ण, भूरि द्रव्य, व्रत तपस्या एवं अन्य किसी भी साधनों से उतना प्रसन्न नहीं होते, जितना कि पुष्प चढ़ाने से होते हैं।

कालिकापुराण में ऐसा उल्लेख मिलता है कि किसी भी देवता पर कभी भी बासी, जमीन पर गिरे हुए, कटे, फटे, गंदे, कीड़े लगे, दूसरों से मांगे या कहीं से चुराए हुए पुष्प नहीं चढ़ाने चाहिए।

माला के संबंध में **ललितासहस्रनाम** में कहा गया है–

मां शोभां लातीति माला।

अर्थात् जो शोभा देती है, वह माला है। भगवान् को जो पुष्पों की मालाएं चढ़ाई जाती हैं, उनमें कमल अथवा पुंडरीक की माला को सर्वश्रेष्ठ कहा गया है।

अपने आराध्य देव की प्रसन्नता के लिए कौन-सा पुष्प चढ़ाना चाहिए और कौन-सा नहीं? इस संबंध में यहां संक्षिप्त जानकारी दी जा रही है–

श्री गणेशजी–आचार भूषण नामक ग्रंथानुसार गणेशजी को तुलसीदल को छोड़कर सभी प्रकार के पुष्प प्रिय हैं।

शंकरजी–इनके पूजन में मौलसिरी के पुष्प, धतूरे के पुष्प, हरसिंगार व नागकेसर के सफेद पुष्प, सूखे कमल गट्टे, निर्गुंडी, कनेर, जवा कुसुम, आक, कुश आदि के पुष्प चढ़ाने का विशेष महत्त्व है।

सूर्य नारायण–इनकी उपासना कुटज के पुष्पों से की जाती है। इसके अलावा कनेर, कमल, चंपा, मौलसिरी, पलाश, आक, अशोक आदि के पुष्प भी चढ़ाए जाते हैं। इन पर तगर का पुष्प नहीं चढ़ाया जाता है।

भगवती गौरी–शंकर भगवान् को चढ़ने वाले पुष्प मां भगवती को प्रिय हैं। इसके अलावा अपामार्ग, कनेर, बेला, मदार, आक, सफेद कमल, पलाश, चंपा, चमेली आदि पुष्प भी चढ़ाए जाते हैं। कुछ ग्रंथों में आक और मदार के पुष्प चढ़ाना मना किया गया है, अतः अन्य पुष्पों के अभाव में ही इनका उपयोग करें।

श्रीकृष्ण–अपने प्रिय पुष्पों का उल्लेख महाभारत में युधिष्ठिर से करते हुए वे कहते हैं–'हे राजन्! मुझे कुमुद, करवरी, चणक, मालती, नंदिक, पलाश और वनमाला के पुष्प बहुत प्रिय हैं।

लक्ष्मीजी–इनका सबसे अधिक प्रिय पुष्प कमल है।

विष्णुजी–इन्हें कमल, मौलसिरी, जूही, कदम्ब, केवड़ा, चमेली, अशोक, मालती, बसंती, चंपा, वैजयंती के पुष्प विशेष प्रिय हैं।

पुष्पों के संबंध में उल्लेखनीय है कि कमल और कुमुद के पुष्प 11 से 15 दिन तक बासी नहीं होते। अगत्स्य के पुष्प कभी बासी नहीं माने जाते। चंपा की कली को छोड़कर किसी भी दूसरे पुष्प की कली कभी भी देवता पर नहीं चढ़ानी चाहिए। मध्याह्न स्नान के बाद पुष्प तोड़ने की सख्त मनाही शास्त्रों में की गई है। किसी भी पूजन में केतकी के पुष्प नहीं चढ़ाते हैं।

53. पूजा-पाठ हेतु सोने-चांदी के पात्र श्रेष्ठ क्यों?

हमारे धर्म शास्त्रों में सोने को सर्वश्रेष्ठ धातु माना गया है। इसीलिए देवी-देवताओं के आभूषण, सिंहासन, मूर्तियां, बर्तन आदि पर सोने का आवरण चढ़ाया जाता है। इसकी कांति व चमक सदा बनी रहती है और इसमें जंग भी नहीं लगती। सोने के बर्तन का इस्तेमाल करने से आयुर्वेद के अनुसार बल, वीर्य की वृद्धि होती है तथा रोग-प्रतिरोधक क्षमता बढ़ती है। इसे पवित्र धातु माना गया है, क्योंकि यह विकृत नहीं होता।

चांदी के बर्तनों की प्रकृति शीतल होने के कारण आयुर्वेद के अनुसार यह पित्त प्रकोप को दूर करने वाली, आंखों की ज्योति बढ़ाने वाली तथा मानसिक शांति और शारीरिक शीतलता प्रदान करने वाली धातु है। इसके बर्तनों को भी पवित्र माना गया है।
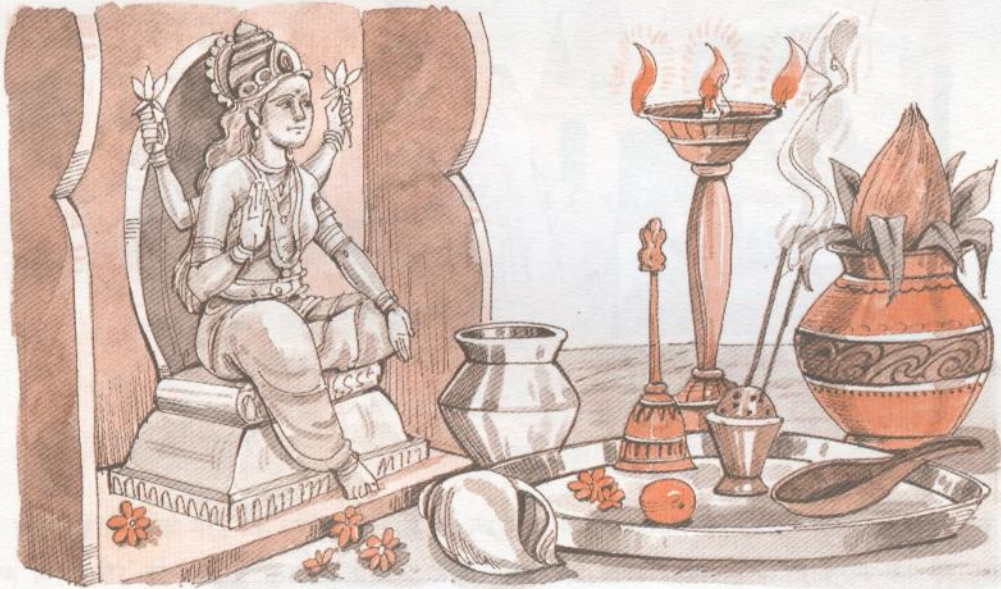
तांबे के बर्तन मंदिरों में अभी भी उपयोग किए जाते हैं। तांबा धातु में जल का शुद्धीकरण करने का गुण है। इसमें रखा बासी पानी पीने से कब्ज की शिकायत दूर होती है। कहा जाता है कि कार्तिकेय स्वामी का शुक्र पृथ्वी पर गिरने से तांबा बन गया। आयुर्वेद के अनुसार यह अनेक रोगों को नष्ट करता है। इसके बर्तन जो रोजाना साफ किए गए हों, पवित्र माने जाते हैं।

कांसे और पीतल धातु को भी पवित्र माना गया है। कांसे के बर्तन से पित्त की शुद्धि होती है और बुद्धि बढ़ती है। पीतल के बर्तनों की प्रकृति गर्म होने के कारण इसमें पका भोजन कफनाशक होता है। इन बर्तनों में कीटाणुओं को नष्ट करने की भरपूर क्षमता होती है, लेकिन इसमें रखी खट्टी चीजें विष तुल्य हो जाती हैं।

लोहा, स्टैनलेस स्टील और एल्युमीनियम की धातु को पूजा-पाठ में उपयोग करना वर्जित किया गया है, क्योंकि ये अपवित्र मानी गई हैं। इसीलिए इन धातुओं की न तो देवी-देवताओं की मूर्तियां बनती हैं

और न ही इन्हें पूजा-पाठ आदि धार्मिक कार्यों में प्रयुक्त किया जाता है। लोहे में हवा-पानी लगने पर जंग लगती है और एल्युमीनियम को रगड़ने पर कालिख निकलती है, इसलिए इन्हें विकृत धातुएं कहा गया है।

शास्त्रकारों का कहना है कि सभी प्रकार के धातु-पात्र भस्मी से रगड़कर साफ, शुद्ध होते हैं। **मनुस्मृति** में लिखा है–

निर्लेप कांचनं भांडमद्भिरेव विशुध्यति।
अब्जमश्ममयंचैव राजतं चानुपस्कृतम्॥ *–मनुस्मृति 5/112*

अर्थात् स्वर्ण, सीपी, शंख, पत्थर और चांदी के पात्र केवल जल से शुद्ध हो जाते हैं। ये पात्र निर्लेप होने चाहिए अर्थात् उनमें धारियां या खरोंच नहीं हों अथवा सोने और चांदी में मिलावट न हो।

54. पूजा से पहले स्नान आवश्यक क्यों?

कूर्मपुराण के अध्याय 18, श्लोक 6 से 9 में कहा गया है–'दृष्ट और अदृष्ट फल देने वाले प्रातःकालीन शुभ स्नान की सभी प्रशंसा करते हैं। नित्य प्रातः काल स्नान करने से ही ऋषियों का ऋषित्व है। सोये हुए व्यक्ति के मुख से निरंतर लार बहती रहती है, अतः सर्वप्रथम स्नान किए बिना कोई कर्म नहीं करना चाहिए। प्रातः स्नान से अलक्ष्मी, कालकर्णी, दुःस्वप्न, बुरे विचार और अन्य पाप दूर हो जाते हैं, इसमें संदेह नहीं। बिना स्नान के मनुष्यों को पवित्र करने वाला कोई कर्म नहीं बतलाया गया है। अतः होम तथा जप के समय विशेष रूप से स्नान करना चाहिए।

इसमें कोई संदेह नहीं कि पवित्रता, शुद्धता, स्वच्छता मानव जीवन को ऊंचा उठाने के लिए एक महत्त्वपूर्ण सद्गुण है। शरीर को स्वस्थ, मन को प्रसन्न और आत्मा को शांत रखने में पवित्रीकरण का बड़ा योगदान है। शरीर और मन दोनों की पवित्रता से स्नान का वास्तविक अर्थ पूरा होता है। अतः पूजा-पाठ, योग-साधना की प्रारंभिक योग्यता प्राप्त करने के लिए सबसे पहले शरीर और उसके पश्चात् मन का स्वच्छ, पवित्र होना जरूरी है।

पवित्रता बाहरी और भीतरी दो प्रकार की होती है। जल, मिट्टी, साबुन के द्वारा शरीर और वस्त्र की शुद्धि तथा न्याय से उपार्जित सात्विक आहार से बाहरी पवित्रता आती है, जबकि काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, ममता, राग, द्वेष, ईर्ष्या, छल, कपट आदि विकारों को नष्ट करने, त्यागने से भीतरी यानी अंतःकरण की पवित्रता आती है।

श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में कहा है कि भगवान् के भक्त में पवित्रता की पराकाष्ठा होती है। इसके मन, बुद्धि, इंद्रिय, आचरण और शरीर आदि इतने पवित्र हो जाते हैं कि उसके साथ वार्त्ता, दर्शन और स्पर्श मात्र से ही दूसरे लोग पवित्र हो जाते हैं। ऐसा भक्त जहां निवास करता है, वहां का स्थान, वायुमंडल, जल आदि सब पवित्र हो जाते हैं।

नित्य स्नान की महिमा बताते हुए धर्म शास्त्रकार यक्ष कहते हैं–'नौ द्वारों वाला यह शरीर अत्यंत मलिन है। नवों द्वारों से प्रति दिन मल निकलता रहता है, जिससे शरीर दूषित हो जाता है। यह मल प्रायः स्नान से दूर हो जाता है और शरीर भी निर्मल हो जाता है। बिना स्नान आदि से पवित्र हुए जप, होम, देवपूजन आदि कोई भी कर्म नहीं करना चाहिए।

स्नान से लाभों के संबंध में कहा गया है–

गुणा दश स्नानकृतो हि पुंसो रूपं च तेजश्च बलं च शौचम्।
आयुष्यमारोग्यमलोलुपत्वं दुःस्वप्ननाशं च तपश्च मेधा॥ *–विश्वामित्र स्मृति 1/86*

अर्थात् विधि पूर्वक नित्य प्रातः काल स्नान करने वाले को रूप, तेज, बल, पवित्रता, आयु, आरोग्य, निर्लोभता, तप और मेधा प्राप्त होते हैं तथा उसके दुःस्वप्नों का नाश होता है।

स्नान की महत्ता **भविष्यपुराण** में इस तरह से बताई गई है–

नैर्मल्यं भावशुद्धिश्च विना स्नानं न युज्यते।
तस्मात् कायविशुद्ध्यर्थं स्नानमादौ विधीयते॥
अनुद्धतैरुद्धतैर्वा जलैः स्नानं समाचरेत्। *–भविष्यपुराण, उत्तरा. 123/1-3*

अर्थात् स्नान के बिना चित्त की निर्मलता और भावशुद्धि नहीं आती। अतएव शरीर की शुद्धि के लिए सर्वप्रथम स्नान का ही विधान है। नदी आदि में जल में प्रवेश कर और कूप आदि पर जल को बाहर निकाल कर स्नान करना चाहिए।

देवी भागवत में स्नान की महत्ता के संबंध में कहा गया है–

अस्नातस्त क्रियाः सर्वा भवन्ति बिफला यतः।
तस्मात्प्रातश्चरेत्स्नानं नित्यमेव दिने दिने॥ *–देवी भागवत/रुद्राक्ष माहात्म्य/7*

अर्थात् प्रातः स्नान के न करने से दिन भर के सभी कर्म फलहीन हो जाते हैं, इसलिए प्रातः स्नान प्रतिदिन अवश्य करना चाहिए।

स्कंदपुराण में स्नान के संबंध में कहा गया है–

न जलाप्लुतदेहस्य स्नानमित्यभिधीयते।
स स्नातो यो दमस्नातः शुचिः शुद्धनोमलः॥ *–काशीखंड/अध्याय 6*

अर्थात् जल में शरीर को डुबो लेना ही स्नान नहीं कहलाता। जिसने दमरूपी तीर्थ में स्नान किया है–मन, इंद्रियों को वश में कर रखा है, उसी ने वास्तव में स्नान किया है। जिसने मन का मैल धो डाला है, वही शुद्ध है।

55. यजमान व पूजा सामग्री पर जल के छींटे क्यों?

पूजा-पाठ हो या कोई और धार्मिक कार्य, उसमें जब यजमान को आसन पर बैठाया जाता है, तो सबसे पहले उस पर जल छिड़कते हुए पंडित यह मंत्रोच्चारण करते हैं–

ॐ अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा,
यः स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं सःवाह्याभ्यन्तरः शुचिः।

अर्थात् चाहे अपवित्र हो या पवित्र–किसी भी अवस्था में हो, यदि वह विष्णु भगवान् को याद कर ले, तो पवित्र हो जाता है।

यों तो हर व्यक्ति पूजा-पाठ आदि धार्मिक कर्मकांडों के लिए बैठने से पूर्व ही स्नान आदि कर शारीरिक रूप से पवित्र हो चुका होता है, लेकिन मंत्रोच्चार पूर्वक छिड़के गए जल से यजमान का मन पूजा-पाठ करने के लिए केंद्रित हो जाता है। इस प्रकार जल छिड़कने से पवित्रता का बोध होता है।
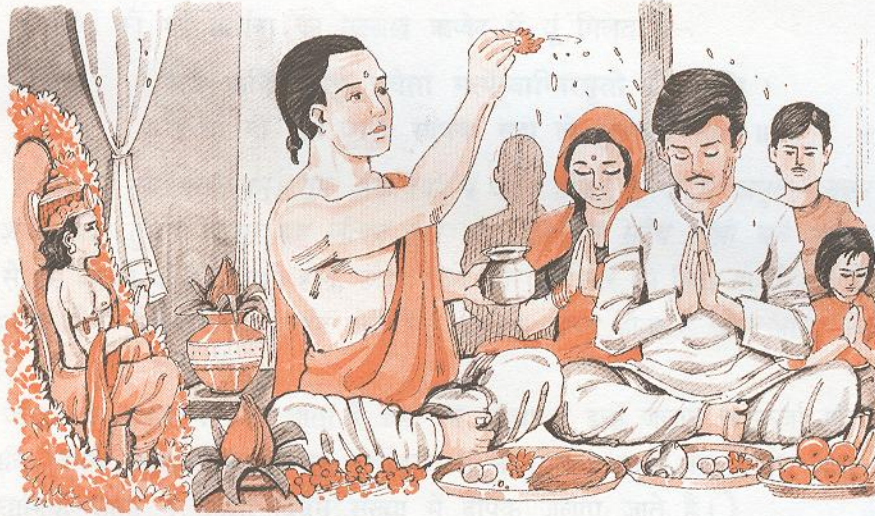
जल छिड़कने के पीछे मान्यताएं यह हैं कि–

- भगवान् विष्णु क्षीरसागर में सोए हुए हैं और उनकी नाभि से कमल का पुष्प खिलता हुआ निकलता है, जिसमें से ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई है। ब्रह्मा से जगत की उत्पत्ति हुई है। अतः जल के माध्यम से अपने मूल उद्‌गम का हम ध्यान कर सकें।
- कमल जल में पैदा होने के बावजूद उस पर जल की बूंद नहीं ठहरती। इसके इस गुण को अनासक्ति का प्रतीक माना गया है और कामना यही की जाती है कि यजमान अनासक्त जीवन जीने का प्रयास करें।

- जल को जीवन कहा गया है और उसके बिना जीवन नहीं चल सकता। अतः पूजा-पाठ के समय पवित्र जीवनदायक जल का स्मरण किया जाता है।
- जल को सभी पापों का नाश करने वाला माना गया है। अग्नि का शमन करने वाला जल हमेशा ऊष्मा को खींचता है। हमारे शरीर के वस्त्रों पर लगे रोगाणु, विषाणु जल के छींटों की मार से उड़ जाते हैं। उल्लेखनीय है कि शंख में भरा जल सुवासित एवं रोगाणुरहित होकर शुद्ध हो जाता है, जिसको छिड़कने से कीटाणु नष्ट होते हैं।

56. पूजा-पाठ में दीपक जलाना अनिवार्य क्यों?

भारतीय संस्कृति में प्रत्येक धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक कार्यक्रम में दीप प्रज्वलित करने की परंपरा है। ऐसी मान्यता है कि अग्निदेव को साक्षी मानकर उसकी उपस्थिति में किए कार्य अवश्य ही सफल होते हैं। हमारे शरीर की रचना में सहायक पांच तत्त्वों में से एक अग्नि भी है। दूसरे अग्नि पृथ्वी पर सूर्य का परिवर्तित रूप है। इसीलिए किसी भी देवी-देवता के पूजन के समय ऊर्जा को केंद्रीभूत करने के लिए दीपक प्रज्वलित किया जाता है।

दीपक का जो असाधारण महत्त्व बताया गया है, उसके पीछे अन्य मान्यता यह है कि प्रकाश ज्ञान का प्रतीक है। परमात्मा प्रकाश और ज्ञान-रूप में ही सब जगह व्याप्त है। ज्ञान प्राप्त करने से अज्ञान रूपी मनोविकार दूर होते हैं और सांसारिक शूल मिटते हैं। इसलिए प्रकाश की पूजा को ही परमात्मा की पूजा कहा गया है। मंदिर में आरती करते समय दीपक जलाने के पीछे उद्देश्य यही होता है कि प्रभु हमारे मन से अज्ञान रूपी अंधकार को दूर करके ज्ञान रूपी प्रकाश फैलाएं। गहरे अंधकार से मुझे परम प्रकाश की ओर ले चलें। मृत्यु से अमरता की ओर हमें ले चलें।

प्रकाश के लिए की गई प्रार्थना का उल्लेख **ऋग्वेद** में यूं मिलता है–

अयं कविरकविषु प्रचेता मर्त्येष्वाग्निरमृतो नि धायि ।
स मा नो अत्र जुहुरः सहस्वः सदा त्वे सुमनसः स्याम ॥ —*ऋग्वेद 7/4/4*

अर्थात् हे प्रकाश रूप परमात्मन्! तुम अकवियों में कवि होकर, मृत्यों में अमृत बनकर निवास करते हो। हे प्रकाश स्वरूप! तुमसे हमारा यह जीवन दुख न पाए। हम सदैव सुखी बने रहें।

दीपक से हमें जीवन के ऊर्ध्वगामी होने, ऊंचा उठने और अंधकार को मिटा डालने की भी प्रेरणा मिलती है। इसके अलावा दीप ज्योति से पाप नष्ट होते हैं। शत्रु का शमन होता है और आयु, आरोग्य, पुण्यमय, सुखमय जीवन की वृद्धि होती है।

दीपक जलाने के संबंध में कहा जाता है कि सम संख्या में इन्हें जलाने से ऊर्जा संवहन निष्क्रिय हो जाता है, जबकि विषम संख्या में जलाने पर वातावरण में सकारात्मक ऊर्जा का निर्माण होता है। यही वजह है कि बड़े धार्मिक कार्यों में हमेशा विषम संख्या में दीपक जलाए जाते हैं।

दीपक की लौ के संबंध में मान्यता यह है कि उत्तर दिशा की ओर लौ रखने से स्वास्थ्य और प्रसन्नता बढ़ती है, पूर्व दिशा की ओर लौ रखने से आयु की वृद्धि होती है, पश्चिम की ओर लौ रखने से दुख में वृद्धि होती है और दक्षिण की ओर लौ रखने से हानि पहुंचती है।

अखंड रामायण पाठ में 24 घंटे, नवरात्र में पूरे नौ दिन और कई मंदिरों में भगवान् के सम्मुख अखंड दीपक जलाए जाते हैं, जिसका उद्देश्य धार्मिक अनुष्ठान को सफल बनाना और अपने आराध्य देव की कृपा प्राप्त करना होता है। इसके अलावा ऐसा भी माना जाता है कि जब तक दीपक जलता रहता है, तब तक भगवान् स्वयं उस स्थान पर उपस्थिति रहते हैं, इसलिए वहां पर मांगी गई मन्नतें शीघ्र पूरी होती हैं। अखंड दीपक को एक बार जलाने के बाद जब तक संकल्प पूरा न हो जाए, बीच में बुझाना अनिष्टकारक होता है। अतः सोच-समझ कर ही अखंड ज्योति जलाने का संकल्प लेना चाहिए।

57. नारियल शुभ, समृद्धि और सम्मान का प्रतीक क्यों?

हिंदुओं के प्रत्येक धार्मिक उत्सवों, पूजा-पाठ और शुभ कार्यों की शुरुआत में सर्वप्रथम नारियल को याद किया जाता है। इसे शुभ, समृद्धि, सम्मान, उन्नति और सौभाग्य का प्रतीक माना जाता है। देवी-देवताओं को नारियल की भेंट चढ़ाने का प्रचलन आम है। प्रत्येक शुभ कार्य में नारियल पर कुंकुम की पांच बिंदियां लगाकर कलश पर चढ़ाया या पूजन में रखा जाता है। किसी व्यक्ति को सम्मानित कर कुछ भेंट दी जाती है, तो उसके साथ पवित्रता का प्रतीक नारियल ऊपर रखकर दिए जाने की परंपरा है। कुछ प्रदेशों में, शरद पूर्णिमा की रात्रि को वरुण देव की पूजा में नारियल समर्पित करने का विशेष माहात्म्य माना जाता है।
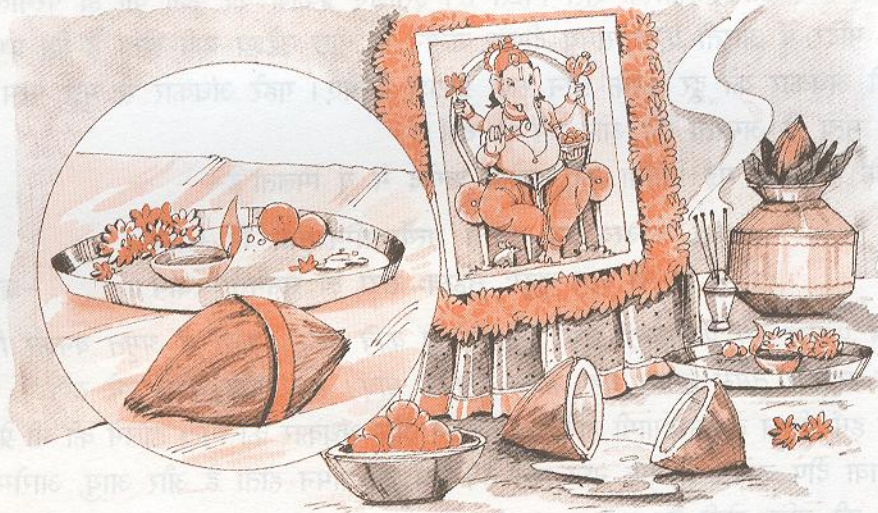
आमतौर पर नारियल को फोड़कर ही उसे आराध्य देवी-देवताओं को चढ़ाया जाता है, लेकिन कुछ लोग मन्नत मानकर पूरा नारियल ही भेंट चढ़ाते हैं। नारियल को कुछ लोग शिव भगवान् का परम प्रिय फल भी मानते हैं, क्योंकि उसमें बनी हुई तीन आंखों को त्रिनेत्र का प्रतीक माना जाता है।

ऐसा कहा जाता है कि जहां मानव की बलि दी जाती थी, वहां नारियल की भेंट चढ़ा देने से बलि के समकक्ष ही फल की प्राप्ति होती है, क्योंकि इसे मानव सिर का पर्याय भी माना गया है। इसकी भेंट को रक्त की बलि के समान ही मान्यता प्रदान की गई है। तंत्र साधना के लिए भी नारियल एक महत्त्वपूर्ण फल है।

नारियल में ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीनों ही देवताओं का वास माना जाता है। शास्त्रों की सीख के अनुसार व्यक्ति को नारियल की तरह ही ऊपर से कठोर तथा भीतर से नरम और दयालु होना चाहिए। ऊपर से कठोर आवरणयुक्त नारियल भीतर से नरम, मुलायम और अमृततुल्य जल लिए होता है।

पौराणिक कथाओं के अनुसार नारियल के वृक्ष से जो भी मांगा जाता है, मिल जाता है। इसलिए इसे कल्पवृक्ष कहते हैं। नारियल दक्षिण में समुद्र के किनारे की भूमि में उगता है उत्तर में हरेक पूजा में नारियल का प्रयोग उत्तर-दक्षिण की एकता का प्रतीक भी है।

58. धार्मिक कर्म में मौलि या कलावा बांधने की प्रथा क्यों?

शास्त्र मत है कि मौलि बांधने से त्रिदेव ब्रह्मा, विष्णु और महेश तथा तीनों देवियों लक्ष्मी, दुर्गा और सरस्वती की कृपा प्राप्त होती है। ब्रह्मा की अनुकंपा से कीर्ति और विष्णु की कृपा से रक्षा बल मिलता है तथा महेश दुर्गुणों का विनाश करते हैं। इसी प्रकार लक्ष्मी से धन, दुर्गा से शक्ति एवं प्रशासन करने की क्षमता और सरस्वती की कृपा से बुद्धि प्राप्त होती है। शरीर विज्ञान की दृष्टि से मौलि बांधने से त्रिदोष वात, पित्त और कफ का शरीर पर आक्रमण नहीं होता, जिससे स्वास्थ्य उत्तम बना रहता है। उल्लेखनीय है कि मौलि या कलावा बांधने की परंपरा तब से चली आ रही है, जब से दान देने में अग्रणी राजा बलि की अमरता के लिए वामन भगवान् ने उनकी कलाई में यह रक्षा सूत्र बांधा था। शास्त्रों में कहा गया है–

येन बद्धो बलीराजा दानवेन्द्रो महाबलः।
तेन त्वामनुबध्नामि रक्षे माचल माचल॥

मौलि का शाब्दिक अर्थ है–सबसे ऊपर, जिसका तात्पर्य सिर से भी है। शंकर भगवान् के सिर पर चंद्रमा विराजमान होने के कारण उन्हें चंद्रमौलि भी कहा जाता है।

59. पूजा-पाठ और कर्मकांडों में संकल्प अनिवार्य क्यों?

इसमें कोई संदेह नहीं कि आज तक जितने भी कार्य सिद्ध हुए हैं, उनमें व्यक्ति की साधना और संकल्प शक्ति का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। संकल्पवान व्यक्ति ही किसी भी प्रकार की सिद्धि का हकदार है और अपने लक्ष्य को पाने की योग्यता रखता है। वह जिस कार्य को हाथ में लेता है, उसे पूरे मन और बुद्धि से पूर्ण करने के लिए अडिग व एकनिष्ठ होता है।

आमतौर पर संकल्प को दृढ़ इच्छा-शक्ति, विचार विमर्श की दृढ़ता, निजी प्रयोजन की मानसिक कल्पना और इरादों, किसी निश्चित रुचि की पूर्ति की चाह के लिए मानसिक विचार तथा चिन्तन, कर्म का मूल, कर्म का प्रेरक और कामना का मूल भी कहते हैं।

पूर्ण श्रद्धा, आत्मविश्वास, एकाग्रता के साथ किसी शुभ कार्य, जैसे—पूजा-पाठ आदि कर्मकांड को पूर्ण करने वाली धारणाशक्ति का नाम ही संकल्प है। उल्लेखनीय है कि दान और यज्ञ का पुण्य तभी प्राप्त होता है, जब संकल्प सहित उन्हें पूरा किया जाता है।

मनुस्मृति में लिखा है—

संकल्पमूलः काम्यो वै यज्ञाः संकल्पसंभवाः।
व्रतानि यमधर्माश्च सर्वे संकल्पजाः स्मृताः॥

—मनुस्मृति 2/3

अर्थात् कामना का मूल संकल्प ही होता है और यज्ञ संकल्प से ही होते हैं। व्रत, यज्ञादि समस्त धर्मानुष्ठानों का आधार संकल्प ही कहा गया है।

संकल्प के माध्यम से हमें अपने गोत्र, जाति व अन्य विशेषताओं का निरंतर स्मरण रहता है और गौरव की अनुभूति होती है। इसी से व्यक्ति द्वारा किए गए दुष्कर्मों का नाश होकर शक्ति और स्फूर्ति मिलती है।

पुरोहित संकल्प के द्वारा जल ग्रहण कराते हैं, ताकि जिस काम को यजमान करने जा रहा है, उस कार्य को पूरा करने में प्रभु उसकी पूर्ण मदद करें, क्योंकि वह उसके प्रति संकल्पबद्ध है। चूंकि जल में वरुण देव का निवास माना गया है, अतः उसे ग्रहण कर संकल्प का पालन न करने वाले को वे कठोर दंड देते हैं। **वेद में लिखा है—अप्सु वै वरुण** *(तैत्तिरीय 16/3/6)* **तथा अनृते खलु वै क्रियमाणे वरुणो गृह्णाति** *(तैत्तिरीय 1/7/2/6)*। इसलिए जीवन में जल का विशेष महत्त्व है। धर्मानुष्ठानों के अलावा मरणोपरांत पितृ-तर्पण में भी जल की विशेष जरूरत होती है।

60. देव मूर्ति की परिक्रमा का महत्त्व क्यों?

परिक्रमा करना कोरा अंधविश्वास नहीं, बल्कि यह विज्ञान सम्मत है। जिस स्थान या मंदिर में विधि-विधानानुसार प्राण प्रतिष्ठित देवी-देवता की मूर्ति स्थापित की जाती है उस स्थान के मध्य बिंदु से प्रतिमा के कुछ मीटर की दूरी तक उस शक्ति की दिव्य प्रभा रहती है, जो पास में अधिक गहरी और बढ़ती दूरी के हिसाब से कम होती चली जाती है। ऐसे में प्रतिमा की पास से परिक्रमा करने से शक्तियों के ज्योतिर्मंडल से निकलने वाले तेज की हमें सहज ही प्राप्ति हो जाती है।

चूंकि दैवीय शक्ति की आभा मंडल की गति दक्षिणवर्ती होती है, अतः उनकी दिव्य प्रभा सदैव ही दक्षिण की ओर गतिमान होती है। यही कारण है कि **दाएं हाथ की ओर से परिक्रमा किया जाना श्रेष्ठ माना गया है**। यानी दाहिने हाथ की ओर से घूमना ही प्रदक्षिणा का सही अर्थ है। हम अपने इष्ट देवी-देवता की मूर्ति की, विविध शक्तियों की प्रभा या तेज को परिक्रमा करके प्राप्त कर सकते हैं। उनका यह तेजदान वरदान स्वरूप विघ्नों, संकटों, विपत्तियों का नाश करने में समर्थ होता है। इसलिए परंपरा है कि पूजा-पाठ, अभिषेक आदि कृत्य करने के बाद देवी-देवता की परिक्रमा अवश्य करनी चाहिए।
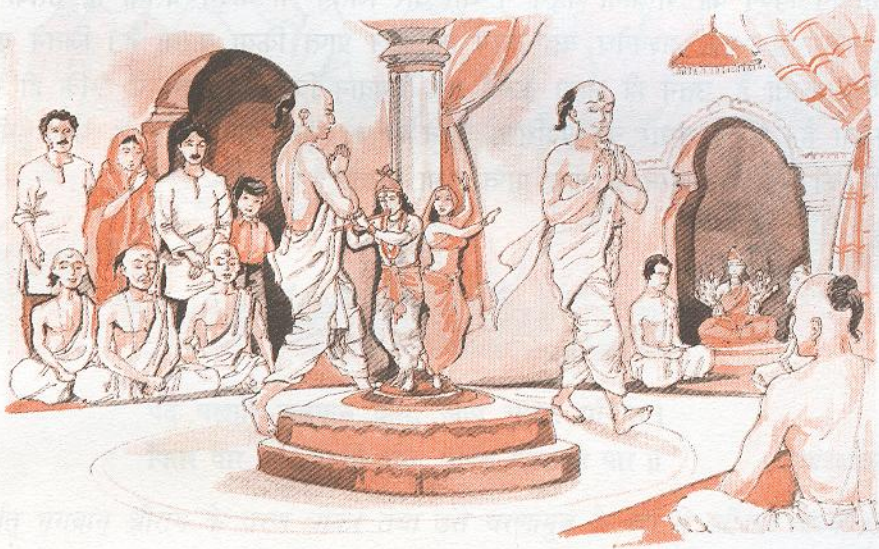
कहा जाता है कि प्रतिमा की शक्ति की जितनी अधिक परिक्रमा की जाए, उतना ही वह लाभप्रद होती है। फिर भी कृष्ण भगवान् की तीन परिक्रमा की जाती है। देवी जी की एक परिक्रमा करने का विधान है। आमतौर पर पांच, ग्यारह परिक्रमा करने का सामान्य नियम है। *शास्त्रों में भगवान् शंकर की परिक्रमा करते समय अभिषेक की धार को न लांघने का विधान बताया गया है।* इसलिए इनकी पूरी परिक्रमा न कर आधी की जाती है और आधी वापस उसी तरफ लौटकर की जाती है। मान्यता यह है कि शंकर भगवान् के तेज की लहरों की गतियां बाईं और दाईं दोनों ओर होती हैं।

उलटी यानी विपरीत वामवर्ती (बाएं हाथ की तरफ से) परिक्रमा करने से दैवीय शक्ति के ज्योतिर्मंडल की गति और हमारे अंदर विद्यमान दिव्य परमाणुओं में टकराव पैदा होता है। परिणामस्वरूप हमारा तेज नष्ट हो जाता है। इसीलिए वामवर्ती परिक्रमा को वर्जित किया गया है। इसे पाप स्वरूप बताया गया है। इसके घातक परिणाम उस दैवीय शक्ति पर निर्भर करते हैं, जिसकी विपरीत परिक्रमा की गई है। जाने या अनजाने में की गई उलटी परिक्रमा का दुष्परिणाम तो भुगतना ही पड़ता है।

परिक्रमा करने वाले श्रद्धालुओं को कुछ बातों की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। जिस देवी-देवता की परिक्रमा की जा रही है, उसकी परिक्रमा के दौरान उसका मंत्र जाप मन में करें। मन में निंदा, बुराई, दुर्भावना, क्रोध, तनाव आदि विकार न आने दें। जूते, चप्पल निकाल कर नंगे पैर ही परिक्रमा करें। हंसते-हंसते, बातचीत करते-करते, खाते-पीते, धक्का-मुक्की करते हुए परिक्रमा न करें। परिक्रमा के दौरान दैवी शक्ति से याचना न करें। देवी-देवता को प्रिय तुलसी, रुद्राक्ष, कमलगट्टे की माला उपलब्ध हो, तो धारण करें। परिक्रमाएं पूर्ण कर अंत में प्रतिमा को साष्टांग प्रणाम कर पूर्ण श्रद्धा और विश्वास के साथ आशीर्वाद हेतु प्रार्थना करें।

पदम्पुराण में हरिपूजा विधि वर्णन के अंतर्गत श्लोक 115-117 में कहा गया है कि भक्तिभाव से जो मनुष्य भगवान् विष्णु की परिक्रमा करने में धीरे-धीरे जितने भी कदम चलता है, उसके एक-एक पद के चलने में मनुष्य एक-एक अश्वमेध यज्ञ करने का फल प्राप्त किया करता है। जितने कदम प्रदक्षिणा करते हुए भक्त चलता है, उतने ही सहस्र कल्पों तक भगवान् विष्णु के धाम में उनके ही साथ प्रसन्नता से निवास करता है। संपूर्ण संसार की प्रदक्षिणा करने से जो पुण्य प्राप्त होता है, उनके भी करोड़ गुणा अधिक श्रीहरि की प्रदक्षिणा करने में फल प्राप्त हुआ करता है।

61. भगवान् के चरणामृत सेवन का महत्त्व क्यों?

मंदिरों में प्रतिदिन प्रातःकाल एवं सायंकाल आरती के पश्चात् भगवान् का चरणामृत दिया जाता है। चरणामृत का जल हमेशा तांबे के पात्र में रखने का विधान है, क्योंकि आयुर्वेदिक मतानुसार तांबे में अनेक रोगों को नष्ट करने की शक्ति होती है। इसका जल मेधा, बुद्धि, स्मरण शक्ति को बढ़ाता है। इसमें तुलसीदल डालने के पीछे मान्यता यह है कि तुलसी का पत्ता महौषधि है। इसमें न केवल रोगनाशक गुण होते हैं, बल्कि कीटाणुनाशक शक्ति भी होती है।

जिन्हें भगवान् में पूर्ण श्रद्धा और विश्वास होता है, उनके लिए निश्चय ही चरण-जल का सेवन अमृत के समान गुणकारी सिद्ध होता है। संत तुलसीदास ने श्री **रामचरितमानस** में लिखा है—
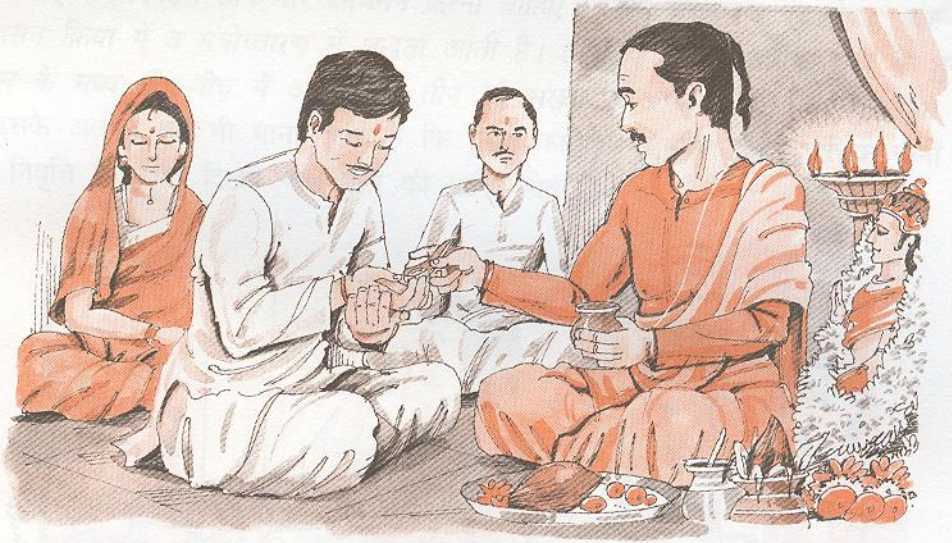
पद पखारि जलपान करि, आपु सहित परिवार।
पितर पार करि प्रभुहिं पुनि, मुदित गयउ लै पार॥

—अयोध्याकांड/दोहा 101

अर्थात् भगवान् श्रीराम के चरण धोकर तथा उसे चरणामृत के रूप में स्वीकार करके केवट न केवल स्वयं भव-बाधा से पार हो गया, बल्कि उसने अपने पूर्वजों को भी तार दिया।

रणवीर भक्तिरत्नाकर में चरणामृत की महत्ता यूं बताई गई है—

पापव्याधिविनाशार्थं विष्णुपादोदकौषधम्।
तुलसीदलसम्मिश्रं जलं सर्षपमात्रकम्॥

—रणवीर भक्तिरत्नाकर बृहन्ना

अर्थात् पाप और व्याधि (रोग) दूर करने के लिए भगवान् का चरणामृत एक औषधि तुल्य है। यदि उसमें तुलसीपत्र भी मिला दिया जाए, तो उसके गुणों में और भी वृद्धि हो जाती है।

चरणामृत का सेवन करते समय निम्न श्लोक पढ़ने का विधान है–

अकालमृत्युहरणं सर्वव्याधिविनाशनम्।
विष्णुपादोदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते॥ *–रणवीर भक्तिरत्नाकर*

अर्थात् चरणामृत अकाल मृत्यु को दूर रखता है। सभी प्रकार की बीमारियों का नाश करता है। इसके सेवन से पुनर्जन्म नहीं होता और भवबंधन कट जाता है। इस प्रकार देखें, तो भगवान् का चरणामृत भक्तों के सभी प्रकार के आर्तों (दुख और रोग) तथा सब पापों का नाश करता है। हमें चरणामृत पान करने से शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक लाभ होते हैं। इसीलिए हम इसे ग्रहण कर अपने को धन्य समझते हैं।

62. आचमन तीन बार ही क्यों?

धर्मग्रंथों में तीन बार आचमन करने के संबंध में कहा गया है–

प्रथमं यत् पिवति तेन ऋग्वेदं प्रीणाति ।
यद् द्वितीयं तेन यजुर्वेदं प्रीणाति, यद् तृतीयं तेन सामवेदं प्रीणाति ॥

अर्थात् तीन बार आचमन करने से तीनों वेद यानी–ऋग्वेद, यजुर्वेद व सामवेद प्रसन्न होकर सभी मनोकामनाएं पूर्ण करते हैं। **मनु महाराज** के मतानुसार–

त्रिराचमेदपः पूर्वम *–मनुस्मृति 2/60*

अर्थात् सबसे पहले तीन बार आचमन करना चाहिए। इससे कंठशोषण दूर होकर, कफ़ निवृत्ति के कारण श्वसन क्रिया में व मंत्रोच्चारण में शुद्धता आती है। इसीलिए प्रत्येक धार्मिक कृत्य के शुरू में और संध्योपासन के मध्य बीच-बीच में अनेक बार तीन की संख्या में आचमन का विधान बनाया गया है।

इसके अलावा यह भी माना जाता है कि इससे कायिक, मानसिक और वाचिक तीनों प्रकार के पापों की निवृत्ति होकर न दिखने वाले फल की प्राप्ति होती है।
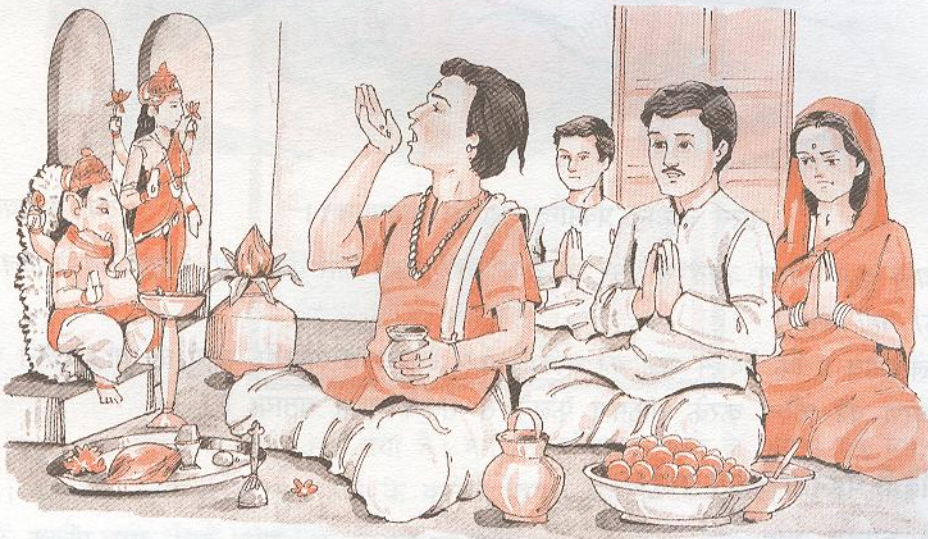
आचमन करने के बारे में **मनुस्मृति** में कहा गया है कि ब्राह्मतीर्थ यानी अंगूठे के मूल के नीचे से इसे करें अथवा प्राजापत्य तीर्थ यानी कनिष्ठ उंगली के नीचे से या देवतीर्थ यानी उंगली के अग्रभाग से करें, लेकिन पितृतीर्थ यानी अंगूठा व तर्जनी के मध्य से आचमन न करें, क्योंकि इससे पितरों को तर्पण किया जाता है, इसलिए यह वर्जित है। आचमन करने की एक अन्य विधि **बोधायन** में भी बताई गई है, जिसके अनुसार हाथ को गाय के कान की तरह आकृति प्रदान कर तीन बार जल पीने को कहा गया है।

63. धार्मिक कर्म में कुश का महत्त्व क्यों?

धार्मिक अनुष्ठानों में कुश (दर्भ) नामक घास से निर्मित आसन बिछाया जाता है। पूजा-पाठ आदि कर्मकांड करने से व्यक्ति के भीतर जमा आध्यात्मिक शक्ति-पुंज का संचय कहीं लीक होकर अर्थ न हो जाए अर्थात् पृथ्वी में न समा जाए, उसके लिए कुश का आसन विद्युत् कुचालक का कार्य करता है। इस आसन के कारण पार्थिव विद्युत प्रवाह पैरों के माध्यम से शक्ति को नष्ट नहीं होने देता है। कहा जाता है कि कुश के बने आसन पर बैठकर मंत्र जाप करने से सभी मंत्र सिद्ध होते हैं।
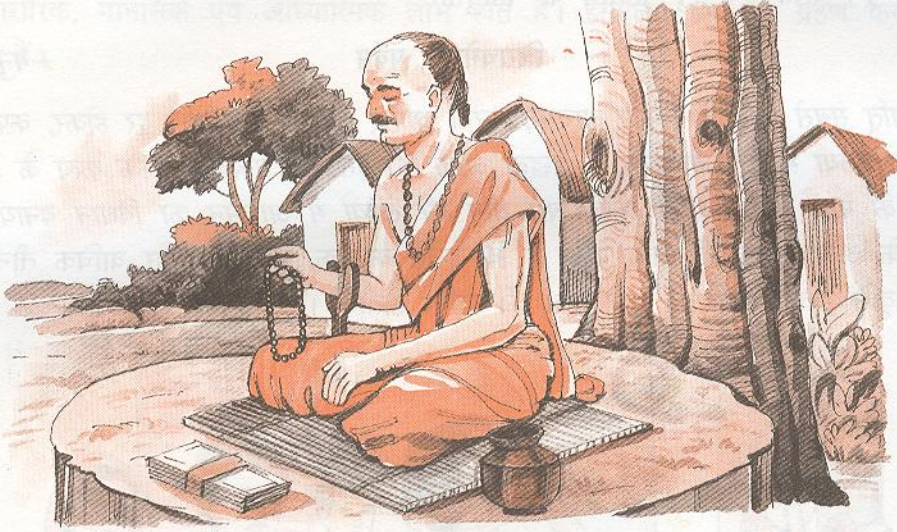
नास्य केशान् प्रवपन्ति, नोरसि ताडमाध्नते। *—देवी भागवत 19/32*

अर्थात् कुश धारण करने से सिर के बाल नहीं झड़ते और छाती में आघात यानी दिल का दौरा (हार्ट अटैक) नहीं होता।

उल्लेखनीय है कि वेद ने कुश को तत्काल फल देने वाली औषधि, आयु की वृद्धि करने वाला और दूषित वातावरण को पवित्र करके संक्रमण फैलने से रोकने वाला बताया है।

कुश की पवित्री पहनना जरूरी क्यों?

कुश की अंगूठी बनाकर अनामिका उंगली में पहनने का विधान है, ताकि हाथ द्वारा संचित आध्यात्मिक शक्ति पुंज दूसरी उंगलियों में न जाए, क्योंकि अनामिका के मूल में सूर्य का स्थान होने के कारण यह सूर्य की उंगली है। सूर्य से हमें जीवनी शक्ति, तेज और यश प्राप्त होता है। दूसरा कारण इस ऊर्जा को पृथ्वी में जाने से रोकना भी है। कर्मकांड के दौरान यदि भूलवश हाथ भूमि पर लग जाए, तो बीच में कुश का ही स्पर्श होगा। इसलिए कुश को हाथ में भी धारण किया जाता है। इसके पीछे मान्यता यह भी है कि हाथ की ऊर्जा की रक्षा न की जाए, तो इसका दुष्परिणाम हमारे मस्तिष्क और हृदय पर पड़ता है।

64. शुभ कार्यों में नवग्रहों का पूजन क्यों?

मान्यता यह है कि आकाश में विद्यमान नवग्रह सूर्य, चंद्र, बृहस्पति, शुक्र, केतु, मंगल, बुध, शनि और राहु मिलकर संसार और मनुष्य के संपूर्ण जीवन को नियंत्रित करते हैं। इसीलिए हम जब कोई शुभ कार्य, पूजा-पाठ, अनुष्ठान प्रारंभ करते हैं, तो सबसे पहले नवग्रह यानी नौ ग्रहों का पूजन करते हैं, ताकि उनके दुष्प्रभावों को कम किया जा सके।

हमारे ऋषि-मुनियों ने यह माना है कि ग्रह, नक्षत्र आदि की किरणें पृथ्वी से टकराती हैं तथा सभी पर अपना प्रभाव डालती हैं। कोई भी ग्रह, नक्षत्र अथवा तारा बदलने अथवा उदय-अस्त होने पर हमारे खून की धाराएं बदल जाती हैं। अन्य अंगों पर भी उनका व्यापक असर होता है। हमारे शरीर में सूर्य के कोषाणु स्थित हैं, जिनकी वजह से जो सूर्य पर घटित होता है, उसका प्रभाव हमारे शरीर पर भी होता है। हमारे रक्त के एक-एक कण में सूर्य के अणु व्याप्त हैं। सूर्य को आध्यात्मिक शक्ति का पुंज माना गया है। यह अत्यंत तेजस्वी और दीप्तिमान है। सूर्य की उपासना करने वाले भक्तों को अनेक वरदान मिलते हैं।
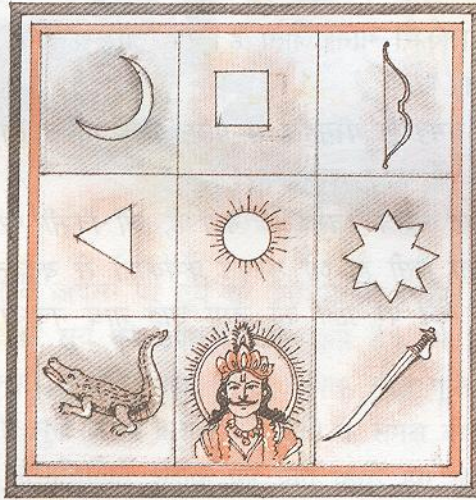
चंद्रमा को औषधिपति भी कहा गया है। मन का संचालन करने के कारण इसे मन का राजा भी कहते हैं। बृहस्पति देवताओं के गुरु होने के कारण देवगुरु कहलाते हैं। उनके पास अनंत शक्ति है, वे नक्षत्रों में सबसे भारी भी हैं। इसीलिए वे गुरु कहलाए। शुक्र ग्रह से यश, मान, सम्मान, शारीरिक सुख और वीर्य की प्राप्ति होती है। केतु, राहु का ही अंश है। यह पूरे दिन और रात आकाश में चक्कर लगाता है। जब राहु ऊपर होता है, तब केतु नीचे रहता है। केतु अशुभ फल देने वाला माना जाता है।

मंगल को कार्तिकेय का स्वरूप कहा गया है, जो देवताओं के सेनापति हैं। यह ग्रह बड़ा ही क्रूर ग्रह माना गया है और परम बलशाली भी। बुध ग्रह बुद्धिमान, तीक्ष्ण यानी कुशाग्र मस्तिष्क वाला है। शनि को सर्वाधिक कष्ट देने वाला ग्रह माना जाता है। राहु भी शनि की तरह कष्टकारक माना गया है।

याज्ञवल्क्य स्मृति आचाराध्याय 294 में कहा गया है–

श्रीकामः शान्तिकामो वा ग्रहयज्ञं समाचरेत्।

अर्थात् श्री और शांति की कामना करने वाले मनुष्य को ग्रह यज्ञ यानी नवग्रह पूजन कराना चाहिए।

इनके पूजन से ग्रहों के चेतन तत्त्व को जाग्रत कर दुष्प्रभावों को दूर करने की कोशिश की जाती है और ग्रहों की सूक्ष्म अनुकूल शुभ रश्मियों के द्वारा घर के वातावरण को शुद्ध करके, पूरे परिवार के लिए मंगल कामनाएं की जाती हैं।

मान्यता यह भी है कि मानव शरीर में सूर्य ने आत्मा फूंकी, चंद्र ने मन का संचालन किया, मंगल ने रक्त संचार किया, बुध ने कल्पना शक्ति, बृहस्पति ने ज्ञान, शुक्र ने वीर्य और शनि ने सुख-दुख की अनुभूति प्रदान की है।

बुध ग्रह बुद्धिमान, तीक्ष्ण यानी कुशाग्र मस्तिष्क वाला माना जाता है। बृहस्पति के पास अनंत शक्ति है और वह नक्षत्रों में सबसे भारी माना जाता है इसीलिए बृहस्पति को सबका गुरु कहा जाता है।

शनि की दृष्टि को अमंगलकारी माना जाता है। राहु और केतु के दुष्प्रभावों को ध्यान में रखकर नवग्रहों की पूजा-पाठ किया जाता है।

एक महिला जिज्ञासु ने रामकृष्ण परमहंस से पूछा–'क्या पंडित लोग ग्रहों की पूजा-प्रार्थना करके उनकी प्रतिकूलता को अनुकूलता में बदल सकते हैं?'

परमहंस जी ने कहा–'ग्रह नक्षत्र इतने क्षुद्र नहीं हैं, जो किसी पर अकारण उलटे-सीधे होते रहें और न उनकी प्रसन्नता-अप्रसन्नता ऐसी है, जो छुटपुट कर्मकांडों से बदलती रहे, पंडितों के पास उनकी एजेंसी भी नहीं कि उन्हें दक्षिणा देने पर ग्रहों को जैसा चाहे नाच नचाया जा सके।'

65. सूर्य की उपासना में जल (अर्घ्य) क्यों दिया जाता है?

सूर्योपनिषद् के अनुसार समस्त देव, गंधर्व, ऋषि भी सूर्य रश्मियों में निवास करते हैं। सूर्य की उपासना के बिना किसी का कल्याण संभव नहीं है, भले ही अमरत्व प्राप्त करने वाले देव ही क्यों न हों। **स्कंदपुराण** में कहा गया है कि सूर्य को अर्घ्य दिए बिना भोजन करना, पाप खाने के समान है। भारतीय चिंतक पद्धति के अनुसार सूर्योपासना किए बिना कोई भी मानव किसी भी शुभ कर्म का अधिकारी नहीं बन सकता।
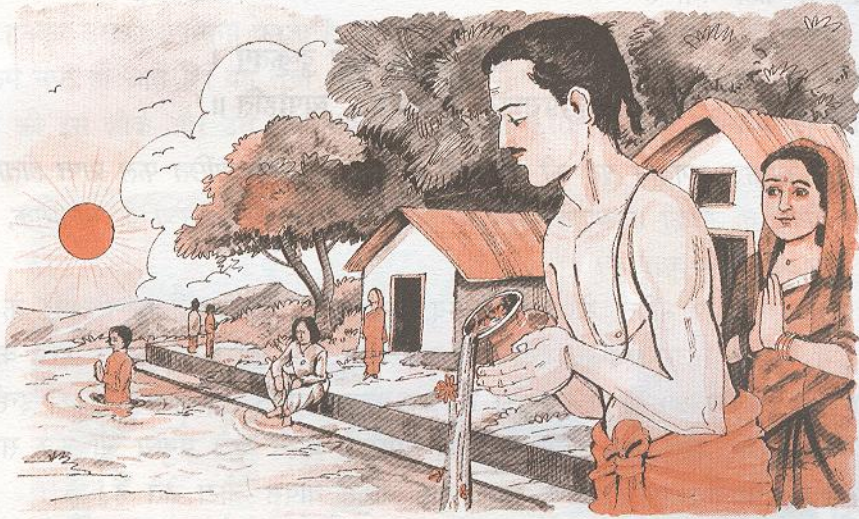
संक्रांतियों तथा सूर्य षष्ठी के अवसर पर सूर्य की उपासना का विशेष विधान बनाया गया है। सामान्य विधि के अनुसार प्रत्येक रविवार को सूर्य की उपासना की जाती है। वैसे प्रतिदिन प्रातःकाल रक्तचंदन से मंडल बनाकर तांबे के लोटे (कलश) में जल, लाल चंदन, चावल, लाल फूल और कुश आदि रखकर घुटने टेककर प्रसन्न मन से सूर्य की ओर मुख करके कलश को छाती के समक्ष बीचों-बीच लाकर सूर्य मंत्र, गायत्री मंत्र का जाप करते हुए अथवा निम्नलिखित श्लोक का पाठ करते हुए जल की धारा धीरे-धीरे प्रवाहित कर भगवान् सूर्य को अर्घ्य देकर पुष्पांजलि अर्पित करना चाहिए। इस समय दृष्टि को कलश के धारा वाले किनारे पर रखेंगे, तो सूर्य का प्रतिबिंब एक छोटे बिंदु के रूप में दिखाई देगा। एकाग्र मन से देखने पर सप्तरंगों का वलय भी नज़र आएगा। फिर परिक्रमा एवं नमस्कार करें।

सिन्दूरवर्णाय सुमण्डलाय नमोऽस्तु वज्राभारणाय तुभ्यम् ।
पद्माभनेत्राय सुपंकजाय ब्रह्मेन्द्रनारायणकारणाय ॥
सरक्तचूर्णं ससुवर्णतोयंस्त्रक्कुंकुमाढ्यं सकुशं सपुष्पम् ।
प्रदत्तमादायसहेमपात्रं प्रशस्तमर्घ्यं भगवन् प्रसीद ॥

—शिवपुराण के. सं. 6/39-40

अर्थात् सिंदूर वर्ण के से सुंदर मंडल वाले, हीरक रत्नादि आभरणों से अलंकृत, कमलनेत्र, हाथ में कमल लिए, ब्रह्मा, विष्णु और इंद्रादि (संपूर्ण सृष्टि) के मूल कारण हे प्रभो! हे आदित्य! आपको नमस्कार है। भगवन! आप सुवर्ण पात्र में रक्तवर्ण चूर्ण कुंकुम, कुश, पुष्पमालादि से युक्त, रक्तवर्णिम जल द्वारा दिए गए श्रेष्ठ अर्घ्य को ग्रहण कर प्रसन्न हों।

उल्लेखनीय है कि इससे भगवान् सूर्य प्रसन्न होकर आयु, आरोग्य, धन-धान्य, क्षेत्र, पुत्र, मित्र, तेज, वीर्य, यश, कांति, विद्या, वैभव और सौभाग्य आदि प्रदान करते हैं। और सूर्यलोक की प्राप्ति होती है।

ब्रह्मपुराण में कहा गया है–

मानसं वाचिकं वापि कायजं यच्च दुष्कृतम् ।
सर्व सूर्यप्रसादेन तदशेषं व्यपोहति ॥

अर्थात् जो उपासक भगवान् सूर्य की उपासना करते हैं, उन्हें मनोवांछित फल प्राप्त होता है। उपासक के सम्मुख प्रकट होकर वे उसकी इच्छापूर्ति करते हैं और उनकी कृपा से मनुष्य के मानसिक, वाचिक तथा शारीरिक सभी पाप नष्ट हो जाते हैं।

ऋग्वेद में सूर्य से पाप मुक्ति, रोगनाश, दीर्घायु, सुख प्राप्ति, दरिद्रता निवारण आदि के लिए प्रार्थना की गई है। वेदों में ओजस्, तेजस् एवं ब्रह्मवर्चस्व की प्राप्ति के लिए सूर्य की उपासना करने का विधान है।

ब्रह्मपुराण के अध्याय 29-30 में सूर्य को सर्वश्रेष्ठ देवता मानते हुए सभी देवों को इन्हीं का प्रकाश स्वरूप बताया गया है और कहा गया है कि सूर्य की उपासना करने वाले मनुष्य जो कुछ सामग्री सूर्य के लिए अर्पित करते हैं, भगवान् भास्कर उन्हें लाख गुना करके वापस लौटा देते हैं।

स्कंदपुराण *काशी खंड 9/45-48* में सविता सूर्य आराधना द्वारा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष अर्थात् चतुर्वर्ग की फल प्राप्ति का वर्णन है। धन, धान्य, आयु, आरोग्य, पुत्र, पशुधन, विविध भोग एवं स्वर्ग आदि सूर्य की उपासना करने से प्राप्त होते हैं।

यजुर्वेद अध्याय 13 मंत्र 43 में कहा गया है कि सूर्य की सविता की आराधना इसलिए भी की जानी चाहिए कि वह मानव मात्र के समस्त शुभ और अशुभ कर्मों के साक्षी हैं। उनसे हमारा कोई भी कार्य या व्यवहार छिपा नहीं रह सकता।

अग्निपुराण में कहा गया है कि गायत्री मंत्र द्वारा सूर्य की उपासना-आराधना करने से वह प्रसन्न होते हैं और साधक का मनोरथ पूर्ण करते हैं।

66. करवा चौथ के दिन चंद्रमा की पूजा क्यों?

स्त्रियों के ऐसे अनेक व्रत और त्योहार होते हैं, जिनमें दिन भर उपवास के बाद रात्रि में जब चंद्रमा उदय हो जाता है, तब अर्घ्य देकर तथा विधिवत् उसकी पूजा करने के उपरांत ही वे अन्न-जल ग्रहण करती हैं। सौभाग्य, पुत्र, धन-धान्य, पति की रक्षा एवं संकट टालने के लिए चंद्रमा की पूजा की जाती है। करवाचौथ का व्रत सुहागिन स्त्रियां अपने अखंड सुहाग और पति के स्वस्थ व दीर्घायु होने की मंगल कामना हेतु करती हैं।

छांदोग्य उपनिषद् के चौथा प्रपाठक : बारहवें खंड में कहा गया है कि जो चंद्रमा में पुरुष रूपी ब्रह्म को इस प्रकार जानकर उसकी उपासना करता है, वह उज्ज्वल जीवन व्यतीत करता है, उसके सारे कष्ट दूर होते हैं, सारे पाप कर्म नष्ट हो जाते हैं। वह लंबी और पूर्ण आयु पाता है। उसके वंशज भी इसी फल को पाते हैं। मैं उन प्राणियों की इस लोक और उस लोक (परलोक) में रक्षा करता हूं, ऐसा **अग्निदेव** का उपदेश है।
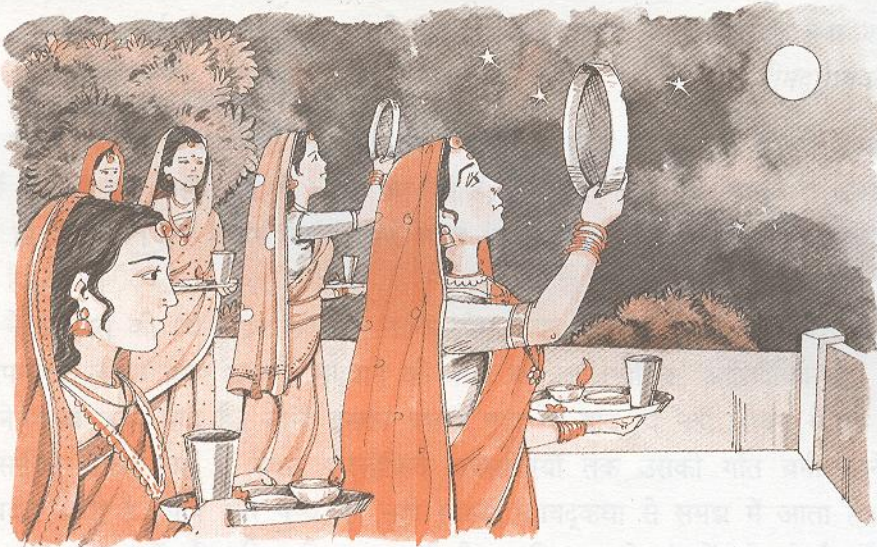
चंद्रमा मन का देवता है और मन की चंचलता को नियंत्रित करता है। इसे पराशक्ति का प्रतीक माना गया है। हमारे शरीर में दोनों भ्रुवों (भौंहों) के मध्य मस्तक पर चंद्रमा का स्थान माना गया है। यहां पर रोली, चंदन आदि का टीका और बिंदी लगाई जाती है, जो चंद्रमा को प्रसन्न कर मन का नियंत्रण करती है।

हठयोग में चंद्रमा का सहयोग जरूरी माना गया है। **तंत्रशास्त्र** में भी चंद्रमा को विशेष महत्त्व प्रदान किया गया है।

महादेव शिव के मस्तिष्क पर अर्धचंद्र की उपस्थिति उनके योगी स्वरूप को प्रकट करती है। अर्धचंद्र को आशा का प्रतीक मानकर पूजा जाता है।

ब्रह्मवैवर्तपुराण में वर्णित कथा के अनुसार चंद्रमा का विवाह दक्ष प्रजापति की कन्याओं से हुआ था। जब चंद्रमा ने दक्ष की बेटियों पर पूरा ध्यान नहीं दिया तो, वे नाराज होकर अपने पिता के पास पहुंचीं। दक्ष

ने क्रोधित होकर चंद्रमा को क्षय रोग से पीड़ित होने का शाप दे दिया। चंद्रमा ने शिव से प्रार्थना कर उन्हें प्रसन्न किया। शिवजी ने चंद्रमा को अपने मस्तक पर ले लिया। इस पर दक्ष ने चंद्रमा को सौंपने को कहा अन्यथा शाप देने की चेतावनी दी। शिवजी विष्णु भगवान् के पास पहुंचे। उन्होंने चंद्रमा के दो रूप कर दिए। एक को दक्ष को सौंप दिया और दूसरा भगवान् शिव के मस्तक पर बैठा दिया। इस प्रकार दक्ष का शाप भी बना रहा और चंद्रमा शाप-मुक्त भी है। शाप के प्रभाव से चंद्रमा महीने में 15 दिन घटता है और 15 दिन तक धीरे-धीरे बढ़ता है।

67. सत्संग और कथा प्रवचन सुनने का महत्त्व क्यों?

हमारे देश का पौराणिक और धार्मिक कथा साहित्य बड़ा समृद्धिशाली है। ऋषि-मुनियों ने भारतीय ज्ञान, नीति, सत्य, प्रेम, न्याय, संयम, धर्म तथा उच्चकोटि के नैतिक सिद्धांतों को जनता तक पहुंचाने के लिए बड़े ही मनोवैज्ञानिक ढंग से अनेक प्रकार की धार्मिक कथाओं की रचना की है।

इनमें दुष्ट प्रवृत्तियों की हमेशा हार दिखाकर उन्हें छोड़ने की प्रेरणा दी गई है। इस प्रकार ये कथाएं हमें पाप बुद्धि से छुड़ाती हैं। हमारी नैतिक बुद्धि को जगाती हैं, जिससे मनुष्य सभ्य, सुसंस्कृत और पवित्र बनता है। भगवान् की कथा को भव-भेषज, सांसारिक कष्ट, पीड़ाओं और पतन से मुक्ति दिलाने वाली औषधि कहा जाता है। इसलिए कथा सुनने तथा सत्संग का बहुत महत्त्व है।

वेदव्यास ने कथा श्रवण एवं सत्संग के संबंध में कहा है–

प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेण स्वानां भावसरोरूहम्। धुनोति शमलं कृष्णसलिलस्य यथा शरत् ॥
धौतात्मा पुरुषः कृष्णपादमूलं न कुंचति।

–श्रीमद्भागवत 2/8/5-6

नियमित कथा श्रवण एवं सत्संग से भगवान् अपने भक्तों के हृदय में विराजते हैं एवं उनके अंतःकरण के समस्त दोषों को धुन-धुन करके वैसे ही स्वच्छ कर देते हैं, जैसे शरद् ऋतु के आगमन से समस्त जलाशयों का जल स्वच्छ हो जाता है। इस प्रकार निर्मल चित्त भक्त भगवान् के श्रीचरणों को अपने हृदय में प्रेम-रज्जु से बांध लेता है।

वेदव्यास ने भागवत् की रचना इसलिए की, ताकि लोग कथा के द्वारा ईश्वर के आदर्श रूप को समझें और उसको अपनाकर जीवन लाभ उठाएं। भगवान् की कथा को आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक तापों को काटने वाली कहा गया है। यानी इनका प्रभाव मृत्यु के बाद ही नहीं जीवन में भी दिखाई देने लगता है। सांसारिक सफलताओं से लेकर पारलौकिक उपलब्धियों तक उसकी गति बनी रहने से जीवन की दिशा ही बदल जाती है। पाप और पुण्य का सही स्वरूप भगवद्कथा से समझ में आता है। इसे अपना कर पापों का क्षय तथा पुण्यों की वृद्धि की जा सकती है। व्यक्ति अपने बंधनों को छोड़ने और तोड़ने में सफल हो जाता है तथा मुक्ति का अधिकारी बन जाता है। इसके अलावा कथा सुनने से जीवन की समस्याओं, कुंठाओं, विडंबनाओं का समाधान आसानी से मिल जाता है।

आत्मानुशासन 5 में कहा गया है कि जो बुद्धिमान् हो, जिसने समस्त शास्त्रों का रहस्य प्राप्त किया हो, लोक मर्यादा जिसके प्रकट हुई हो, कांतिमान हो, उपशमी हो, प्रश्न करने से पहले ही जिसने उत्तर देखा हो, बाहुल्यता से प्रश्नों को सहनेवाला हो, प्रभु हो, परकी तथा परके द्वारा अपनी निंदारहितपने से पर के मन को हरने वाला हो, गुणनिधान हो, स्पष्ट और मधुर जिसके वचन हों, ऐसा सभा का नायक धर्मकथा कहे।

स्कंदपुराण में सूतजी कहते हैं–'श्रीमद्भागवत का जो श्रवण करता है, वह अवश्य ही भगवान् के दर्शन करता है, किंतु कथा का श्रवण तथा पाठन श्रद्धा भक्ति, आस्था के साथ-साथ विधि पूर्वक होना चाहिए अन्यथा सुफल की प्राप्ति नहीं होती।'

श्रीमद्भागवत 5/19/24 में लिखा है कि जहां भगवत्कथा की अमृतमयी सरिता नहीं बहती, जहां उसके कहने वाले भक्त, साधुजन निवास नहीं करते–वह चाहे ब्रह्मलोक ही क्यों न हो, उसका सेवन नहीं करना चाहिए।

धार्मिक कथा, प्रवचन आदि का माहात्म्य केवल उसके सुनने मात्र तक ही सीमित नहीं है, बल्कि उन पर श्रद्धापूर्वक मनन, चिंतन और आचरण करने में है। श्रद्धा के बिना मात्र जग दिखावे के लिए कथा आदि सुनने का कोई फल नहीं मिलता। एक बार किसी भक्त ने नारद से पूछा–'भगवान् की कथा के प्रभाव से लोगों के अंदर ज्ञान और वैराग्य के भाव जागने और पुष्ट होने चाहिए, वह क्यों नहीं होते?'

नारद ने कहा–'ब्राह्मण लोग केवल अन्न, धनादि के लोभवश घर-घर एवं जन-जन को भागवत कथा सुनाने लगे हैं, इसलिए कथा का प्रभाव चला गया।'

वीतराग शुकदेवजी के मुंह से राजा परीक्षित ने भागवतपुराण की कथा सुनकर मुक्ति प्राप्त की और स्वर्ग चले गए। शुकदेव ने परमार्थ भाव से कथा कही थी और परीक्षित ने उसे आत्म कल्याण के लिए पूर्ण श्रद्धा भाव से सुनकर आत्मा में उतार लिया था, इसलिए उन्हें मोक्ष मिला।

सत्संग के विषय में कहा जाता है कि भगवान् की कथाएं कहने वाले और सुनने वाले दोनों का ही मन और शरीर दिव्य एवं तेजोमय होता चला जाता है। इसी तरह कथा सुनने से पाप कट जाते हैं और प्रभु कृपा सुलभ होकर परमानंद की अनुभूति होती है। भय, विपत्ति, रोग, दरिद्रता में सांत्वना, उत्साह और प्रेरणा की प्राप्ति होती है। मन और आत्मा की चिकित्सा, पुनरुद्धार, प्राण संचार की अद्भुत शक्तियां मिलती हैं। विपत्ति में धैर्य, आवेश में विवेक व कल्याण चिंतन में मदद प्राप्त होती है।

68. वृक्षों की पूजा-उपासना क्यों?

भारतीय संस्कृति में वृक्षों का विशेष महत्त्व है, क्योंकि वे हमारे जीवन के प्राण हैं। पुराणों तथा धर्म-ग्रंथों में पेड़-पौधों को बड़ा पवित्र और देवता के रूप में माना जाता है, इसलिए उनके साथ पारिवारिक संबंध बनाए जाते हैं। जब से वैज्ञानिकों ने यह सिद्ध कर दिया है कि पेड़-पौधों में भी जीवन होता है, लोक विश्वासों में दृढ़ता आई है, इसलिए पाप और पुण्य की अवधारणा भी उसके साथ जुड़ गई है और देव तुल्य वृक्षों का संरक्षण पुण्य व उनका विनाश करना पाप स्वरूप माना जाने लगा है।
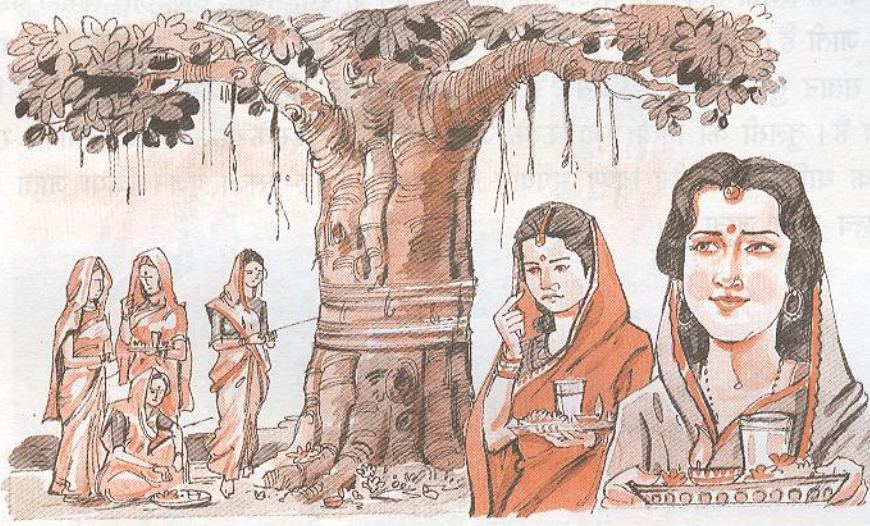
धर्म ग्रंथों के अनुसार जो मनुष्य वृक्षों का आरोपण करते हैं, वे वृक्ष परलोक में उसके पुत्र होकर जन्म लेते हैं। जो वृक्षों का दान करता है, वृक्षों के पुष्पों द्वारा देवताओं को प्रसन्न करता है और मेघ के बरसने पर छाता के द्वारा अभ्यागतों को तथा जल से पितरों को प्रसन्न करता है। पुष्पों का दान करने से समृद्धिशाली होता है।

ऋग्वेद में वृक्षों को काटने या नष्ट करने की निंदा की गई है–

मा काकम्बीरमुद्वृहो वनस्पतिम शस्तीर्वि हि नीनशः।
मोत सूरो अह एवा चन ग्रीवा आदधते वेः॥ –*ऋग्वेद 6/48/17*

अर्थात् जिस प्रकार दुष्ट बाज पक्षी दूसरे पखेरुओं की गरदन मरोड़ कर उन्हें दुख देता है और मार डालता है, तुम वैसे न बनो और इन वृक्षों को दुख न दो। इनका उच्छेदन न करो, ये पशु-पक्षियों और जीव-जंतुओं को शरण देते हैं।

मनुस्मृति में वृक्षों की योनि पूर्व जन्म के कारण मानी गई है और इन्हें जीवित एवं सुख-दुख का अनुभव करने वाला माना गया है। परम पिता परमात्मा ने वृक्ष का आविर्भाव संसार में परोपकार के लिए ही किया

है, ताकि वह सदैव परोपकार में ही रत रहे। खुद भीषण धूप, गर्मी में रहकर दूसरों को छाया प्रदान करना और अपना सर्वस्व दूसरों के कल्याण के लिए अर्पित कर देना वृक्ष का सत्पुरुष के समान ही आचरण को दर्शाता है। वृक्षों की छाया में बैठकर ही हमारे न जाने कितने ही ऋषि-मुनियों ने तपस्याएं की हैं।

'वट सावित्री' के अवसर पर स्त्रियां अचल सौभाग्य देने वाले बरगद के वृक्ष की पूजा करती हैं। गुरुवार के दिन केले के वृक्ष की पूजा की जाती है। इसके पत्ते पर भोजन करना शुभ माना जाता है। पारिजात वृक्ष को कल्पवृक्ष मानकर पूजा जाता है। अशोकाष्टमी के दिन अशोक वृक्ष की पूजा दुख को मिटाकर आशा को पूर्ण करने के लिए की जाती है। आंवले के वृक्ष में भगवान् विष्णु का निवास मानकर कार्तिक मास में इसकी पूजा, परिक्रमा करके स्त्रियां सुहाग का वरदान मांगती हैं। आम के पत्ते, मंजरी, छाल और लकड़ी यज्ञ व अनुष्ठानों में उपयोग की जाती हैं। पीपल के वृक्ष में ब्रह्मा, विष्णु और महेश का वास माना जाता है। इस पर जल चढ़ाने, पूजा करने से संतान सुख मिलता है। इसके तने पर सूत लपेटना और परिक्रमा लगाने का भी विधान शास्त्रों में बताया गया है। तुलसी की नित्य पूजा करके जल चढ़ाना और इसके पास दीपक जलाकर रखना भारतीय नारियों का एक धार्मिक कृत्य है। विष्णु भगवान् की प्रिया मानकर इसका पूजन किया जाता है। तुलसीदल का काफी महत्त्व माना जाता है।

69. तुलसी का विशेष महत्त्व क्यों?

प्राचीन मान्यताओं के अनुसार हर हिंदू घर के आंगन में कम-से-कम एक तुलसी का पौधा अवश्य होना चाहिए। कार्तिक मास में तुलसी का पौधा लगाने का बड़ा माहात्म्य माना गया है **स्कंदपुराण** में लिखा है कि इस मास में जो जितने तुलसी के पौधे लगाता है, वह उतने ही जन्मों के पापों से मुक्त हो जाता है। **पद्मपुराण** में उल्लेख है कि जिस घर में तुलसी का उद्यान होता है, वह तीर्थ रूप होता है और उसमें यमराज के दूतों का प्रवेश नहीं होता। जिस घर की भूमि (आंगन) तुलसी के नीचे की मिट्टी से लिपी रहती है, उसमें रोगों के कीटाणु प्रवेश नहीं करते।
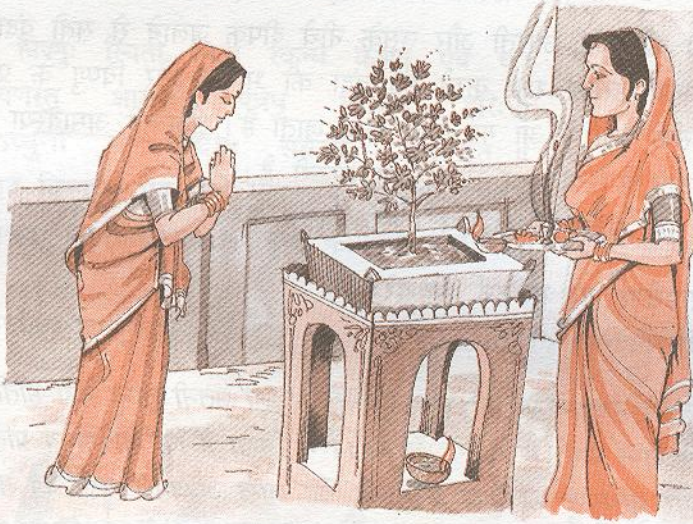
प्राचीन धर्म ग्रंथों में तुलसी की महिमा का खूब वर्णन किया गया है। यहां पर कुछ महत्त्वपूर्ण बातों का संक्षिप्त उल्लेख किया जा रहा है–

तुलसी की गंध को लेकर वायु जिस दिशा में जाती है, वह दिशा तथा वहां रहने वाले सभी प्राणी पवित्र और दोष रहित हो जाते हैं। तुलसी के लगाने और उसकी सेवा करने से बड़े-बड़े पाप भी नष्ट हो जाते हैं। जिस स्थान पर तुलसी का एक भी पौधा होता है, वहां ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि समस्त देवों तथा पुष्कर आदि तीर्थ, गंगा आदि सरिताओं का निवास होता है। अतएव उसकी पूजा-अर्चना करने से समस्त देवों आदि के पूजन का फल मिलता है। कार्तिक मास में तुलसी के दर्शन, स्पर्श और ध्यान करने, अर्चना, आरोपण, सिंचन से अनेक युगों के संगृहीत पापों का समूह नष्ट हो जाता है। तुलसी समस्त सौभाग्यों को देने वाली और आधि-व्याधि को मिटाने वाली है। इसे भगवान् कृष्ण के चरणों में चढ़ाने से मुक्ति प्राप्त होती है। तुलसी के बिना जितने भी कर्मकांड किए जाते हैं, वे सब निष्फल होते हैं। क्योंकि इससे देवता प्रसन्न नहीं होते। जो दान तुलसी के संयोग पूर्वक किया जाता है, वह अपार फलदायी होता है। तुलसी वन की छाया में किया गया श्राद्ध, पितरों के लिए विशेष तृप्तिकारक होता है।

तुलसी के पत्ते यानी तुलसीदल का भी काफी महत्त्व बताया गया है। जो व्यक्ति सदैव तीनों समय तुलसीदल का सेवन करता है, उसका शरीर अनेक चांद्रायण व्रतों के फल की तरह शुद्ध हो जाता है। जो व्यक्ति स्नान के जल में तुलसी डालकर उपयोग में लाता है, वह सब तीर्थों में नहाया हुआ समझा जाता है और सब यज्ञों में बैठने का अधिकारी बनता है। जो व्यक्ति तुलसीदल मिश्रित चरणामृत का नियमित सेवन करता है, वह सब पापों से छुटकारा पाकर अंत में सद्‌गति को प्राप्त करता है, शारीरिक विकारों, रोगों से बचता है और अकाल मृत्यु को प्राप्त नहीं होता। हर पूजा-पाठ में और प्रसाद में तुलसीदल का उपयोग करने का विधान है। मरते हुए व्यक्ति के मुख में तुलसीदल और गंगाजल डालने से त्रिदोष नाशक महौषधि बन जाती है और आत्मा पवित्र होकर मुक्त होती है। दूषित जल के शोधन हेतु तुलसीदल डाला जाता है।

हर शाम तुलसी के पौधे की पूजा, आरती और उसके नीचे दीपक जलाने से सती वृंदा की कृपा मिलती है और भगवान् विष्णु स्वयं उसकी रक्षा करते हैं। वृंदा की भक्ति और विष्णु के प्रति उसका समर्पण-तुलसी की सुगंध और उसके पत्तों में आ गई, ऐसा कहा जाता है। सोमवती अमावस्या को तुलसी की 108 परिक्रमा करने का विधान है। परिक्रमा से दरिद्रता मिटती है।

ब्रह्मवैवर्तपुराण में तुलसी की महत्ता का विशेष वर्णन मिलता है–

सुधाघटसहस्रेण सा तुष्टिर्न भवेद्धरेः।
या च तुष्टिर्भनेवेन्नणां तुलसीपत्र दानतः॥ *–ब्रह्मवैवर्तपुराण/प्रकृतिखंड/21/40*

अर्थात् हजारों घड़े अमृत से नहलाने पर भी भगवान् श्री हरि को उतनी तृप्ति नहीं होती है, जितनी वे तुलसी का एक पत्ता चढ़ाने से प्राप्त करते है। आगे श्लोक 44 में लिखा है कि जो मानव प्रतिदिन तुलसी का पत्ता चढ़ाकर भगवान् श्री हरि नारायण की पूजा करता है, वह लाख अश्वमेध यज्ञों का फल पा लेता है। श्लोक 49 में तो यहां तक लिखा गया है कि मृत्यु के समय जिसके मुख में तुलसी के जल का एक कण भी चला जाता है, वह अवश्य ही विष्णुलोक जाता है।

पद्मपुराण के सर्वमास विधि वर्णन अध्याय श्लोक 11 में कहा गया है कि धात्री के फलों से युक्त तुलसी के दलों से मिले हुए जल से जो कोई भी मानव स्नान किया करता है, उसका भागीरथी गंगा के स्नान का पुण्यफल प्राप्त होता है।

पद्मपुराण में तुलसी को पूर्व जन्म में जलंधर नामक दैत्य की पत्नी वृंदा बतलाया गया है। जलंधर को हराने के लिए विष्णु ने वृंदा का सतीत्व भंग किया और फिर उन्हीं के वरदान से वह तुलसी का पौधा बनकर समस्त लोक में पूजी जाने लगी। इससे मिलती-जुलती घटनाक्रम का ब्यौरा **ब्रह्मवैवर्तपुराण** प्रकृति खंड में भी मिलता है।

वैज्ञानिक दृष्टि से तुलसी शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य के लिए अत्यंत लाभकारी पौधा है। इसके सेवन से गंभीर बीमारियां तक दूर हो जाती हैं और शरीर शक्तिशाली तथा ओजस्वी बन जाता है।

70. पीपल का पूजन क्यों?

तैत्तिरीय संहिता में प्रकृति के सात पावन वृक्षों में पीपल की गणना है और ब्रह्मवैवर्तपुराण में पीपल की पवित्रता के संदर्भ में काफी उल्लेख मिलता है।

पद्मपुराण के अनुसार पीपल का वृक्ष भगवान् विष्णु का रूप है। इसीलिए इसे धार्मिक क्षेत्र में श्रेष्ठ देव वृक्ष की पदवी मिली और इसका विधिवत पूजन आरंभ हुआ। अनेक अवसरों पर पीपल की पूजा का विधान है। सोमवती अमावस्या के दिन पीपल के वृक्ष में साक्षात् भगवान् विष्णु एवं लक्ष्मी का वास होता है।

पुराणों में पीपल *(अश्वत्थ)* का बड़ा महत्त्व बताया गया है–

मूले विष्णुः स्थितो नित्यं स्कन्धे केशव एव च।
नारायणस्तु शाखासु पत्रेषु भगवान् हरिः॥
फलेऽच्युतो न सन्देहः सर्वदेवैः समन्वितः॥
स एव विष्णुर्द्रुम एव मूर्तो महात्मभिः सेवितपुण्यमूलः।
यस्याश्रयः पापसहस्रहन्ता भवेन्नृणां कामदुघो गुणाढ्यः॥

–स्कंदपुराण नागर 247/41-42-44
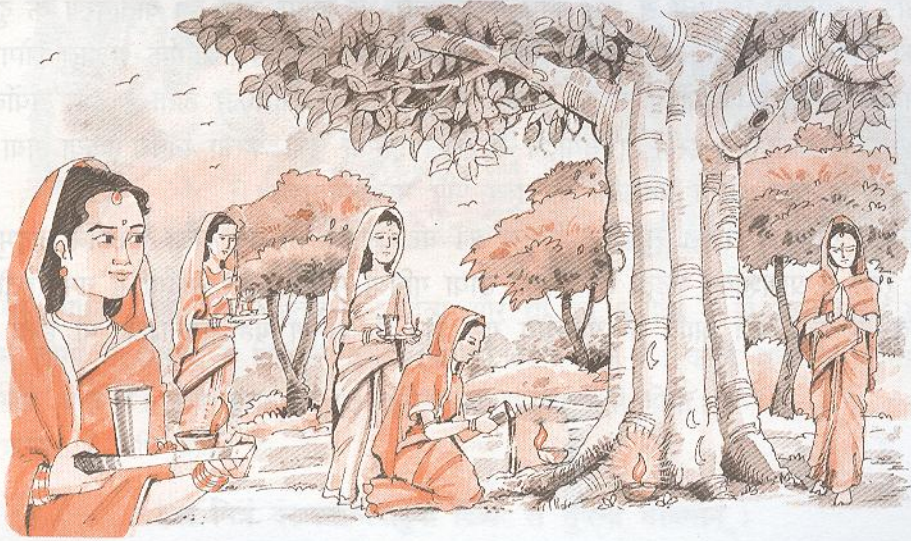
अर्थात् 'पीपल की जड़ में विष्णु, तने में केशव, शाखाओं में नारायण, पत्तों में भगवान् हरि और फल में सब देवताओं से युक्त अच्युत सदा निवास करते हैं। यह वृक्ष मूर्तिमान श्री विष्णुस्वरूप है। महात्मा पुरुष इस वृक्ष के पुण्यमय मूल की सेवा करते हैं। इसका गुणों से युक्त और कामनादायक आश्रय मनुष्यों के हजारों पापों का नाश करने वाला है।'

गीता में भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं—

'अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां' —*श्रीमद्भगवद्गीता 10/26*

अर्थात् मैं सब वृक्षों में पीपल का वृक्ष हूं। इस कथन में उन्होंने अपने आपको पीपल के वृक्ष में समासीन घोषित किया है।

पद्मपुराण के मतानुसार पीपल को प्रणाम करने और उसकी परिक्रमा करने से आयु लंबी होती है। जो व्यक्ति इस वृक्ष को पानी देता है, वह सभी पापों से छुटकारा पाकर स्वर्ग को जाता है। पीपल में पितरों का वास माना गया है। इसमें सब तीर्थों का निवास भी होता है। इसीलिए मुंडन आदि संस्कार पीपल के नीचे करवाने का प्रचलन है।

महिलाओं में यह विश्वास है कि पीपल की निरंतर पूजा-अर्चना, परिक्रमा करके जल चढ़ाते रहने से संतान की प्राप्ति होती है, पुत्र उत्पन्न होता है। पुण्य मिलता है। अदृश्य आत्माएं तृप्त होकर सहायक बन जाती हैं। कामना पूर्ति के लिए पीपल के तने पर सूत लपेटने की भी परंपरा है। पीपल की जड़ में शनिवार को जल चढ़ाने और दीपक जलाने से अनेक प्रकार के कष्टों का निवारण होता है। शनि की जब साढ़ेसाती दशा होती है, तो लोग पीपल के वृक्ष का पूजन और परिक्रमा करते हैं, क्योंकि भगवान् कृष्ण के अनुसार शनि की छाया इस पर रहती है। इसकी छाल यज्ञ, हवन, पूजापाठ, पुराण कथा आदि के लिए श्रेष्ठ मानी गई है। पीपल के पत्तों से शुभ काम में वंदनवार भी बनाए जाते हैं। वातावरण के दूषित तत्त्वों, कीटाणुओं को विनष्ट करने के कारण पीपल को देवतुल्य माना जाता है। धार्मिक श्रद्धालु लोग इसे मंदिर परिसर में अवश्य लगाते हैं। सूर्योदय से पूर्व पीपल पर दरिद्रता का अधिकार होता है और सूर्योदय के बाद लक्ष्मी का अधिकार होता है। इसीलिए सूर्योदय से पहले इसकी पूजा करना निषेध किया गया है। इसके वृक्ष को काटना या नष्ट करना ब्रह्महत्या के तुल्य पाप माना गया है।

वैज्ञानिक दृष्टि से पीपल रात-दिन निरंतर 24 घंटे आक्सीजन देने वाला एकमात्र अद्भुत वृक्ष है। इसके निकट रहने से प्राणशक्ति बढ़ती है। इसकी छाया गर्मियों में ठंडी और सर्दियों में गर्म रहती है। इसके अलावा पीपल के पत्ते, फल आदि में औषधीय गुण होने के कारण यह रोगनाशक भी होता है।

71. अनेक देवी-देवताओं की मान्यता क्यों?

गुण, कर्म, स्वभाव में उत्कृष्ट, दिव्य स्वरूप और इच्छित फल देने की सामर्थ्य जिसके पास है, उसे देवता कहते हैं। कहा जाता है कि हिंदू धर्म में अनगिनत देवी-देवता हैं। **बृहदारण्यक उपनिषद्** के तीसरे अध्याय में याज्ञवल्क्य ने कहा है कि वास्तव में तो देव 33 ही हैं, जिनमें 8 वसु, 11 रुद्र, 12 आदित्य, 1 देवराज इंद्र और 1 प्रजापति सम्मिलित हैं। अग्नि, पृथ्वी, वायु, अंतरिक्ष, आदित्य, द्यौ, चंद्रमा और नक्षत्र ये 8 वसु हैं, जिन पर सारी सृष्टि टिकी हुई है। पांच ज्ञानेंद्रियां, पांच कर्मेंद्रियां और मन (आत्मा) ये 11 रुद्र हैं। संवत्सर के बारह माहों के सूर्यों को आदित्य कहा जाता है। मेघ, इंद्र है और प्रकृति रूप यज्ञमय सारा जीवन प्रजापति है।
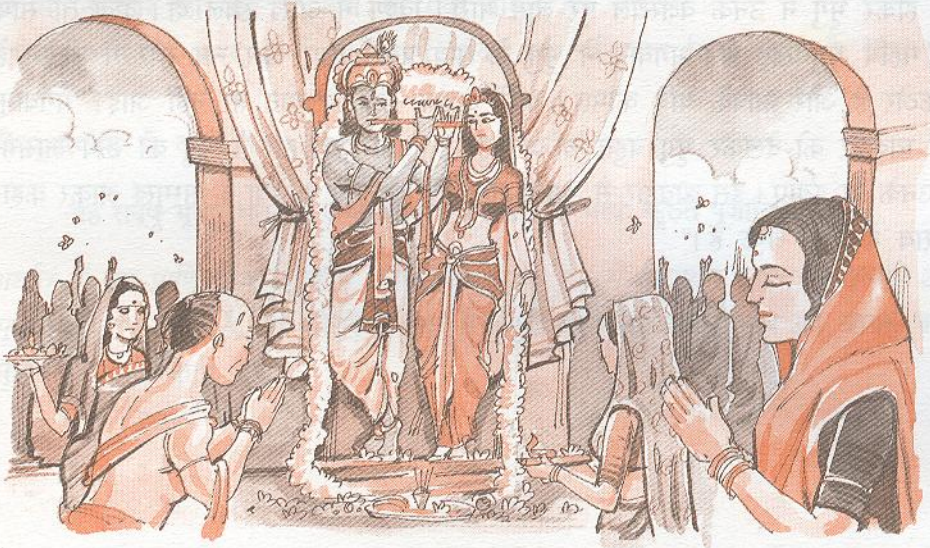
वैसे अग्नि, पृथ्वी, वायु, अंतरिक्ष, आदित्य और द्यौ इन 6 देवों में ही सारा विश्व समा जाता है। किंतु आम लोगों में धारणा है कि 33 कोटि (करोड़) देवता होते हैं। कोटि शब्द के दो अर्थ श्रेणी और करोड़ लगाए जाते हैं। इसी वजह से 33 करोड़ की धारणा बनी होगी।

ऋग्वेद में ऋषि कहते हैं–

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥ —*ऋग्वेद 1/164/46*

अर्थात् एक सत्स्वरूप परमेश्वर को बुद्धिमान् ज्ञानी लोग अनेक प्रकारों से अनेक नामों से पुकारते हैं। उसी को वे अग्नि, यम, मातरिश्वा, इन्द्र, मित्र, वरुण, दिव्य, सुपर्ण, गरुत्मान इत्यादि नामों से याद करते हैं। सारा वैदिक वाङ्मय इसी प्रकार की घोषणाओं से भरा है, जिसमें एक ही तत्त्व को मूलतः स्वीकार करके उसी के अनेक रूपों में ईश्वर को मान्यता दी गई है।

समाज में ब्रह्मा, विष्णु, महेश प्रधान देवता माने जाते हैं और लक्ष्मी, सरस्वती तथा दुर्गा प्रधान देवियां हैं। सब देवों में श्रेष्ठ कौन है, उसके संबंध में एक कथा है–एक बार ऋषियों में विवाद होने लगा कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीनों में कौन देवता सबसे बड़ा है? इसके लिए ब्रह्मा के पुत्र भृगुजी को नियुक्त किया गया। भृगु सबसे पहले ब्रह्माजी के पास ब्रह्मा के लोक में पहुंचे, तो वे पुत्र को देखकर प्रसन्न हुए, लेकिन उसके प्रणाम, स्तुति वंदना न करने से ब्रह्मा क्रोधित होकर बिना कुछ बोले चले गए। फिर भृगुजी कैलास पर्वत पहुंचे, तो शिवजी ने अपने भाई को बड़ी प्रसन्नता से गले लगाने का प्रयास किया, तो भृगुजी ने उद्दंडता से कहा–'मैं आपसे नहीं मिलूंगा, क्योंकि आपने लोक एवं वेद मर्यादा का उल्लंघन किया है।' इस व्यवहार से शिव क्रोधित होकर त्रिशूल उठाकर उन्हें मारने दौड़े। फिर भृगुजी बैकुंठ लोक में पहुंचे। उस समय श्रीहरि विष्णु सोए हुए थे। भृगु बहुत देर तक खड़े रहे, किंतु जब विष्णु की निद्रा भंग न हुई तो क्रोधित होकर भृगु ने उनके वक्षस्थल पर लात मारी। विष्णु ने आंखें खोल दीं। देखा तो सामने क्रोधित अवस्था में महर्षि भृगु खड़े थे। भगवान् ने भृगु के पांव पकड़ लिए और नम्र स्वर में बोले–"हे ऋषिवर! मेरा वक्ष कठोर है और आपके पांव कोमल। कहीं आपके पांव में चोट तो नहीं आई? भगवान् विष्णु के ऐसे प्रेममय व्यवहार को देखकर भृगु बहुत लज्जित हुए। भगवान् श्री हरि ने भृगु को ऊंचे आसन पर स्थान दिया और उनके पैर दबाए। इस व्यवहार से भृगुजी तृप्त हुए। उन्होंने ऋषियों के सम्मुख आकर कहा–"भगवान् विष्णु ही सब देवों में श्रेष्ठ हैं।"

72. मूर्ति पूजा की सार्थकता क्यों?

मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि आस्था एवं भावना को उभारने के लिए व्यक्ति को मूर्ति (चित्र) प्रतीक के लिए चाहिए। आराध्य की मूर्ति की पूजा करके मनुष्य उसके साथ मनोवैज्ञानिक संबंध स्थापित करता है। साधक जब तक मन को वश में कर स्थिर नहीं कर लेता, तब तक उसे पूजा का पूर्ण लाभ नहीं मिलता, इसीलिए मूर्ति की आवश्यकता पड़ती है। इसमें वह असीम सत्ता के दर्शन करना चाहता है और अपनी धार्मिक भावना को विकसित करना चाहता है। भगवान् की भव्य मूर्ति के दर्शन कर हृदय में उनके गुणों का स्मरण होता है और मन को एकाग्र करने में आसानी होती है। जब भगवान् की मूर्ति हृदय में अंकित होकर विराजमान हो जाती है, तो फिर किसी मूर्ति की आवश्यकता शेष नहीं रह जाती। इस तरह मूर्ति पूजा साकार से निराकार की ओर ले जाने का एक साधन है।

उल्लेखनीय है कि भगवान् की प्रतिमा में शक्ति का अधिष्ठान किया जाता है, प्राण प्रतिष्ठा की जाती है।

श्रीमद्भागवत में कहा गया है–

अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मा अवस्थितः तं अवज्ञाय मां मर्त्यः कुरुते पूजाविडम्बनाम्।

अर्थात् मैं सब प्राणियों के हृदय में उनकी आत्मा के रूप में विद्यमान रहता हूं। इसकी उपेक्षा करके जो लोग पूजा का ढोंग करते हैं, वह विडंबना मात्र है। मूर्ति पूजा का संबंध भाव को जाग्रत करने से है। इसीलिए मूर्ति पूजा की जाती है।

73. मकान की नींव में सर्प और कलश क्यों गाड़ा जाता है?

श्रीमद्भागवत महापुराण के पांचवें स्कंद में लिखा है कि पृथ्वी के नीचे पाताल लोक है और इसके स्वामी शेषनाग हैं। भूमि से दस हजार योजन नीचे अतल, अतल से दस हजार योजन नीचे वितल, उससे दस हजार योजन नीचे सतल, इसी क्रम से सब लोक स्थित हैं। अतल, वितल, सतल, तलातल, महातल, रसातल, पाताल ये सातों लोक पाताल स्वर्ग कहलाते हैं। इनमें भी काम, भोग, ऐश्वर्य, आनन्द, विभूति ये वर्तमान हैं। दैत्य, दानव, नाग ये सब वहां आनन्द पूर्वक भोग-विलास करते हुए रहते हैं। इन सब पातालों में अनेक पुरियां प्रकाशमान रहती हैं। इनमें देवलोक की शोभा से भी अधिक बाटिका और उपवन हैं। इन पातालों में सूर्य आदि ग्रहों के न होने से दिन-रात्रि का विभाग नहीं है। इस कारण काल का भय नहीं रहता है। यहां बड़े-बड़े नागों के सिर की मणियां अंधकार दूर करती रहती हैं। पाताल में ही नाग लोक के पति वासुकी आदि नाग रहते हैं।

श्री शुकदेव के मतानुसार पाताल से तीस हजार योजन दूर शेषजी विराजमान हैं। शेषजी के सिर पर पृथ्वी रखी है। जब ये शेष प्रलय काल में जगत के संहार की इच्छा करते हैं, तो क्रोध से कुटिल भृकुटियों के मध्य तीन नेत्रों से युक्त 11 रुद्र त्रिशूल लिए प्रकट होते हैं। पौराणिक ग्रंथों में शेषनाग के फण (मस्तिष्क) पर पृथ्वी टिकी होने का उल्लेख मिलता है–

शेषं चाकल्पयद्देवमनन्तं विश्वरूपिणम्।
यो धारयति भूतानि धरां चेमां सपर्वताम्॥ *–महाभारत भीष्म. 67/13*

अर्थात् इन परमदेव ने विश्वरूप अनंत नामक देवस्वरूप शेषनाग को उत्पन्न किया, जो पर्वतों सहित इस सारी पृथ्वी को तथा भूतमात्र को धारण किए हुए है।

उल्लेखनीय है कि हजार फणों वाले शेषनाग समस्त नागों के राजा हैं। भगवान् की शय्या बनकर सुख पहुंचाने वाले, उनके अनन्य भक्त हैं और बहुत बार भगवान् के साथ-साथ अवतार लेकर उनकी लीला में सम्मिलित भी रहते हैं। **श्रीमद्भगवद्गीता** के *10वें अध्याय के 29वें श्लोक* में भगवान् कृष्ण ने कहा है–**'अनन्तश्चास्मि नागानां'** *अर्थात् मैं नागों में शेषनाग हूं।*

नींव पूजन का पूरा कर्मकांड इस मनोवैज्ञानिक विश्वास पर आधारित है कि जैसे शेषनाग अपने फण पर संपूर्ण पृथ्वी को धारण किए हुए है, ठीक उसी प्रकार मेरे इस भवन की नींव भी प्रतिष्ठित किए हुए चांदी के नाग के फण पर पूर्ण मजबूती के साथ स्थापित रहे। शेषनाग क्षीरसागर में रहते हैं, इसलिए पूजन के कलश में दूध, दही, घी डालकर मंत्रों से आह्वान कर शेषनाग को बुलाया जाता है, ताकि वे साक्षात् उपस्थित होकर भवन की रक्षा का भार वहन करें। विष्णुरूपी कलश में लक्ष्मी स्वरूप सिक्का डालकर पुष्प व दूध पूजन में अर्पित किया जाता है, जो नागों को अतिप्रिय है। भगवान् शिवजी के आभूषण तो नाग है ही। लक्ष्मण और बलराम शेषावतार माने जाते हैं। इसी विश्वास से यह प्रथा जारी है।

74. तिलक लगाने का प्रचलन क्यों?

धार्मिक शास्त्रों के अनुसार ललाट पर तिलक या टीका धारण करना एक आवश्यक कार्य है, क्योंकि यह हिंदू संस्कृति का एक अभिन्न अंग है। कोई भी धार्मिक आयोजन या संस्कार बिना तिलक के पूर्ण नहीं माना जाता। जन्म से लेकर मृत्यु शय्या तक इसका प्रयोग किया जाता है। यों तो देवी-देवताओं, योगियों, संतों-महात्माओं के मस्तक पर हमेशा तिलक लगा मिलता है, लेकिन आम लोगों में धार्मिक आयोजनों, पूजा-पाठ, संस्कारों के अवसरों पर तिलक लगाने का प्रचलन आम है।
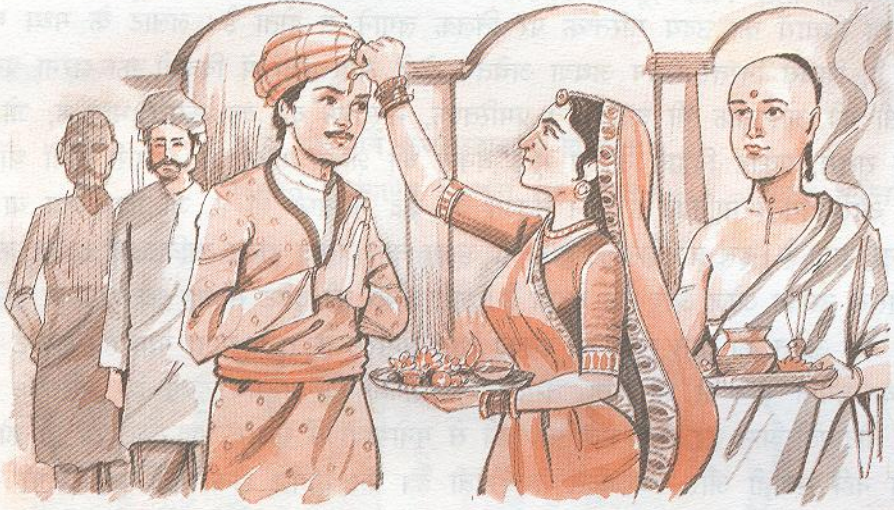
भारतीय परंपरा के अनुसार तिलक लगाना सम्मान का सूचक भी माना जाता है। अतिथियों को तिलक लगाकर विदा करते हैं, शुभ यात्रा पर जाते समय शुभकामनाएं प्रकट करने के लिए तिलक लगाने की प्रथा प्राचीनकाल से चली आ रही है। **ब्रह्मवैवर्तपुराण** ब्रह्मपर्व 26 में कहा गया है–

स्नानं दानं तपो होमो देवतापितृकर्म्म च ।
तत्सर्वं निष्फलं याति ललाटे तिलकं बिना ।
ब्राह्मणास्तिलकं कृत्वा, कुर्य्यात्संध्यान्यतर्पणम् ॥

अर्थात् स्नान, होम, देव और पितृकर्म करते समय यदि तिलक न लगा हो, तो यह सब कार्य निष्फल हो जाते हैं। ब्राह्मण को चाहिए कि वह तिलक धारण करने के बाद ही संध्या, तर्पण आदि संपन्न करे।

स्कंदपुराण में बताया गया है कि कौन-सी अंगुली से तिलक धारण करने से क्या-क्या फल मिलते हैं यथा–

अनामिक शांतिदा प्रोक्ता मध्यमायुष्करी भवेत् ।
अंगुष्ठः पुष्टिदः प्रोक्ता तर्जनी मोक्षदायिनी ॥

अर्थात् अनामिका से तिलक करने से शांति, मध्यमा से आयु, अंगूठे से स्वास्थ्य और तर्जनी से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

इसके अलावा ब्राह्मण भोजन हेतु किया गया तिलक तीन अंगुली से पूरे ललाट पर, विष्णु की उपासना में ऊर्ध्व तिलक दो पतली रेखा में, शक्ति के उपासक (शिव +शक्ति) स्वरूप दो बिंदी और महादेव के भक्त त्रिपुंड तीन रेखाओं का आड़ा तिलक लगाते हैं। शास्त्रों के मतानुसार श्राद्ध, यज्ञ, जप, देवपूजन में त्रिपुंड धारण करने वाले व्यक्ति मृत्यु पर विजय प्राप्त करते हैं।

उल्लेखनीय है कि हमारे मस्तिष्क (ललाट) से ही तिलक, टीका, बिंदिया का संबंध इसलिए जोड़ा गया है कि सारे शरीर का संचालन कार्य वही करता है। महर्षि याज्ञवल्क्य ने शिवनेत्र की जगह को ही पूजनीय माना है। पवित्र विचारों का उदय मस्तिष्क पर तिलक लगाने से होता है। ललाट के मध्य मानव शरीर का वह बिंदु है, जिससे निरंतर चेतन अथवा अचेतन दोनों अवस्थाओं में विचारों का झरना प्रवाहित होता रहता है। इसी को आज्ञाचक्र भी कहते हैं। प्रमस्तिष्क, मस्तिष्क का वह ऊपरी भाग है, जो मनुष्य को देवता अथवा राक्षस, प्रकांड विद्वान् अथवा मूर्ख बनाने की शक्ति रखता है। हमारी दोनों भौंहों के बीच सुषुम्ना, इड़ा और पिंगला नाड़ियों के ज्ञान तंतुओं का केंद्र मस्तिष्क ही है, जो दिव्य नेत्र या तृतीय नेत्र के समान माना जाता है। इस पर तिलक लगाने से आज्ञा चक्र जाग्रत होकर व्यक्ति की शक्ति को ऊर्ध्वगामी बनाता है, जिससे उसका ओज और तेज बढ़ता है। शरीरशास्त्र की दृष्टि से यह स्थान पीयूष ग्रंथि (पीनियल ग्लैंड) का है, जहां अमृत का वास होता है। इसका स्राव सोमरस के तुल्य माना गया है। ललाट पर नियमित रूप से तिलक लगाते रहने से शीतलता, तरावट एवं शांति का अनुभव होता है। मस्तिष्क के रसायनों सेराटोनिन व बीटाएंडोरफिन का स्राव संतुलित रहने से मनोभावों में सुधार आकर उदासी दूर होती है। सिर दर्द की पीड़ा नहीं सताती और मेधाशक्ति तेज होती है। मन निर्मल होकर हमें सद्पथ पर अग्रसर होने के लिए प्रेरित करता है। विवेकशीलता बनी रहती है और आत्म-विश्वास बढ़ता है।

आमतौर पर चंदन, कुंकुम, मृत्तिका, भस्म का तिलक लगाया जाता है। चंदन के तिलक लगाने से पापों का नाश होता है, व्यक्ति संकटों से बचता है, उस पर लक्ष्मी की कृपा हमेशा बनी रहती है, ज्ञान तंतु संयमित व सक्रिय रहते हैं, मस्तिष्क को शीतलता और शांति मिलती है। कुंकुम में हलदी का संयोजन होने से त्वचा को शुद्ध रखने में सहायता मिलती है और मस्तिष्क के स्नायुओं का संयोजन प्राकृतिक रूप में हो जाता है। संक्रामक कीटाणुओं को नष्ट करने में शुद्ध मृत्तिका का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। यज्ञ की भस्म का तिलक करने से सौभाग्य की वृद्धि होती है। ज्योतिषशास्त्र के अनुसार तिलक लगाने से ग्रहों की शांति होती है। तंत्रशास्त्र में वशीकरण आदि के लिए भी तिलक लगाया जाता है।

75. धार्मिक कार्यों में शंख बजाने की परंपरा क्यों?

पूजा-पाठ, उत्सव, हवन, विजयोत्सव, आगमन, विवाह, राज्याभिषेक आदि शुभ कार्यों में शंख बजाना शुभ और अनिवार्य माना जाता है। मंदिरों में सुबह और शाम के समय आरती में शंख बजाने का विधान है। शंखनाद के बिना पूजा-अर्चना अधूरी मानी जाती है। सभी धर्मों में शंखनाद को बड़ा ही पवित्र माना गया है।

अथर्ववेद के चौथे कांड के दसवें सूक्त में स्पष्ट कहा गया है कि शंख अंतरिक्ष, वायु, ज्योतिर्मंडल एवं सुवर्ण से संयुक्त है। इसकी ध्वनि शत्रुओं को निर्बल करने वाली होती है। यह हमारा रक्षक है। यह राक्षसों और पिशाचों को वशीभूत करने वाला, अज्ञान, रोग एवं दरिद्रता को दूर भगाने वाला तथा आयु को बढ़ाने वाला है।

शास्त्रकार कहते हैं−

यस्य शंखध्वनिं कुर्यात्पूजाकाले विशेषतः।
विमुक्तः सर्वपापेन विष्णुना सह मोदते॥ *−रणवीर भक्तिरत्नाकर स्कंदे*

अर्थात् पूजा के समय जो व्यक्ति शंख ध्वनि करता है, उसके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं और वह भगवान् विष्णु के साथ आनंद पाता है।
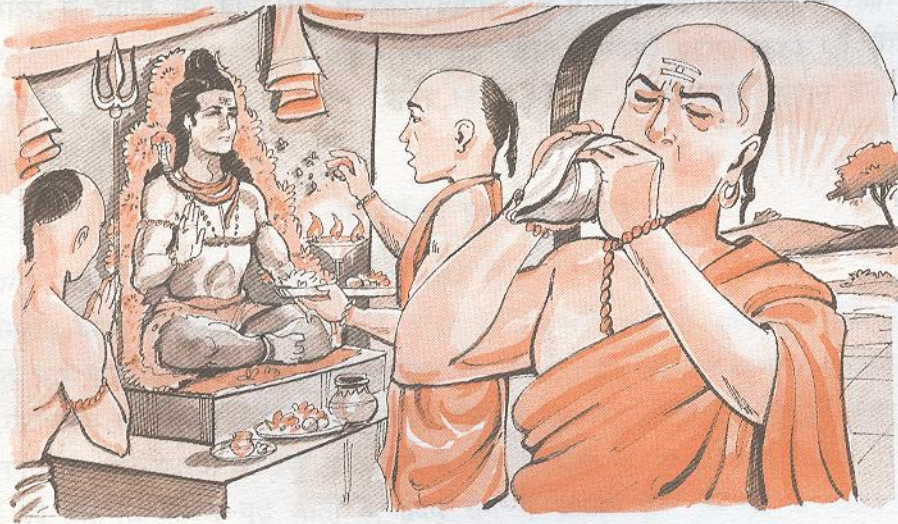
शंख को सूर्योदय से पूर्व और सूर्यास्त के बाद बजाने के पीछे मान्यता यह है कि सूर्य की किरणें ध्वनि की तरंगों में बाधा डालती हैं। शंख ध्वनि में प्रदूषण को दूर करने की अद्भुत क्षमता होती है। भारतीय वैज्ञानिक जगदीश चंद्र बसु ने अपने यंत्रों के माध्यम से यह खोज लिया था कि एक बार शंख फूंकने से उसकी ध्वनि जहां तक जाती है, वहां तक के अनेक बीमारियों के कीटाणु ध्वनि स्पंदन से मूर्च्छित हो जाते हैं या नष्ट हो जाते हैं। यदि यह प्रक्रिया प्रतिदिन जारी रखी जाए, तो वायुमंडल कीटाणुओं से मुक्त हो जाता है।

बर्लिन विश्वविद्यालय ने शंख ध्वनि पर अनुसंधान कर यह पाया कि इसकी तरंगें बैक्टीरिया नष्ट करने के लिए उत्तम व सस्ती औषधि हैं। बैक्टीरिया के अलावा हैजा, मलेरिया के कीटाणु भी शंख ध्वनि से नष्ट हो जाते हैं। मूर्च्छा, मिरगी, कंठमाला और कोढ़ के रोगियों के अंदर शंख ध्वनि की प्रक्रिया से रोगनाशक शक्ति उत्पन्न होती है।

कहा जाता है कि शंख ध्वनि उपद्रवी आत्माओं यानी भूत-प्रेत, राक्षस आदि को दूर भगाती है, दरिद्रता का नाश करती है। इसलिए हमारे यहां भी प्रसिद्ध है–'शंख बाजे, भूत भागे।' निरंतर शंख ध्वनि सुनते रहने से हार्टअटैक नहीं होता, गूंगापन और हकलाहट में लाभ मिलता है। इसी कारण छोटे-छोटे बच्चों के गले में छोटे-छोटे शंखों की माला पहनाई जाती है जिसका विश्वास यह किया जाता है कि इससे वे जल्दी बोलने लगते हैं। शंख बजाने से फेफड़े शक्तिशाली बनते हैं, जिससे श्वास की बीमारियां जैसे दमा आदि नहीं होते। गूंगे व्यक्ति नियमित शंख बजाने का प्रयास जारी रखें, तो उनकी आवाज खुलने की संभावनाएं बढ़ जाती हैं। इसके अलावा शरीर के सभी अंगों पर इस ध्वनि का प्रभाव पड़ने से मानसिक तनाव, ब्लड प्रेशर, मधुमेह, नाक, कान, पाचन संस्थान के रोग होने की आशंकाएं भी कम होती हैं।

शंख में जल भरकर पूजा स्थान में रखा जाना और पूजा-पाठ, अनुष्ठान होने के बाद श्रद्धालुओं पर उस जल को छिड़कने के पीछे मान्यता यह है कि इसमें कीटाणुनाशक शक्ति होती है और शंख में जो गंधक, फासफोरस और कैलशियम की मात्रा होती है, उसके अंश भी जल में आ जाते हैं। इसलिए शंख के जल को छिड़कने और पीने से स्वास्थ्य सुधरता है। प्राचीन काल में और अब भी बंगाल में स्त्रियां शंख की चूड़ियां पहनती हैं।

76. नित्य अग्निहोत्र का विधान क्यों?

वाल्मीकि रामायण 1-6-12 में कहा गया है—**नानाहिताग्निनायज्वा** अयोध्या में हर कोई प्रतिदिन अग्निहोत्र करता था। भगवान् राम ने माता सीता के साथ विधिपूर्वक अग्निहोत्र युवराज्याभिषेक के दिन भी किया था। शोकाकुल माता कौशल्या ने भगवान् राम के वन में जाने की घड़ी में भी अग्निहोत्र करने में चूक नहीं की। **भगवान् बुद्ध** ने प्रतिदिन अग्निहोत्र करने के विलक्षण महत्त्व को यूं बताया है—

अग्गिहुत्त मुखा यंत्रा, सावित्री छन्दसो मुखम्।
राजामुखं मनुष्साणं, नदीनं सागरो मुखं॥ —*सुत्तनिपात 568.21*

अर्थात् जिस प्रकार नदियों में सागर, मनुष्यों में राजा, छंदों में सावित्री छंद मुख्य हैं, उसी प्रकार यज्ञों में अग्निहोत्र मुख्य है।

अथर्ववेद में अग्निहोत्र के संबंध में कहा गया है—

सायं सायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातः प्रातः सौमनस्य दाता।
वसोर्वसो-र्वसु दान एधि वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम॥ —*अथर्ववेद 19-55-3*

गृह अग्नि हमें प्रत्येक सायंकाल में और प्रत्येक सुबह में सुख-शांति, उत्तम चित्त, संकल्प और स्वस्थता देवे। वह प्रत्येक प्रकार के ऐश्वर्य का दाता होवे। हम तुझ यज्ञ अग्नि को प्रदीप्त करके अपने शरीर को पुष्ट करें। अग्निहोत्र से शरीर स्वस्थ और मन प्रसन्न रहता है। वह अध्यात्म का सोपान है।

वेद में यह भी लिखा है—

अग्निहोत्रिणे प्रणुदे सपत्नान्। —*अथर्ववेद 9-2-6*

अर्थात् अग्निहोत्र करने से शत्रु नष्ट हो जाते हैं।

अग्निहोत्र करने से मानसिक शांति और आनंद की अनुभूति होती है, वायुमंडल तुष्टि-पुष्टिदायक तत्त्वों से सुगंधित एवं पूरित होता है, घर के वातावरण में सर्वदा शुद्ध एवं पुष्टिकारक प्राणवायु उपलब्ध होती है। शुद्ध वातावरण में मन जल्दी स्थिर एवं एकाग्र होता है, मन का तनाव दूर होता है, रक्त संचार सुगमता से होने लगता है, हानिकारक कीटाणु नष्ट होते हैं, उत्पन्न गैसों के प्रभाव से कई रोग दूर होते हैं, शरीर की त्वचा की प्रतिरोध शक्ति बढ़ जाती है, हृदय रोग में अत्यंत लाभ मिलता है, रक्त वाहिनी धमनियों का व्यास पूर्ववत् होने लगता है, जिससे रक्त संचार सुगम होता है, अधिक स्थायी रूप से नाड़ी संस्थान सबल बनकर कार्य करने लगता है तथा अनेक प्रकार के अप्रत्यक्ष लाभ मिलते हैं।

77. यज्ञ में आहुति के साथ स्वाहा बोलने की परंपरा क्यों?

मत्स्यपुराण में यज्ञ के संबंध में कहा गया है कि जिस कर्म विशेष में देवता, हवनीय द्रव्य, वेद मंत्र, ऋत्विक् एवं दक्षिणा–इन पांच उपादानों का संयोग हो, उसे यज्ञ कहा जाता है। परमार्थ प्रयोजनों के लिए किया गया सत्कर्म ही यज्ञ है। हमारे ऋषि-मुनियों ने यज् धातु से निष्पन्न यज्ञ शब्द के तीन अर्थ–देवपूजन, संगतिकरण और दान बताए हैं। देवपूजन यानी देवी-देवताओं के सद्गुणों का अनुगमन कर परिष्कृत व्यक्तित्व बनाना। संगतिकरण यानी एक विचारधारा के लोगों का सोद्देश्य मिलन संघबद्धता, सहकारिता और एकता। दान यानी उदार सहृदयता, समाज परायणता और विश्व कौटुंबिकता। इस प्रकार इन तीनों सत्प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व यज्ञ के माध्यम से होता है।
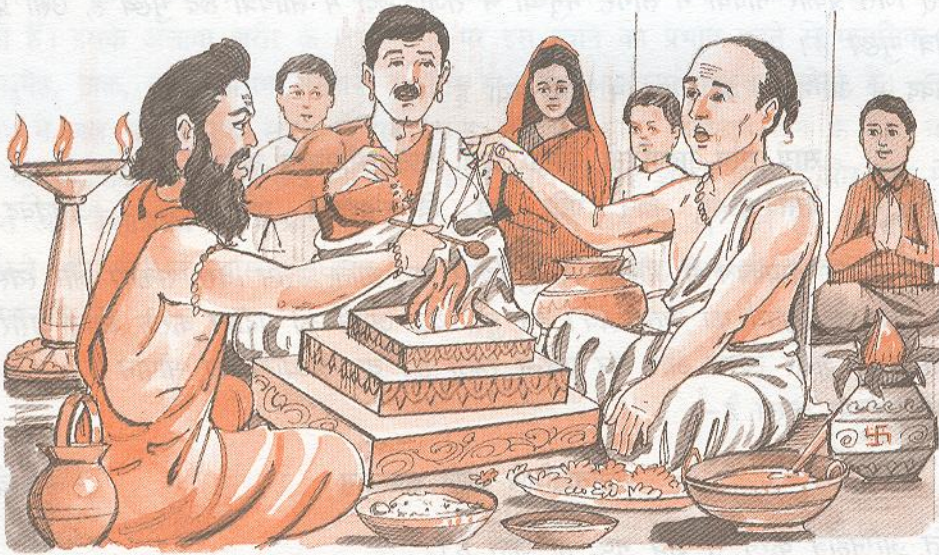
यज्ञ के जरिए शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शांति, आत्म शुद्धि, आत्मबल वृद्धि, आध्यात्मिक उन्नति और आरोग्य की रक्षा होती है। यज्ञाग्नि की पांच विशेषताओं को पंचशील कहा गया है, जो इस प्रकार हैं–सदा गरम अर्थात् सक्रिय रहना, ज्योतित अर्थात् अनुकरणीय बनकर रहना, संपर्क में आने वालों को अपना बना लेना, उपलब्धियों का संग्रह न कर वितरित करते रहना, लौ ऊंची रखना अर्थात् चिंतन, चरित्र और स्वाभिमान को नीचे न गिरने देना।

कालिकापुराण में यज्ञ के संबंध में कहा गया है–

यज्ञेषु देवास्तुष्यन्ति यज्ञे सर्व प्रतिष्ठितम्।
यज्ञेन ध्रियते पृथ्वी यज्ञस्तारयति प्रजाः॥
अन्नेन भूता जीवन्ति यज्ञे सर्व प्रतिष्ठितम्।
पर्जन्यो जायते यज्ञात् सर्व यज्ञमयंततः॥

–कालिकापुराण 23-7-8

अर्थात् यज्ञों से देवता संतुष्ट होते हैं, यज्ञ ही समस्त चराचर जगत का प्रतिष्ठापक है। यज्ञ पृथ्वी को धारण किए हुए हैं, यज्ञ ही प्रजा को पापों से बचाता है। अन्न से प्राणी जीवित रहते हैं, वह अन्न बादलों द्वारा उत्पन्न होता है और बादल की उत्पत्ति यज्ञ से होती है। अतः यह संपूर्ण जगत यज्ञमय है।

शास्त्रकारों ने कहा है–

श्रीकामः शांतिकामो वा ग्रहयज्ञं समारभेत्।
वृष्टि आयुः पुष्टिकामो वा तथैवाभिचरन पुनः॥

अर्थात् धन की कामना करने वाले, शांति के अभिलाषी, दीर्घायु और सुख प्राप्ति के इच्छुक, वर्षा की कामना करने वाले तथा शरीर की बलवृद्धि की इच्छा रखने वाले व्यक्तियों को यज्ञ अवश्य करना चाहिए।

श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है–

तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥ *–श्रीमद्भगवद्गीता 3/15*

अर्थात् सर्वव्यापी परम अक्षर परमात्मा सदा ही यज्ञ में प्रतिष्ठित हैं।

महानारायणीयोपनिषद् में कहा गया है–

यज्ञेन हि देवा दिवंगताः यज्ञेनासुरानपानुदन्तः। यज्ञेन द्विषन्तो मित्रा भवन्ति यज्ञेन सर्व प्रतिष्ठितम्
तस्माद्यज्ञं परमं वदन्ति।

यज्ञ से देवताओं ने स्वर्ग को प्राप्त किया और असुरों को परास्त किया। यज्ञ से शत्रु भी मित्र बन जाते हैं। यज्ञ में सब प्रकार के गुण हैं। अतः श्रेष्ठजन यज्ञ को श्रेष्ठ कर्म कहते हैं।

अग्निपुराण 380/1 में कहा गया है–**यज्ञैश्चदेवानाप्नोति**। *अर्थात् यज्ञ से देवताओं का अनुदान प्राप्त होता है।*

पद्मपुराण सृष्टि खण्ड 3/124 में कहा गया है कि यज्ञ में प्रसन्न हुए देवता मनुष्यों पर कल्याण की वर्षा करते हैं।

मनुस्मृति 3/76 में कहा गया है कि अग्नि में विधि-विधानपूर्वक दी हुई आहुति सूर्यदेव को प्राप्त होती है।

सामदेव 879 में कहा जाता है कि जो मनुष्य अग्नि में भली प्रकार होम करते हैं, उन्हें उत्तम संतान, सद्बुद्धि, धन और धान्य की प्राप्ति होती है।

जब ब्रह्माजी ने मनुष्य को उत्पन्न किया, तो उसने अपना सारा जीवन दुख, कष्ट और अभावों से घिरा देखा। उसने विधाता से शिकायत की–'भगवन्! इस संसार में असहाय छोड़े गए हम मनुष्यों की रक्षा और पोषण कौन करेगा?'

पितामह ब्रह्मा बोले–'तात! यज्ञ द्वारा देवताओं को आहुतियां प्रदान करना, इससे संतुष्ट हुए देवता तुम्हें धन, संपत्ति, बल और ऐश्वर्य से भर देंगे।'

यज्ञ की अग्नि में आहुति डालते समय देवताओं के आह्वान मंत्रोच्चारण करते समय अंत में स्वाहा कहा जाता है। चूंकि अग्नि की पत्नी का नाम स्वाहा है, इसलिए हविष्य अग्नि को भेंट करते समय स्वाहा बोलकर उनके माध्यम से भेंट करने का विधान है। स्वाहा का अर्थ सु-आह 'अच्छा बोलना' भी है।

78. पंचमहायज्ञ क्यों?

धर्मशास्त्रों ने हर एक गृहस्थ को प्रतिदिन पंचमहायज्ञ करना आवश्यक कर्तव्य कहा है। इस संबंध में **मनुस्मृति** में मनु ने कहा है–

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो देवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथि पूजनम्॥ *–मनुस्मृति 3/70*

अर्थात् (पंचमहायज्ञों में) वेद पढ़ाना (अध्यापन)–ब्रह्मयज्ञ, तर्पण पितृयज्ञ, हवन देवयज्ञ, पंचबलि भूतयज्ञ और अतिथियों का पूजन, सत्कार नृयज्ञ अथवा मनुष्ययज्ञ, अतिथियज्ञ कहा जाता है।

ब्रह्मयज्ञ का अर्थ वेदों, धार्मिक ग्रंथों का अध्ययन और उन्हें दूसरों को पढ़ाना यानी अध्यापन। इसके नियमित करने से जहां बुद्धि बढ़ती है, वहीं विषयों के अर्थ अधिकाधिक स्पष्ट होने से पवित्र विचार मन में स्थिर हो जाते हैं। अतः संध्या वंदना के पश्चात् नियमित रूप से प्रतिदिन धार्मिक ग्रंथों का पाठ अवश्य करना चाहिए। गायत्री मंत्र के जप करने से भी ब्रह्मयज्ञ पूर्ण होता है।

पितृयज्ञ का अर्थ तर्पण, पिण्डदान और श्राद्ध। याज्ञ. स्मति. 1/269-70 में कहा गया है कि पुत्रों द्वारा दिए गए अन्न-जल आदि श्राद्धीय द्रव्य से पितर तृप्त होकर अत्यन्त प्रसन्न हो जाते हैं और उन्हें लंबी आयु, संतति, धन, विद्या, स्वर्ग, मोक्ष, सुख तथा अखंड राज्य भी प्रदान करते हैं। इसलिए पितरों का स्मरण करना, उनको तर्पण करना, पिंडदान देना आदि आवश्यक कर्तव्य बताए गए हैं।

देवयज्ञ का अर्थ देवताओं का पूजन और होम, हवन है। समस्त विघ्नों का हरण करने वाले, दुख दूर करने वाले एवं सुख-समृद्धि प्रदान करने वाले देव ही हैं। अतः हर घर में देवी-देवताओं का नियमित पूजन, हवन होना चाहिए। हवन से घर का दूषित वातावरण शुद्ध होता है और स्वास्थ्य सुधरता है।

भूतयज्ञ का अर्थ है अपने अन्न में से दूसरे प्राणियों के कल्याण हेतु कुछ भाग देना। मनुस्मृति 3/92 में कहा गया है कि कुत्ता, पतित, चांडाल, कुष्ठी अथवा यक्ष्मादि पापजन्य रोगी व्यक्ति को तथा कौवों, चींटी और कीड़ों आदि के लिए अन्न को पात्र से निकालकर स्वच्छ भूमि पर रख दें। इस प्रकार सब जीवों की पूजा गृहस्थ द्वारा हो जाती है। इससे महान परोपकार व करुणा का भाव प्रदर्शित होता है और मोक्ष प्राप्त करना आसान बनता है। शास्त्रों में गो-ग्रास देना बड़ा पुण्यकारी माना गया है।

नृयज्ञ या अतिथियज्ञ का अर्थ है अतिथि का प्रेम और आदर से सत्कार व सेवा करना। अतिथि को पहले भोजन कराकर ही गृहस्थ को भोजन करना चाहिए। शास्त्रों में अतिथि को देवता समान माना गया है–**अतिथि देवो भव।** महाभारत शांतिपर्व 191/12 में कहा गया है कि जिस गृहस्थ के घर से अतिथि भूखा, प्यासा, निराश होकर वापस लौट जाता है, उसकी गृहस्थी नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है। गृहस्थ महादुखी हो जाता है, क्योंकि अपना पाप उसे देकर उसका संचित पुण्य वह निराश अतिथि खींच ले जाता है।

महर्षि विश्वामित्र ने कहा है–

नित्यकर्माखिलं यस्तु उक्तकाले समाचरेत्।
जित्वा स सकलांल्लोकानन्ते विष्णुपुरं व्रजेत्॥ –विश्वामित्र स्मृति 1/15/16

अर्थात् नित्यकर्मों को प्रतिदिन तथा नियत समय पर पूरा करना चाहिए। जो ऐसा करता है, वह संपूर्ण लोकों को पार कर उत्तमोत्तम विष्णुलोक को प्राप्त करता है। इसलिए प्रत्येक गृहस्थ को पंचमहायज्ञ श्रद्धापूर्वक प्रतिदिन नियत समय पर करने चाहिए, तभी वह पूरी तरह से सुखी और शांत रह सकता है।

79. यज्ञ में पशुबलि अनुचित क्यों?

महर्षि वेदव्यास ने कहा है–

सुरा मत्स्याः पशोर्मांस द्विजातीनां बलिस्तथा।
धूर्तैः प्रवर्तितं यज्ञे, नैतद् वेदेषु कथ्यते॥ –*महाभारत, शांतिपर्व 15*

अर्थात् मद्य (शराब), मछली और पशुओं का मांस और यज्ञ में द्विजाति आदि मनुष्यों की बलि चढ़ाने की प्रथा धूर्तों के द्वारा चलाई गई है, यानी दुष्ट प्रवृत्ति के राक्षसों ने मांस भक्षण हेतु यज्ञ में इसे आरंभ किया है। वेदों में मांस खाने का विधान नहीं दिया गया है।

जिस प्रकार मुसलमान बकरीद के दिन बकरे की कुर्बानी करते हैं, उसी की तर्ज पर कुछ हिंदुओं ने भैरव, भवानी आदि कुछ देवी-देवताओं के नाम पर मांसाहार के लोभ में पशुबलि चढ़ाने की प्रथा आरंभ कर दी। यवन शासन काल में मांसाहार काफी चल पड़ा था। मांसाहार के लोभी कुछ पंडितों ने षड्यंत्र करके ऐसे श्लोक लिखवाए जिसमें देवी माता भी पशु-पक्षियों की बलि चाहती हैं और उसका मांस प्रसाद के रूप में खाना पसंद करती हैं। ये कुछ पुराणों में जोड़ दिए गए हैं। वैसे तमाम हिंदू धर्म ग्रंथों में मांस को अभक्ष्य तथा असुरों का भोजन माना गया है। मांस खाने की आज्ञा किसी ग्रंथ में नहीं दी गई है।

उल्लेखनीय है कि यदि देवी-देवता मांस लोलुप हैं, जीव-हत्या/बलि से प्रसन्न होते हैं, करुणा को छोड़कर नृशंस आचरण करने की प्रेरणा देते हैं, तो उनमें और असुरों में क्या अंतर रह जाएगा? धर्म के नाम पर निरपराध मूक पशुओं की निर्दयता पूर्वक हत्या करना और अपनी स्वार्थ सिद्धि, मनोकामनाओं को पूरी करने के लिए देवी-देवताओं को किसी के जीवन की रिश्वत भेंट करना सर्वथा अनुचित कार्य है। ऐसे पाप कर्म के बदले में सुख, धन-दौलत, सौभाग्य, संतान का वरदान मिलना सर्वथा असंभव बातें हैं। इससे न तो देवी माता को प्रसन्नता मिलती है और न धन, संतान आदि ही प्राप्त होते हैं। अपवाद स्वरूप कहीं कोई सफलता मिल जाए, तो वह भी अनैतिक ही कही जाएगी, क्योंकि पाप कर्म के बदले दुख और नरक की यातना ही मिलती है।

वेदव्यास ने **श्रीमद्भागवत्** में कहा है कि जो विधि विरुद्ध पशुओं की बलि देकर भूत और प्रेतों की उपासना में लग जाए, वह पशुओं से भी गया-बीता हो जाता है और अवश्य ही नरक में जाता है। उसे अंत में घोर अंधकार, स्वार्थ और परमार्थ से रहित अज्ञान में ही भटकना पड़ता है।

सृष्टि के प्रारंभ में देवताओं ने महर्षियों से कहा–'श्रुति कहती है कि यज्ञ में अजबलि होनी चाहिए। अज बकरे का नाम है, फिर आप लोग उसका बलिदान क्यों नहीं करते?'

महर्षियों ने कहा–'बीज का नाम ही अज है। बीज यानी अन्नों से ही यज्ञ करने का वेद निर्देश करता है। यज्ञ में वध सज्जनों का धर्म नहीं है।'

80. यज्ञ में मंत्रों का ऊंचे स्वर में उच्चारण क्यों?

कहा जाता है कि यज्ञ के जरिए देवता प्रकट होकर मनोवांछित वर देते हैं। वेद मंत्रों, यज्ञीय मंत्रों की शक्ति ऐसी होती है, जिसके द्वारा देवराज इंद्र सरीखे शक्तिशाली देवता को भी आने को विवश किया जा सकता है। यज्ञ में मंत्रों का विधिवत् उच्चारण एवं जाप, द्वारा आहुतियां देने से आकाश में जो अदृश्य आध्यात्मिक विद्युत् तरंगें फैलती हैं, वे उपस्थित लोगों के मनों से बुराइयों, पाप, द्वेष, वासना, कुटिलता, अनीति, स्वार्थपरता आदि को हटाती हैं। परिणाम यह होता है कि अनेक समस्याएं, चिंताएं, आशंकाएं, भय, आदि समूल नष्ट हो जाते हैं। मंत्रों से आच्छादित दिव्य आध्यात्मिक वातावरण में जो संतानें पैदा होती हैं, वे सद्गुणी और उच्च विचारधाराओं से परिपूर्ण होती हैं। दिव्य प्रभाव से महापुरुषों का निर्माण होता है और लोगों के अंतःकरण में प्रेम, सद्भाव, ईमानदारी, आस्तिकता, संयम आदि सद्विचार स्वयं ही प्रकट होने लगते हैं।

प्राचीन धार्मिक ग्रंथों में यज्ञ के अनेक प्रकार बताए गए हैं। दैनिक यज्ञों के अलावा विशिष्ट प्रयोजनों के लिए अनेक प्रकार के यज्ञ कराने का विधान है। हजार, लाख और करोड़ की संख्या में मंत्रोच्चार करके यज्ञ में आहुतियां दी जाती हैं और इच्छित फल प्राप्त किया जाता है। इस प्रकार मंत्र जप से उत्पन्न प्रचंड शब्द शक्ति तथा साधक के संकल्प बल से अंतरिक्ष में व्याप्त दैवी चेतना संघीभूत होकर साधक के लिए सिद्धियों के अवसर प्रदान करती है।

एक बार महाराज पृथु ने एक सौ अश्वमेध यज्ञ करने का संकल्प किया। विधि-विधानानुसार वे जब 99 यज्ञ करके अत्यंत प्रभावशाली होने लगे, तो स्वर्ग का राज़ छिन जाने की आशंका से इंद्र का मन विचलित होने लगा। अतः सौवें अश्वमेध यज्ञ में विघ्न डालने के लिए इंद्र ने वेष बदलकर प्रपंच द्वारा घोड़े का अपहरण कर लिया, किंतु पृथु के पुत्र ने बलपूर्वक घोड़ा छुड़ा लिया। दूसरी बार इंद्र की नीच वृत्ति से पृथु को बड़ा क्रोध हुआ। उन्होंने धनुष पर बाण चढ़ाकर इंद्र का नाश कर देने की घोषणा की। इस पर ऋषियों ने राजा पृथु से कहा–'हे नृपेन्द्र! आपके इस भयंकर बाण से तो इंद्र सहित सारे देवलोक का ही नाश हो जाएगा। आपकी इच्छा इंद्र को मारने की ही है, तो हम लोग आपके मनोरथ के नाश में लगे, अभिमानी इंद्र को सारपूर्ण मंत्रों द्वारा खींचकर इसी यज्ञ अग्नि में होम कर देंगे।'

ऋषियों की वाणी सुनकर राजा पृथु ने कहा–'इस दुष्ट ने अकारण ही मेरे यज्ञ में विघ्न डाला है। अतः जब तक आप लोगों के द्वारा यज्ञीय मंत्रों से खिंचकर अधर्मी इंद्र मेरे सामने अग्निकुंड में जल नहीं जाता, मैं हाथ से धनुष नहीं त्यागूंगा।'

पृथु की इच्छा पूर्ण करने के लिए ऋषि अपने हाथ में स्रुवा उठाकर इंद्र को उद्देश्य बनाकर यज्ञ कुंड में आहुति देने लगे। जब यज्ञीय मंत्रों से खिंचकर इंद्र अग्नि कुंड में गिरने ही वाले थे कि स्वयं ब्रह्माजी ने उपस्थित हो ऋषियों से निवेदन कर इंद्र को जलने से बचा लिया। सभी के अनुरोध और इंद्र के क्षमा मांगने पर पृथु ने उसे क्षमादान दे दिया। इस तरह देवशक्तियों पर श्रेष्ठता की विजय हुई। इस कथा से यज्ञ प्रक्रिया में मंत्रों की शक्ति का पता चलता है। 'मंत्र' संतुलित ध्वनि के द्वारा मानसिक रोगोपचार करने में भूमिका निबाहते हैं।

81. पूजा में यंत्रों का महत्त्व क्यों?

विद्वानों का मानना है कि पूजा के स्थान पर देवी-देवताओं के यंत्र रख कर उनकी पूजा उपासना करने से अधिक उत्तम फल मिलता है, क्योंकि देवी-देवता यंत्र में स्वयं वास करते हैं। अतः मंत्रों की तरह ही यंत्र भी शीघ्र सिद्धि देने वाले होते हैं। यों भी कहा जा सकता है कि यंत्र, मंत्रों का चित्रात्मक प्रदर्शन हैं। यंत्र का तात्पर्य चेतना अथवा सजगता को धारण करने का माध्यम या उपादान माना गया है। ये ज्यामितीय आकृतियां होते हैं, जो त्रिभुज, अधोमुखी त्रिभुज, वृत्त, वर्ग, पंच कोण तथा षट्कोणीय आदि आकृतियों के होते हैं। मंडल का अर्थ वर्तुलाकर आकृति होता है, जो ब्रह्मांडीय शक्तियों से आवेशित होती है। यंत्र की नित्य पूजा उपासना और दर्शन से व्यक्ति को अभीष्ट की पूर्ति तथा इष्ट की कृपा प्राप्त होती है। इन्हीं अनुभवों को ध्यान में रखते हुए हमारे पूर्वज मनीषियों ने यंत्रों का निर्माण सर्वसाधारण के लाभ हेतु किया। ध्यान रखें कि यंत्रों को प्राणप्रतिष्ठित कराकर ही पूजा स्थल में रखें, तभी वे फलदायी होंगे।
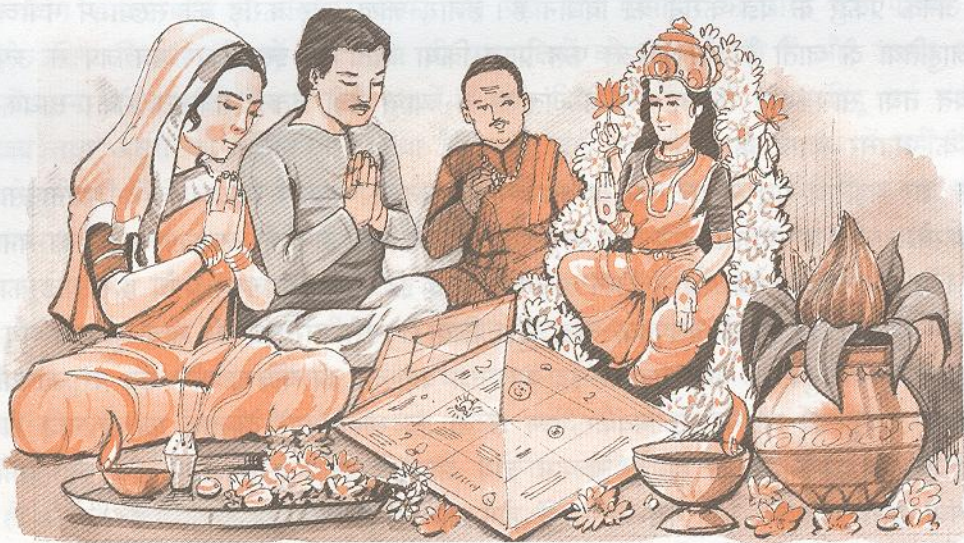
भुवनेश्वरी क्रम चंडिका में लिखा है कि भगवान् शिव देवी पार्वती को कह रहे हैं–'हे प्रिये पार्वती! जैसे प्राणी के लिए शरीर आवश्यक है और दीपक के लिए तेल आवश्यक है, ठीक उसी प्रकार देवताओं के लिए यंत्र आवश्यक हैं।' यही बात कुलार्णवतन्त्र नामक ग्रंथ में भी वर्णित है–

यन्त्रमित्याहुरेतस्मिन देवः प्रीणातिः।
शरीरमिव जीवस्य दीपस्य स्नेहवत प्रिये॥

कुछ प्रसिद्ध प्रमुख यंत्रों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है–

श्रीयंत्र–इस यंत्र से श्री वृद्धि अर्थात् लक्ष्मी जी की अपार कृपा होती है और धन की कमी नहीं रहती। इसके दर्शन मात्र से अनेक यज्ञों का फल प्राप्त होता है।

श्रीमहामृत्युंजय यंत्र–मारक दशाओं के लगने के पूर्व इसकी आराधना से प्राणघातक दुर्घटना, संकट, बीमारी, महामारी, मारकेश, अकाल मौत, अरिष्ट ग्रहों का दोष, शत्रु भय, मुकदमेबाजी आदि का निवारण होता है।

बगलामुखी यंत्र–शत्रुओं के विनाश या दमन के लिए, वाद-विवाद या मुकदमे में विजय पाने हेतु व बाधाओं को दूर करने के लिए यह यंत्र महान सहायक सिद्ध होता है।

बीसा यंत्र–जिसके पास बीसा यंत्र होता है, भगवान् उसकी हर प्रकार से सहायता करते हैं। साधकों की हर मुश्किल आसान हो जाती है। प्रातः उठते ही इसके दर्शन करने से बाधाएं दूर होकर कार्यों में सफलता मिलती है और मान-सम्मान की प्राप्ति होती है।

श्री कनकधारा यंत्र–लक्ष्मी प्राप्ति के लिए और दरिद्रता दूर करने के लिए यह रामबाण यंत्र है। यह यंत्र अष्टसिद्धि व नवनिधियों को देने वाला है।

कुबेर यंत्र–धन के देवता कुबेर की कृपा से धन की प्राप्ति होती है।

श्रीमहालक्ष्मी यंत्र–इसकी अधिष्ठात्री देवी कमला हैं, जिनके दर्शन व पूजन से घर में लक्ष्मी का स्थायी वास होता है।

सूर्य यंत्र–सदैव स्वस्थ रहने की आकांक्षा हो, तो भगवान् सूर्य की प्रार्थना करनी चाहिए। इससे तमाम रोगों का शमन होता है। व्यक्तित्व में तेजस्विता आती है।

पंचादशी यंत्र–यह यंत्र भगवान् शंकर की कृपा और धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष की प्राप्ति कराता है।

४२. श्रीयंत्र की पूजा का विशेष महत्त्व क्यों?

यंत्रों में सबसे अधिक चमत्कारिक और शीघ्र असर दिखाने वाला सर्वश्रेष्ठ यंत्र श्रीयंत्र माना जाता है। कलियुग में श्रीयंत्र कामधेनु के समान है। उपासना सिद्ध होने पर सभी प्रकार की श्री अर्थात् चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति होती है। इसलिए इसे श्रीयंत्र कहते हैं। वेदों के अनुसार श्रीयंत्र में 33 करोड़ देवताओं का वास है। वास्तुदोष निवारण में इस यंत्र का कोई सानी नहीं हैं, इसमें ब्रह्मांड की उत्पत्ति एवं विकास का प्रदर्शन किया गया है।

दुर्गा सप्तशती में कहा गया है—**'आराधिता सैव नृणां भोगस्वर्गापवर्गदा।'** आराधना किए जाने पर आदि शक्ति मनुष्यों को सुख, भोग, स्वर्ग, अपवर्ग देने वाली है।

श्रीयंत्र की उत्पत्ति के संबंध में कहा जाता है कि एक बार कैलास मानसरोवर के पास आदि शंकराचार्य ने कठोर तप करके शिवजी को प्रसन्न किया। जब शिवजी ने वर मांगने को कहा, तो शंकराचार्य ने विश्व कल्याण का उपाय पूछा। शिवजी ने शंकराचार्य को साक्षात् लक्ष्मी स्वरूप श्रीयंत्र तथा श्रीसूक्त के मंत्र प्रदान किए।

श्रीयंत्र परम ब्रह्म स्वरूपिणी आदि प्रकृतिमयी देवी भगवती महात्रिपुर सुंदरी का आराधना स्थल है, क्योंकि यह चक्र ही उनका निवास एवं रथ है। उनका सूक्ष्म शरीर व प्रतीक रूप है। श्रीयंत्र के बिना की गई राजराजेश्वरी, कामेश्वरी त्रिपुरसुंदरी की साधना पूर्ण सफल नहीं होती। त्रिपुर सुंदरी के अधीन समस्त देवी-देवता इसी श्रीयंत्र में आसीन रहते हैं।

त्रिपुर सुंदरी को शास्त्रों में विद्या, महाविद्या, परम विद्या के नाम से जाना जाता है। **वामकेश्वर तंत्र** में कहा गया है—**सर्वदेवमयी विद्या। दुर्गा सप्तशती** में भी कहा गया है—**विद्यासि सा भगवती परमा हि देवी।** जिनका अर्थ है—'हे देवि! तुम ही परम विद्या हो।'

श्रीयंत्र के प्रभाव के बारे में एक पौराणिक कथा है कि एक बार लक्ष्मी जी पृथ्वी से अप्रसन्न होकर बैकुंठ चली गईं। परिणामस्वरूप पृथ्वी पर अनेक समस्याएं उत्पन्न हो गईं। तब महर्षि वसिष्ठ ने विष्णु की सहायता से लक्ष्मी को मनाने के प्रयास किए, लेकिन विफल रहे। इस पर देवगुरु बृहस्पति ने लक्ष्मी को खींचने का एकमात्र उपाय श्रीयंत्र बताया। श्रीयंत्र की आराधना से लक्ष्मी तुरंत पृथ्वी पर लौट आईं और कहा—'श्रीयंत्र ही मेरा आधार है तथा इसमें मेरी आत्मा निवास करती है। इसलिए मुझे आना ही पड़ा।'

विधिवत् प्राणप्रतिष्ठित श्री यंत्र की पूजा उपासना से सभी सुख एवं मोक्ष प्राप्त होते हैं। दीपावली, धनतेरस, दशहरा, अक्षय तृतीया, वर्ष प्रतिपदा आदि श्री यंत्र की स्थापना के लिए श्रेष्ठ मुहूर्त होते हैं। इसकी पूजा साधना करते समय मुख पूर्व दिशा की ओर रखना चाहिए और मन में पूर्ण श्रद्धा का भाव रखना चाहिए।

83. मंत्रों की शक्ति में विश्वास क्यों?

निश्चित क्रम में संगृहीत विशेष वर्ण जिनका विशेष प्रकार से उच्चारण करने पर एक निश्चित अर्थ निकलता है, मंत्र कहलाते हैं। शास्त्रकार कहते हैं—**मननात् त्रायते इति मंत्रः।** अर्थात् मनन करने पर जो त्राण दे, या रक्षा करे, वह मंत्र है। मंत्र में निहित बीजाक्षरों में उच्चारित ध्वनियों से शक्तिशाली विद्युत तरंगें उत्पन्न होती हैं जो चमत्कारी प्रभाव डालती हैं। भिन्न-भिन्न ध्वनि भिन्न-भिन्न शक्तिरूप है।

रामचरितमानस में मंत्र जप को भक्ति का पांचवां प्रकार माना गया है—

मंत्र जाप मम दृढ़ विश्वासा। पंचम भजन सो बेद प्रकासा॥ —*अरण्यकाण्ड 35/1*

मंत्र एक ऐसा साधन है, जो मानव की सोई हुई चेतना को, सुषुप्त शक्तियों को सक्रिय कर देता है। मंत्रों में अनेक प्रकार की शक्तियां निहित होती हैं, जिसके प्रभाव से देवी-देवताओं की शक्तियों का अनुग्रह प्राप्त किया जाता है। कहा गया है—**मंत्राधीनंच दैवताम्।** अर्थात् देवता मंत्र के अधीन हैं।

मंत्र जप से उत्पन्न शब्द शक्ति संकल्प बल तथा श्रद्धा बल से और अधिक शक्तिशाली होकर अंतरिक्ष में व्याप्त ईश्वरीय चेतना के संपर्क में आती है तथा अंतरंग पिंड और बहिरंग ब्रह्मांड में एक असाधारण शक्ति प्रवाह उत्पन्न करती है, जिसके परिणामस्वरूप मंत्र का चमत्कारिक प्रभाव साधक को सिद्धियों के रूप में मिलता है। शाप और वरदान इसी मंत्र शक्ति और शब्द शक्ति के मिश्रित परिणाम हैं, जिनका उल्लेख धर्म ग्रंथों में मिलता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि साधक की श्रद्धा इष्ट में जितनी अधिक होगी, उपास्य के प्रति उसका विश्वास उतना ही प्रगाढ़ होगा। ईश्वर से मिलने की छटपटाहट, भक्ति जितनी अधिक होगी और उच्चारण जितना स्पष्ट होगा, मंत्रबल उतना ही प्रचंड होता चला जाएगा। जहां तक मंत्र की शक्ति का प्रश्न है, तो हम भली प्रकार जानते हैं कि अच्छे शब्द सभी को अच्छे लगते हैं और अपशब्द तुरंत क्रोध, घृणा, उपेक्षा आदि पैदा करते हैं। फिर विशेष प्रकार से संगृहीत शब्द-बीज की शक्ति के प्रभाव से कैसे बचा जा सकता है?

भारद्वाज स्मृति में प्राण-प्रतिष्ठित माला से मंत्र जप करने के संबंध में कहा है—

अप्रतिष्ठितमाला या सा जपे विफला स्मृता।
तस्मात् प्रतिष्ठा कर्तव्या जपस्य फलमिच्छता॥ —*भारद्वाज स्मृति 7/53*

माला से मंत्र जप करने से पूर्व उसकी प्राण-प्रतिष्ठा करना जरूरी होता है। विधिपूर्वक मंत्रोच्चारण एवं प्रतिष्ठा-विधान के द्वारा ही उसमें देवत्व का आधान होता है अन्यथा वह साधारण काष्ठ ही रहता है। विद्वान ब्राह्मण के द्वारा उच्चरित मंत्रों में इतनी शक्ति रहती है कि वे मंत्र पत्थर को देवता बना देते हैं और अचेतन पत्थर भी सजीव हो उठते हैं। उसके बाद ही उनकी पूजा फलवती होती है। अतः गायत्री आदि मंत्रों को माला में जपने से पूर्व उसकी यथाविधि प्राण-प्रतिष्ठा अवश्य करा लेनी चाहिए और उस प्रतिष्ठित, सिद्ध माला को देवस्वरूप ही मानकर आदर भाव के साथ रखनी चाहिए।

८४. गायत्री मंत्र की सबसे अधिक मान्यता क्यों?

ॐभूर्भुवः स्वः तत्सवितुवरिण्यम् भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्।

गायत्री मंत्र भारतीय संस्कृति का सनातन एवं अनादि मंत्र है। पुराणों में कहा गया है कि सृष्टिकर्ता ब्रह्मा को आकाशवाणी द्वारा गायत्री मंत्र प्राप्त हुआ था। सृष्टि निर्माण की शक्ति उन्हें इसी की साधना के तप से मिली थी। गायत्री की व्याख्या स्वरूप ब्रह्माजी ने चार वेद रचे। इसीलिए गायत्री को वेदमाता कहते हैं। शास्त्रकार इसे वेदों का सार कहते हैं–**सर्ववेदानां गायत्री सारमुच्यते।**

गायत्री मंत्र की श्रेष्ठता के संबंध में कहा गया है–

नास्ति गंगासमं तीर्थं न देवः केशवात् परः।
गायत्र्यास्तु परं जप्यं न भूतो न भविष्यति॥ –*बृहदयोगी याज्ञवल्क्य स्मृति 10/10-11*

अर्थात् गंगा के समान कोई तीर्थ नहीं है, कृष्ण के समान कोई देव नहीं हैं, गायत्री से श्रेष्ठ जप करने योग्य कोई मंत्र न हुआ है, न होगा।

देवी भागवत 11/21/5 में कहा गया है कि नृसिंह, सूर्य, वराह (देवपरक), तांत्रिक एवं वैदिक मंत्रों का अनुष्ठान, गायत्री मंत्र जप किए बिना निष्फल हो जाता है। सावित्री उपाख्यान अध्याय के 14 से 17 श्लोक में कहा गया है कि यदि गायत्री का एक बार जप कर लिया जाए तो वह दिन भर के पापों को नष्ट कर देता है और यदि दस बार जप लें तो दिन-रात के सब पाप नष्ट हो जाते हैं। सौ बार के जप से महीने भर के और एक सहस्र बार के जप से वर्षों के पाप क्षीण हो जाते हैं। एक लाख बार के जप से जन्म भरके, दस लाख बार के जप से पिछले जन्मों के पाप और एक करोड़ जप करने पर सभी जन्मों के पाप नष्ट हो जाते हैं। दस करोड़ गायत्री का जप ब्राह्मण को मोक्ष प्रदान करता है। **अग्निपुराण** 215/8 में कहा गया है कि गायत्री मंत्र से बढ़कर जप योग्य मंत्र नहीं है और व्याहृति के समान आहुति मंत्र नहीं।

गीता में भगवान् कृष्ण ने स्वयं कहा है–**गायत्री छन्दसामहम।** *अर्थात् मंत्रों में मैं गायत्री मंत्र हूं।*

गायत्री मंत्र के 24 अक्षरों में 24 ऋषियों और 24 देवताओं की शक्तियां समाहित मानी गई हैं। अतः मंत्रोच्चार से उन देवों से संबंधित शरीरस्थ नाड़ियों में प्राणशक्ति का स्पंदन शुरू हो जाता है तथा संपूर्ण शरीर में ऑक्सीजन का संचार बढ़ जाता है, जिससे शरीर के समस्त विकार जलकर नष्ट हो जाते हैं।

शास्त्रों में कहा गया है कि गायत्री मंत्र का श्रद्धा से विधानानुसार जप करने से शारीरिक, भौतिक तथा आध्यात्मिक बाधाओं से मुक्ति मिलती है। जीवन में नई स्फूर्ति और आशाओं का संचार होता है। सद्विचार, सद्धर्म का उदय होता है। विवेकशीलता, आत्मबल, नम्रता, संयम, प्रेम, शांति, संतोष, आदि सद्गुणों की वृद्धि होती है और दुर्भाव, दुख आदि नष्ट होते हैं। इसके अलावा आयु, संतान, विद्या, कीर्ति, धन और ब्रह्म तेज की वृद्धि होकर आत्मा शुद्ध हो जाती है।

यह अकालमृत्यु और सभी प्रकार के क्लेशों को नष्ट करता है।

८५. ब्राह्मण को सर्वाधिक महत्त्व क्यों?

हमारे धार्मिक शास्त्रों ने ब्राह्मण को सर्वोच्च स्थिति प्रदान की है। इसका प्रमुख कारण यह है कि सात्त्विक गुणों की प्रधानता के कारण ब्राह्मण अपने सद्ज्ञान से सारे समाज को उत्कृष्ट बनाने का प्रयत्न करता है। पढ़ना-पढ़ाना, यज्ञ करना और कराना तथा अच्छे संस्कार देना ब्राह्मण का धर्म है। सारे लोग सन्मार्ग पर चलें, उन्नति करें और सुसंस्कार अपनाएं, इसके लिए ब्राह्मण दूसरों की तुलना में अधिक त्यागी, तपस्वी, संयमी व अपरिग्रही रहकर अपना व्यक्तित्व श्रद्धास्पद बनाता है। उसे गरीबी में भी रहना पड़े, तो भी अपने आंतरिक उल्लास और बाहरी आनंद में कोई कमी नहीं आने देता। वेद में ब्राह्मण के गुणों के बारे में विस्तार से बताया गया है।
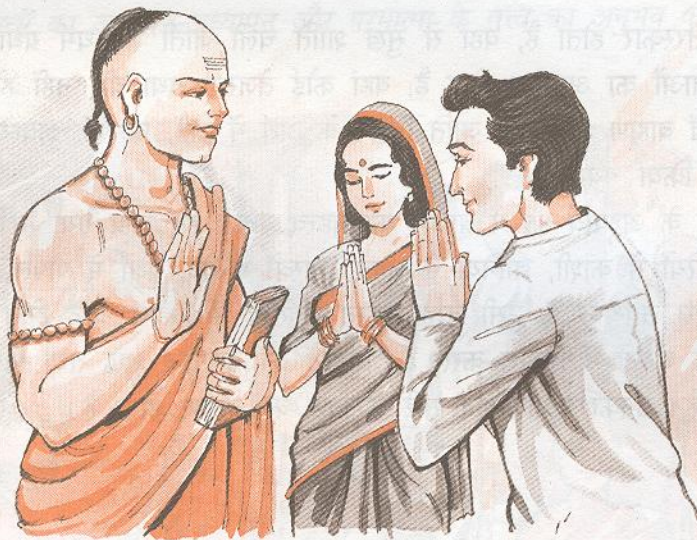
यजुर्वेद में कहा गया है–**ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्। 31/11** अर्थात् ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख के समान होता है। उत्तम ज्ञान को प्राप्त करके मुख वाणी के द्वारा उसका प्रचार करता है। दूसरी विशेषता यह है कि मुख में जो कुछ डाला जाता है, उसे वह अपने पास न रखकर आगे बढ़ा देता है। मुख की एक विशेषता और है कि कठिन-से-कठिन सर्दी में भी वह नंगा ही रहता है। इसलिए यह शरीर में सबसे बड़ा तपस्वी हिस्सा है।

शास्त्र ने ब्राह्मण के गुणों और उसकी भूमिका को और अच्छे तरीके से स्पष्ट किया है–

देवाधीनं जगत्सर्वं, मंत्राधीनं देवता।
ते मंत्रा विप्रं जानन्ति, तस्मात् ब्राह्मण देवताः॥

अर्थात् यह सारा जगत अनेक देवों के अधीन है। देवता मंत्रों के अधीन हैं। उन मंत्रों के प्रयोग, उच्चारण व रहस्य विप्र अच्छी तरह से जानते हैं। अतः ब्राह्मण स्वयं देवता तुल्य होते हैं।

वेदव्यास ने कहा है–

चतुष्पदां गौः प्रवरा लोहानां कांचनं वरम्।
शब्दानां प्रवरो मंत्रो ब्राह्मणो द्विपदां वरः॥ *–महाभारत शांति पर्व 11/11*

अर्थात् चौपायों में गौ उत्तम है, धातुओं में सोना उत्तम है। शब्दों में वेद मंत्र उत्तम है और दो पायों में ब्राह्मण उत्तम है।

इसी ग्रंथ के 72/6 श्लोक में कहा गया है कि ब्राह्मण जन्म से पृथ्वी का स्वामी होता है और प्राणिमात्र के धर्मकोश की रक्षा करने में समर्थ होता है।

न ब्राह्मणस्य गां जगध्वा राष्ट्रे जागार कश्चन। *–अथर्ववेद 5/19/10*

जहां ब्राह्मण का तिरस्कार होता है, वहां से सुख शांति चली जाती है। धर्म ग्रंथों में यह भी कहा गया है कि जहां ब्रह्मवेत्ताओं का अपमान होता है, वहां कोई तेजस्वी तथा वीर नहीं होता। वह राष्ट्र नष्ट हो जाता है। ध्यान रखें ब्राह्मण शब्द यहां जाति विशेष के अर्थ में नहीं, मन की अवस्था विशेष वाले व्यक्तियों के अर्थ में प्रयोग किया गया है।

ब्रह्मवैवर्तपुराण के अध्याय 85 में ब्राह्मण का महत्त्व बताते हुए कहा गया है कि जैसे नदियों में गंगा, तीर्थों में पुष्कर, पुरियों में काशी, ज्ञानियों में शंकर, शास्त्रों में वेद, वृक्षों में पीपल, तपस्याओं में मेरी पूजा तथा व्रतों में उपवास सर्वश्रेष्ठ है, उसी तरह समस्त जातियों में ब्राह्मण श्रेष्ठ होता है। समस्त पुण्य, तीर्थ और व्रत ब्राह्मण के चरणों में निवास करते हैं। ब्राह्मण की चरणरज शुद्ध तथा पाप और रोग का विनाश करने वाली होती है। उनका शुभाशीर्वाद सारे कल्याण का कारण होता है।

८६. पूजा कराने और दान-दक्षिणा लेने का अधिकारी ब्राह्मण ही क्यों?

ब्राह्मण में केवल सत्त्वगुण की प्रधानता होती है। इसीलिए उसमें सत्कर्मों को करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। चूंकि उसका स्वभाव सत्कर्मों के अनुकूल होता है, इसलिए उन्हें करने में उसे किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती। भगवान् श्रीकृष्ण ने ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म इस प्रकार बताएं हैं–

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥ *–श्रीमद्भगवद्गीता 18/42*

अर्थात् अंतःकरण का निग्रह, इंद्रियों का दमन, धर्म पालन के लिए कष्ट सहना, बाहर-भीतर से शुद्ध रहना, दूसरों के अपराधों को क्षमा करना, मन, इंद्रिय और शरीर को सरल रखना, ईश्वर और परलोक आदि में श्रद्धा रखना, वेद शास्त्रों का अध्ययन-अध्यापन और परमात्मा के तत्त्व का अनुभव करना–ये ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं।
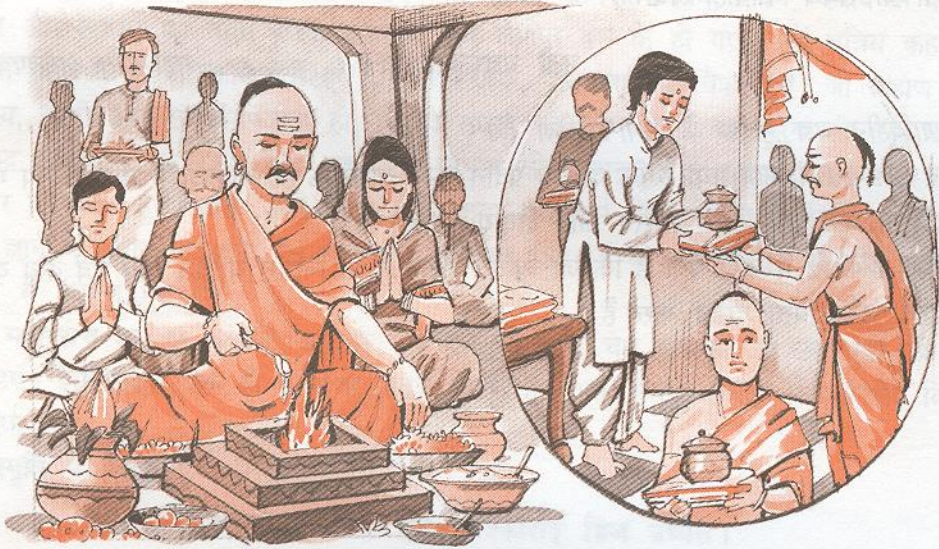
इन सब गुणों व कर्मों की श्रेष्ठता के कारण ही ब्राह्मण से पूजा-पाठ कराने का विधान बताया गया है। सात्त्विकी होने के कारण ब्राह्मण पर यजमान का विश्वास आसानी से स्थापित हो जाता है, विश्वास से ही कर्म का सुफल मिलता है।

ब्राह्मण की आजीविका के संबंध में मनु ने कहा है–

षण्णां तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका।
याजनाध्यापने चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः ॥ *–मनुस्मृति 10/76*

षट्कर्मों में पढ़ाना, यज्ञ कराना और विशुद्ध द्विजातियों से दान ग्रहण करना–ये तीनों ब्राह्मण की जीविका के कर्म हैं।

आगे **मनुस्मृति** 1/88 में कहा गया है कि दान यदि प्राप्त हो जाए तो 'अमृत' के समान है, किंतु मांग कर दान लेना निंदनीय है।

चूंकि कोई भी कर्मकाण्ड दक्षिणा के बिना पूरी तरह संपन्न हुआ नहीं माना जा सकता, क्योंकि वेद में इसका स्पष्ट उल्लेख यूं किया गया है–

दक्षिणावतामिदमानि चित्रा दक्षिणावतां दिवि सूर्यासः।
दक्षिणावन्तो अमृतं भजन्ते, दक्षिणावन्तः प्रतिरंत आयुः ॥ *–ऋग्वेद 2/1/10/6*

अर्थात् दक्षिणा देने वालों के ही आकाश में तारागण रूप चमकीले चित्र हैं, दक्षिणा देने वाले ही द्यूलोक में सूर्य की भांति चमकते हैं, दक्षिणा देने वालों को अमरत्व प्राप्त होता है और दक्षिणा देने वाले ही दीर्घायु होकर जीवित रहते हैं।

दक्षिणा के संबंध में कहा गया है–

मृतो यज्ञस्त्वदक्षिणः। *–महाभारत शांतिपर्व 313/84*

दक्षिणाविहीन यज्ञ मृतक के समान होता है।

ऋग्वेद 2/9/20 में कहा गया है कि दक्षिणा प्रदान करने वालों के ही आकाश में तारे के रूप में चमकीले चित्र हैं, दक्षिणा देने वालों को अमरत्व और दीर्घायु मिलती है।

अथर्ववेद 2/4/12 में कहा गया है कि जो व्यक्ति देवताओं के निमित्त याचित गाय एवं द्रव्य को ब्राह्मणों को नहीं देता, उसे देवता दंडित करते हैं।

87. जाति-पांति का भेद-भाव अनुचित क्यों?

वर्ण व्यवस्था कर्म प्रधान होती है, जबकि जाति-पांति का संबंध जन्म वंश या कुल से होता है। वर्ण शब्द की उत्पत्ति 'वृ' धातु से हुई है, जिसका अर्थ वरण या चुनाव करना है। जो व्यक्ति अपने गुण, कर्म, स्वभाव के अनुसार व्यवसाय का चुनाव करता है, वह उसी वर्ण का कहलाता है। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है कि मैंने ही गुण और कर्म के आधार पर चारों वर्णों की रचना की है। इस प्रकार देखें तो व्यक्तियों की स्वाभाविक प्रवृत्तियों को ध्यान में रखते हुए समाज के कार्यों को सुव्यवस्थित रूप से संचालित करने के लिए इसे चार वर्णों ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में विभाजित किया गया है।

शांतिपर्व, मोक्ष धर्म. 188/11 से 15 में कहा गया है कि वर्णों में कोई शारीरिक विभिन्नता नहीं है। सब मनुष्यों के शरीर एक से हैं। सबमें स्वेद, मूत्र, श्लेष्मा, पित्त और रक्त प्रवाहित हो रहा है। समस्त जगत् को ब्रह्मा ने पहले ब्राह्मणमय ही बनाया था। सब अच्छे और पवित्र कर्म करते थे, लेकिन बाद में अच्छे-बुरे कर्मानुसार विभिन्न वर्णों को प्राप्त हुए। जो ब्राह्मण काम-भोग प्रिय, तीक्ष्ण स्वभाव के कारण क्रोधी, साहसप्रिय और स्वधर्म का त्याग करके राजसिक एवं लोहित वर्ण के हो गए, उन्हें क्षत्रिय कहा गया। गो रक्षण वृत्ति ग्रहण करके जो कृषिजीवी हुए वे स्वधर्मत्यागी, पीले रंग वाले वैश्य हुए। जो ब्राह्मण हिंसा प्रिय, अनृत प्रिय, लोभी और सर्वकर्मोपजीवी हो गए, वे सफाई का काम करने वाले अंग की तरह काले रंग के व्यक्ति शूद्र कहलाए। इस प्रकार गुण, कर्म और स्वभाव की विभिन्नता के कारण अलग-अलग ब्राह्मण लोग ही वर्णांतर को प्राप्त हुए। अतः उनके लिए शुभ क्रिया और धर्म नित्य विहित है, निषिद्ध नहीं। इन चारों वर्णों को ज्ञान में समान अधिकार है। **महाभारत शांतिपर्व** 188/10 के अनुसार वर्ण में कोई ऊंच-नीच नहीं, सभी ब्रह्म से उत्पन्न हुए हैं।

म. महापुराण ब्रा. अ. 42 के अनुसार यदि एक पिता के चार पुत्र हों, तो उन पुत्रों की एक जाति होनी चाहिए। इसी प्रकार एक ही परमेश्वर सबका पिता है। अतः मनुष्य समाज में जातिभेद बिल्कुल नहीं होना चाहिए।

मनुस्मृति में लिखा है–

जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्येते।
वेदाभ्यासी भवेद्विप्रः ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः॥

अर्थात् जन्म से तो सभी शूद्र होते हैं। संस्कारों की वजह से द्विज कहलाता है। यदि वह वेदाध्ययन करने वाला है, तो विप्र कहलाएगा और जो ब्रह्म को जानता है, वह ब्राह्मण कहलाता है।

ऋग्वेद 5/60/5 में कहा गया है कि मनुष्यों में जन्मजात कोई भेदभाव नहीं। उसमें कोई छोटा बड़ा नहीं। सब आपस में बराबर हैं। सभी मिल-जुलकर लक्ष्य की प्राप्ति करें। जाति-पांति के नाम पर वर्तमान ऊंच-नीच अकारण है। इसका कोई शास्त्रीय आधार नहीं है। अतः अस्पृश्यता कलंक है। परस्पर घृणा और द्वेष का प्रचार इसी के बल पर किया जाता है। भगवान् जाति-पांति को नहीं, कर्म को देखते हैं। भक्त रैदास ने कहा है–

हरि को भजे सो हरि का होई। जाति-पांति पूछे नहीं कोई॥

८८. सत्यनारायण की कथा का महत्त्व क्यों?

श्री सत्यनारायण व्रत कथा देश के अनेक भागों में बहुत लोकप्रिय है। सत्य ही नारायण है, यह भाव सत्यनारायण की कथा से उभरता है। सत्य को साक्षात् भगवान् मानकर जीवन में उसकी आराधना करना ही सत्य-व्रत है। लोग सत्यनारायण कथा के माध्यम से सत्य-व्रत का सही रूप समझें, तो वे सच्चे अर्थों में सुख-समृद्धि के अधिकारी बन सकते हैं।

श्री सत्यनारायण व्रत कथा में विभिन्न कथानकों के माध्यम से एक ही तथ्य प्रमुखता से प्रकट हुआ है कि सत्यनिष्ठा अपनाने से अर्थात् सत्यनारायण का व्रत लेने से लौकिक और पारलौकिक दोनों जीवन सुख-शांतिमय बनते हैं और इस सत्यवृत्ति को छोड़ने से अनेक प्रकार के कष्टों को भोगना पड़ता है।
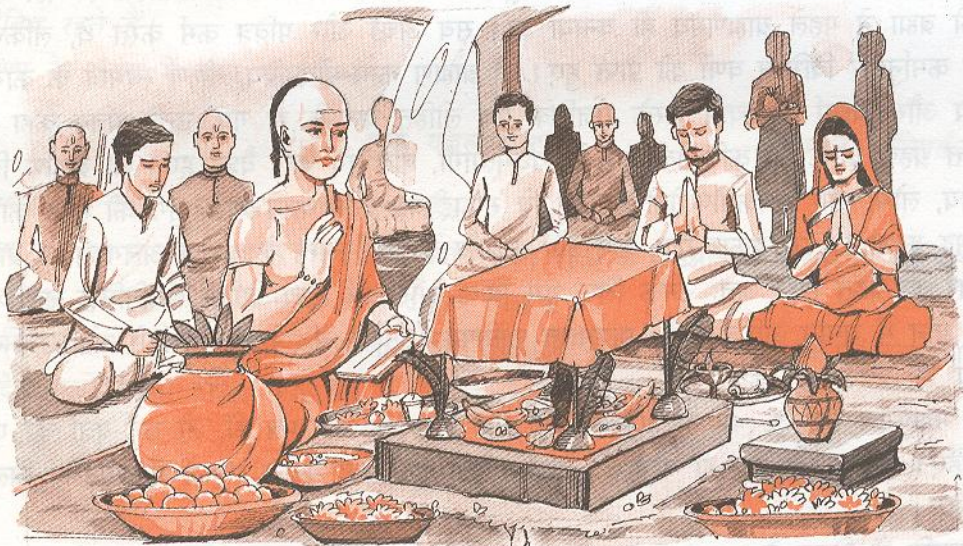
एक बार नारद ने भगवान् विष्णु से प्राणियों के दुखों के निवारण का उपाय पूछा। भगवान् विष्णु ने कहा—

व्रतमस्ति महत्पुण्यं स्वर्गे मर्त्ये च दुर्लभम्।
तव स्नेहान्मया वत्स! प्रकाशः क्रियतेऽधुना॥

अर्थात् हे पुत्र! मृत्युलोक में ही नहीं बल्कि स्वर्ग में भी अति दुर्लभ बड़ा ही पवित्र एक व्रत है, जिसे मैं प्रकट करता हूं।

'श्री सत्यनारायण व्रत' को विधि-विधानपूर्वक करने से इस लोक में सुख और अंत में सद्गति प्राप्त होती है। सत्य को ही भगवान् स्वरूप मानकर जो व्यक्ति इस व्रत को करता है, उसे प्रभु की कृपा का लाभ अवश्य मिलता है। प्रभु सत्य साधना से प्रसन्न होते हैं और उनकी कृपा से साधकों को लौकिक सुख और पारलौकिक शांति निश्चित रूप से मिलती है।

ध्यान देने योग्य बात यह है कि केवल वचन से ही सत्य का पालन नहीं हो जाता और न सत्य शब्दों के वश में होता है, अपितु जिससे धर्म की रक्षा और प्राणियों का हित होता है, वस्तुतः वही सत्य है। एक सत्यव्रती अपने उत्तम व्यवहार और शुभ कर्मों से ही भगवान् की सच्ची पूजा करता है।

शास्त्रकार ने लिखा है–

सत्यमेव जयते नानृतम्। –मुण्डक 3/1/5

अर्थात् सत्य ही जीतता है, असत्य नहीं।

सत्यव्रत को अपनाने वाला दरिद्र भी भगवान् की कृपा से धन-धान्य से पूर्ण हो जाता है। उसके पास से संसार के कष्ट, आपत्तियां डरकर भाग जाती हैं। वे विघ्न-बाधा रहित जीवन जीते हैं। उन्हें इच्छित फलों की प्राप्ति होती है। साथ ही भव-बंधनों से मुक्ति मिलकर देवताओं की तरह स्वर्ग में सुख और संतोष का जीवन मिलता है।

89. माला में 108 दाने ही क्यों?

प्राचीन काल से ही जप करना भारतीय पूजा-उपासना पद्धति का एक अभिन्न अंग रहा है। जप के लिए माला की जरूरत होती है, जो रुद्राक्ष, तुलसी, वैजयंती, स्फटिक, मोतियों या नगों से बनी हो सकती है। इनमें रुद्राक्ष की माला को जप के लिए सर्वश्रेष्ठ माना गया है, क्योंकि इसमें कीटाणुनाशक शक्ति के अलावा विद्युतीय और चुंबकीय शक्ति भी पाई जाती है।

अंगिरः स्मृति में माला का महत्त्व इस प्रकार बताया गया है–

विना दमैश्चयकृत्यं सच्चदानं विनोदकम्।
असंख्यता तु यजप्तं तत्सर्वं निष्फलं भवेत्॥

अर्थात् बिना कुश के अनुष्ठान, बिना जल संस्पर्श के दान तथा बिना माला के संख्याहीन जप निष्फल होता है।
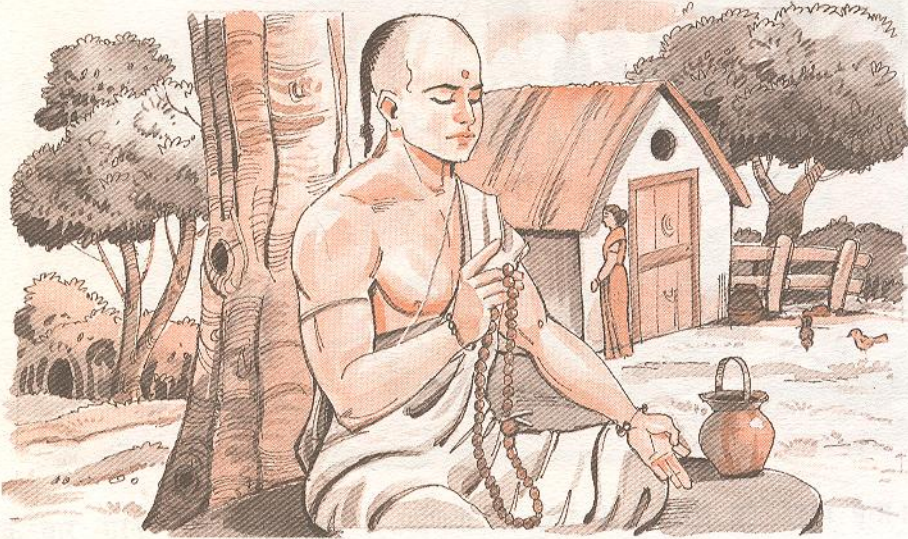
माला में 108 ही दाने क्यों होते हैं, उस विषय में **योगचूड़ामणि उपनिषद्** में कहा गया है–

षट्शतानि दिवारात्रौ सहस्राण्येकं विंशति।
एतत् संख्यान्तितं मंत्र जीवो जपति सर्वदा॥

हमारी सांसों की संख्या के आधार पर 108 दानों की माला स्वीकृत की गई है। 24 घंटों में एक व्यक्ति 21,600 बार सांस लेता है। चूंकि 12 घंटे दिनचर्या में निकल जाते हैं, तो शेष 12 घंटे देव आराधना के लिए बचते हैं। यानी 10,800 सांसों का उपयोग अपने इष्टदेव को स्मरण करने में व्यतीत करना चाहिए,

लेकिन इतना समय देना हर किसी के लिए संभव नहीं होता। इसलिए इस संख्या में से अंतिम दो शून्य हटाकर शेष 108 सांस में ही प्रभु स्मरण की मान्यता प्रदान की गई।

दूसरी मान्यता सूर्य पर आधारित है। एक वर्ष में सूर्य 216000 (दो लाख सोलह हजार) कलाएं बदलता है। चूंकि सूर्य हर 6 महीने में उत्तरायण और दक्षिणायण रहता है, तो इस प्रकार 6 महीने में सूर्य की कुल कलाएं 108000 (एक लाख आठ हजार) होती हैं। अंतिम तीन शून्य हटाने पर 108 अंकों की संख्या मिलती है, इसलिए माला जप में 108 दाने सूर्य की एक-एक कलाओं के प्रतीक हैं।

तीसरी मान्यता ज्योतिषशास्त्र के अनुसार समस्त ब्रह्मांड को 12 भागों में बांटने पर आधारित है। इन 12 भागों को 'राशि' की संज्ञा दी गई है। हमारे शास्त्रों में प्रमुख रूप से नौ ग्रह (नव-ग्रह) माने जाते हैं। इस तरह 12 राशियों और नौ ग्रहों का गुणनफल 108 आता है। यह संख्या संपूर्ण विश्व का प्रतिनिधित्व करने वाली सिद्ध हुई है।

चौथी मान्यता भारतीय ऋषियों की कुल 27 नक्षत्रों की खोज पर आधारित है। चूंकि प्रत्येक नक्षत्र के 4 चरण होते हैं। अतः इनके गुणनफल की संख्या 108 आती है, जो परम पवित्र मानी जाती है। इसमें श्री लगाकर 'श्री 108' हिंदू धर्म में धर्माचार्यों, जगत गुरुओं के नाम के आगे लगाना अति सम्मान प्रदान करने का सूचक माना जाता है।

माला के 108 दानों से यह पता चल जाता है कि जप कितनी संख्या में हुआ। दूसरे माला के ऊपरी भाग में एक बड़ा दाना होता है, जिसे सुमेरु कहते हैं, इसका विशेष महत्त्व माना जाता है। चूंकि माला की गिनती सुमेरु से शुरू कर माला समाप्ति पर इसे उलटकर फिर शुरू से 108 का चक्र प्रारंभ किया जाने का विधान बनाया गया है। इसलिए सुमेरु को लांघा नहीं जाता। एक बार माला जब पूर्ण हो जाती है, तो अपने इष्टदेव का स्मरण करते हुए सुमेरु को मस्तक से स्पर्श किया जाता है। ऐसा माना जाता है कि ब्रह्मांड में सुमेरु की स्थिति सर्वोच्च होती है।

माला में दानों की संख्या के महत्त्व पर **शिवपुराण** में कहा गया है–

अष्टोत्तरशतं माला तत्र स्यावृत्तमोत्तमां।
शतसख्योत्तमा माला पच शद्भिस्तु मध्यमा॥ *–शिवपुराण/पंचाक्षर मंत्र जप/29*

अर्थात् एक सौ आठ दानों की माला सर्वश्रेष्ठ, सौ-सौ की श्रेष्ठ तथा पचास दानों की मध्यम होती है।

शिवपुराण में ही इसके पूर्व श्लोक 28 में माला जप करने के संबंध में बताया गया है कि अंगूठे से जप करें तो मोक्ष, तर्जनी से शत्रुनाश, मध्यमा से धन प्राप्ति और अनामिका से शांति मिलती है।

90. रुद्राक्ष और तुलसी की माला धारण करना लाभदायक क्यों?

रुद्राक्ष, तुलसी आदि दिव्य औषधियों की माला धारण करने के पीछे वैज्ञानिक मान्यता यह है कि होंठ व जीभ का प्रयोग कर उपांशु जप करने से साधक की कंठ-धमनियों को सामान्य से अधिक कार्य करना पड़ता है, जिसके परिणामस्वरूप कंठमाला, गलगंड आदि रोगों के होने की आशंका होती है। उसके बचाव के लिए गले में उपरोक्त माला पहनी जाती है।

रुद्राक्ष की माला एक से लेकर चौदहमुखी रुद्राक्षों से बनाई जाती है। यों तो 26 दानों की माला सिर पर, 50 की हृदय पर, 16 की भुजा पर, 12 की माला मणिबंध पर धारण करने का विधान है। 108 दानों की माला धारण करने से अश्वमेध यज्ञ का फल और समस्त मनोकामनाओं में सफलता मिलती है। धारक को शिवलोक की प्राप्ति होती है, पुण्य मिलता है, ऐसी पद्मपुराण, शिवमहापुराण आदि शास्त्रों में मान्यता है।
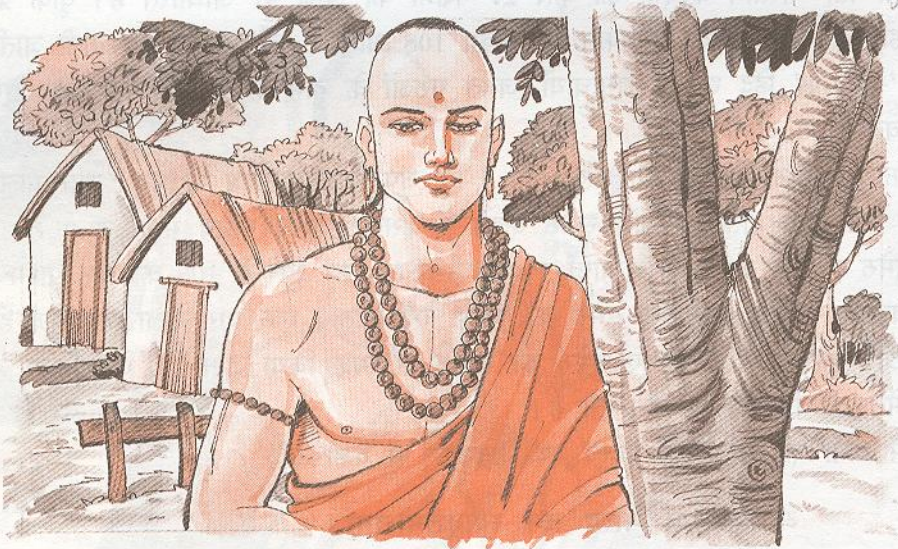
शिवपुराण में कहा गया है–

यथा च दृश्यते लोके रुद्राक्षः फलदः शुभः।
न तथा दृश्यते अन्या च मालिका परमेश्वरि॥

अर्थात् विश्व में रुद्राक्ष की माला की तरह अन्य कोई दूसरी माला फलदायक और शुभ नहीं है।

श्रीमद्देवीभागवत् में लिखा है–

रुद्राक्षधारणाच्च श्रेष्ठं न किचदपि विद्यते।

अर्थात् विश्व में रुद्राक्ष धारण से बढ़कर श्रेष्ठ कोई दूसरी वस्तु नहीं है।

इसी ग्रंथ के जप माला के लक्षण अध्याय में श्लोक 65 व 66 में लिखा है कि 108 दानों की माला धारण करने वालों को क्षण-क्षण पर अश्वमेध का फल प्राप्त होता है और वे अपनी इक्कीस पीढ़ियों का उद्धार करते हुए शिवलोक में निवास करते हैं।

रुद्राक्ष की माला श्रद्धापूर्वक विधि-विधानानुसार धारण करने से व्यक्ति की आध्यात्मिक उन्नति होती है। सांसारिक बाधाओं और दुखों से छुटकारा होता है। मस्तिष्क और हृदय को बल मिलता है। रक्तचाप संतुलित होता है। भूत-प्रेत बाधा दूर होती है। मानसिक शांति मिलती है। शीत-पित्त रोग का शमन होता है। इसीलिए इतनी लाभकारी, पवित्र रुद्राक्ष की माला में भारतीय जन मानस की अनन्य श्रद्धा है। जो मनुष्य रुद्राक्ष की माला से मंत्रजाप करता है उसे दस गुना फल प्राप्त होता है। अकाल मृत्यु का भय भी नहीं रहता है।

तुलसी का हिंदू संस्कृति में अत्यंत धार्मिक महत्त्व है। इसके सर्वरोग संहारक प्रभाव के कारण ही स्वास्थ्य और दीर्घायु मिलती है। अपनी प्रबल विद्युत शक्ति के कारण तुलसी की माला धारण करने से शरीर की विद्युत शक्ति नष्ट नहीं होती और धारक के चारों ओर चुंबकीय मंडल विद्यमान होने के कारण आकर्षण व वशीकरण शक्ति आती है। उसके यश, कीर्ति, सुख, सौभाग्यादि बढ़ते हैं।

माला में तुलसी की गंध व स्पर्श से ज्वर, जुकाम, सिरदर्द, चर्मरोग, रक्तदोष आदि रोगों में भी लाभ मिलता है और संक्रामक बीमारी तथा अकाल मृत्यु नहीं होती, ऐसी धार्मिक मान्यता है।

तुलसी की माला धारण करने के संबंध में शास्त्रकारों ने कहा है–

तुलसीमालिकां धृत्वा यो भुक्ते गिरिनंदिनी। सिक्थेसिक्थे स लभते वाजपेयफलाधिकम्॥
स्नानकाले तु यस्यांगे दृश्यते तुलसी शुभा। गंगादिसर्वतीर्थेषु स्नातं तेन न संशयः॥ *–शालग्राम पुराण*

अर्थात् तुलसी की माला भोजन करते समय शरीर पर होने से अनेक यज्ञों का पुण्य फल मिलता है। जो कोई तुलसी की माला धारण करके स्नान करता है, उसे गंगा आदि समस्त पुण्य सरिताओं में स्नान किया हुआ समझना चाहिए।

91. स्वस्तिक कल्याण का प्रतीक क्यों?

स्वस्तिक चिह्न (卐) में किसी धर्म विशेष की नहीं, बल्कि सभी धर्मों एवं समस्त प्राणि मात्र के कल्याण की भावना निहित है। इसीलिए हिन्दू धर्म में ही नहीं, अपितु विश्व के सारे धर्मों ने इसे परम पवित्र, मंगल करने वाला चिह्न माना है। प्रत्येक शुभ और कल्याणकारी कार्य में स्वस्तिक का चिह्न सर्वप्रथम प्रतिष्ठित करने का आदिकाल से ही नियम है। **गणेशपुराण** में कहा गया है कि स्वस्तिक भगवान् गणेशजी का स्वरूप है। मांगलिक कार्यों में इसकी स्थापना अनिवार्य है। इसमें विघ्नों को हरने और सारे अमंगल दूर करने की शक्ति निहित है। जो इसकी प्रतिष्ठा किए बिना मांगलिक कार्य करता है, वह निर्विघ्न सफल नहीं होता। इसी कारण किसी भी मांगलिक कार्य के शुभारंभ से पहले स्वस्तिक चिह्न बनाकर स्वस्तिवाचन करने का विधान है—

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्ताक्षर्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥ —*यजुर्वेद 25/11*

अर्थात् महान कीर्ति वाले भगवान् इंद्र हमारा कल्याण करें, विश्व के ज्ञान स्वरूप पूषा देव हमारा कल्याण करें, जिसके हथियार अरिष्ट भंग करने में समर्थ हैं, ऐसे गरुड़ देव हमारी रक्षा करें। बृहस्पति देवता हमारे घर में कल्याण की प्रतिष्ठा करे।

अथर्ववेद 1/31/4 में कहा गया है कि हमारा माता के लिए कल्याण हो। पिता के लिए कल्याण हो। हमारे गोधन का मंगल हो। विश्व के समस्त प्राणियों का मंगल हो। हमारा यह संपूर्ण विश्व उत्तम धन और उत्तम ज्ञान से संपन्न हो। हम लोग चिरकाल तक प्रतिदिन सूर्य का दर्शन करते रहें। हम दीर्घजीवी हों।

स्वस्तिक को 'सातिया' के नाम से भी जाना जाता है। सातिया को सुदर्शन चक्र का प्रतीक भी माना जाता है। यह धनात्मक या 'प्लस' को भी इंगित करता है, जो संपन्नता का प्रतीक है। स्वस्तिक के चारों ओर लगाए गए बिंदुओं को चार दिशाओं का प्रतीक माना गया है।

शास्त्रानुसार स्वस्तिक की आठ भुजाएं–पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु, आकाश, मस्तिष्क भाव आदि की प्रतीक मानी जाती हैं। मुख्य चार भुजाएं चारों दिशाओं, चार युग–सतयुग, त्रेता, द्वापर व कलियुग, चार वर्णो–ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र, चार आश्रम–ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ व संन्यास, चार पुरुषार्थ–धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, ब्रह्मा के चार मुख और चार हाथों की प्रतीक चार वेद–ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद व अथर्ववेद तथा चार नक्षत्रों–पुष्य, चित्रा, श्रवण व रेवती आदि की प्रतीक भी मानी जाती हैं।

ऋग्वेद की एक ऋचा में स्वस्तिक को सूर्य का प्रतीक माना गया है। **अमरकोश** में इसे पुण्य, मंगल, क्षेम एवं आशीर्वाद के अर्थ में लिया गया है। **आचार्य यास्क** ने स्वस्तिक को अविनाशी ब्रह्म की संज्ञा दी है। इसे श्री अर्थात् धन की देवी लक्ष्मी का प्रतीक चिह्न भी माना जाता है। इस प्रकार भारतीय संस्कृति में स्वस्तिक का चिह्न अपने में अनेक प्रतीकों को समेटे हुए चारों दिशाओं के अधिपति देवताओं, अग्नि, इंद्र, वरुण व सोम की पूजा के लिए और सप्तऋषियों के आशीर्वाद प्राप्त करने के लिए प्रयुक्त किया जाता है। अतः इसके महत्त्व को समझकर, हमें श्रद्धापूर्वक इसे अपनाना चाहिए।

९२. ओउम् (ॐ) का शास्त्रों में अधिक महत्त्व क्यों?

हिंदू संस्कृति में ॐ का उच्चारण अत्यंत महिमापूर्ण और पवित्र माना गया है। इसके उच्चारण में अ+उ+म् अक्षर आते हैं जिसमें 'अ' वर्ण 'सृष्टि' का द्योतक है, 'उ' वर्ण 'स्थिति' दर्शाता है जबकि 'म' 'लय' का सूचक है जो ब्रह्मा, विष्णु और महेश (शंकर) का बोध कराता है और इन तीनों शक्तियों का एक साथ आवाहन होता है। ये तीन अक्षर—ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद का प्रतिनिधित्व करते हैं। ॐ ही समस्त धर्मों व शास्त्रों का स्रोत है। नाद/ध्वनि का मूल स्वरूप ॐकार माना गया है। ॐ ही नाद ब्रह्म है। ॐ पराबीजाक्षर है। इसी कारण हर शुभ कार्य करने से पहले इसका उच्चारण अनिवार्य है। इस बीजाक्षर को अत्यंत रहस्यमय और परम शक्तिशाली माना गया है। इसीलिए अनादि काल से साधकों में ॐकार के प्रति अगाध श्रद्धा रही है।

ॐ की महिमा के संबंध में अनेक ग्रंथों में उल्लेख किया गया है।
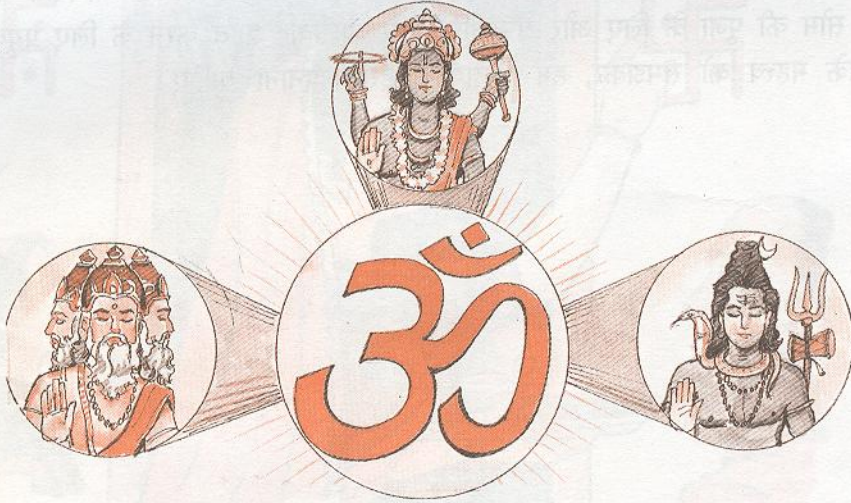
कठोपनिषद् में यमदेव नचिकेता से कहते हैं—

सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥ *—कठोपनिषद् 12/15*

अर्थात् सभी वेदों ने जिस पद की महिमा गाई, तपस्वी लोगों ने तपस्या करके जिस शब्द का उच्चारण किया, उसी महत्त्वपूर्ण शक्ति को मैं तुम्हें साररूप में बताता हूं। हे नचिकेता! वेदों का सार, तपस्वियों का वचन, ज्ञानियों का अनुभव 'ॐ इति एतत्' केवल ॐ ही है।

आगे 1/2/16-17 में कहा है कि यह अक्षर (ओंकार/ॐ) ही तो ब्रह्म है और यह अक्षर ही परब्रह्म है। इसी अक्षर को जानकर मनुष्य जो कुछ चाहता है, उसको वही मिल जाता। यही अत्युत्तम आलम्बन

है, यही सबका अंतिम आश्रय है। इस आलम्बन को भली भांति जानकर साधक ब्रह्मलोक में महिमान्वित होता है।

माण्डूक्य उपनिषद् में कहा गया है–

युंजीत प्रणवे चेतः प्रणवो ब्रह्म निर्भयम्।
प्रणवे नित्ययुक्तस्य न भयं विद्यते क्वचित्॥ *–माण्डूक्य उप. आगम प्रकरण 25*

अर्थात् चित्त को ॐ में समाहित करो। ॐ निर्भय ब्रह्मपद है। ॐ में नित्य समाहित रहने वाले पुरुष को कहीं भी भय नहीं होता। **भगवान् श्रीकृष्ण** ने कहा है–

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥ *–श्रीमद्भगवद्गीता 8/13*

अर्थात् मन के द्वारा प्राण को मस्तक में स्थापित करके, योगधारण में स्थित होकर जो पुरुष ॐ इस एक अक्षररूप ब्रह्म का उच्चारण और उसके अर्थस्वरूप मुझ निर्गुण ब्रह्म का चिंतन करता हुआ शरीर को त्याग करता है, वह पुरुष परम गति को प्राप्त होता है।

आगे वे **श्रीमद्भगवद्गीता** के अध्याय 17 के श्लोक 24 में कहते हैं कि वेद मंत्रों का उच्चारण करने वाले श्रेष्ठ पुरुषों की शास्त्रविधि से नियत यज्ञ, दान और तपरूप क्रियाएं सदा ॐ इस परमात्मा के नाम को उच्चारण करके ही आरंभ होती हैं।

गोपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि बिना ॐ लगाए किसी मंत्र का उच्चारण करने पर मंत्र निष्फल हो जाता है। मंत्र के आगे ॐ का उच्चारण मंत्र की शक्ति में वृद्धि कर देता है। ॐ शिव है और मंत्र है शक्ति रूप, इसलिए इन दोनों का एक साथ उच्चारण करना मंत्र में सिद्धि देनेवाला है। प्रत्येक स्तोत्र, उपनिषद्, गायत्री मंत्र, यज्ञ में आहुतियां देने वाले मंत्र, सभी अर्चनाएं, सहस्रनाम, भगवानों को याद करने के मंत्र आदि सब ॐ से ही आरंभ होते हैं।

ॐ को पूर्ण श्रद्धा भाव के साथ ऊंचे दीर्घ स्वर में उच्चारण करना चाहिए। इसके उच्चारण से ध्वनि में कंपन शक्ति पैदा होती है। भौतिक शरीर के अणु-अणु पर इसका प्रभाव पड़ता है। मन में एकाग्रता और शक्ति जाग्रत होती है। वाणी में मधुरता आती है। विक्षिप्तता नष्ट हो जाती हैं। शरीर में स्फूर्ति का संचार होता है। सभी संसारी विचारों का लोप हो जाता है। सुषुप्त शक्तियां जाग्रत होती हैं। आत्मिक बल मिलता है। जीवनी शक्ति ऊर्ध्वगामी होती है। इसके 7, 11, 21, 51 बार उच्चारण करने से चित्त की उदासी, निराशा दूर होकर प्रसन्नता आती है। सामूहिक रूप से किया गया ॐ का उच्चारण और अधिक प्रभावशाली हो जाता है। अतः शरीर को तंदुरुस्त व मन को स्वस्थ बनाने के लिए हमें शांत मन से कुछ समय ॐ का उच्चारण अवश्य करना चाहिए।

वैज्ञानिकों का कहना है कि हमारे सिर की खोपड़ी में स्थित मस्तिष्क में कई अंग व दिमाग योगासन व व्यायाम द्वारा खिंचाव में नहीं लाए जा सकते, इसलिए ॐ का उच्चारण उपयोगी है। इससे दिमाग के दोनों अर्द्धगोल प्रभावित होते हैं जिससे कम्पन व तरंग मस्तिष्क में लाकर कैलशियम कार्बोनेट का जमाव झटककर दिमाग साफ रखता है।

93. कलश मांगलिकता का प्रतीक क्यों?

पौराणिक ग्रंथों में कलश को ब्रह्मा, विष्णु, महेश और मातृगण का निवास बताया गया है। समुद्र मंथन के उपरांत कलश में अमृत की प्राप्ति हुई थी। ऐसा माना जाता है कि जगत्‌जननी सीताजी का आविर्भाव भी कलश से ही हुआ था। प्राचीन मंदिरों में कमल पुष्प पर विराजमान लक्ष्मी का दो हाथियों द्वारा अपने-अपने सूंड़ में जल कलश से स्नान कराने का दृश्य मिलता है। ऋग्वेद में कलश के विषय में कहा गया है–

आपूर्णो अस्व कलशः स्वाहा सेक्तेव कोशं षिषिचे पिब्ध्ये।
समु प्रिया आववृत्रन् मदाय प्रदक्षिणीदभि सोमास इंद्रम् ॥ *–ऋग्वेद खंड 2/अ. 2/32/15*

अर्थात् पवित्र जल से भरा हुआ कलश भगवान् इंद्र को समर्पित है।

लंका विजय के उपरांत भगवान् श्रीराम के अयोध्या लौटने पर उनके राज्याभिषेक के उपलक्ष्य में जल भरे कलशों की पंक्तियां संजोई गई थीं।

कंचन कलस विचित्र संवारे। सबहीं धारे सजि निज द्वारे॥

अथर्ववेद में कहा गया है कि सूर्यदेव द्वारा दिए गए अमृत वरदान से मानव का शरीर कलश शत-शत वर्षों से जीवन रस धारा में प्रवाहित हो रहा है।

इस प्रकार देखा जाए, तो हमारी संस्कृति में कलश अथवा घड़ा अत्यंत मांगलिक चिह्न के रूप में प्रतिष्ठित है। किसी भी प्रकार की पूजा, अनुष्ठान, राज्याभिषेक, गृह प्रवेश, यात्रा आरंभ, उत्सव, विवाह आदि शुभ प्रसंग में सर्वप्रथम कलश को लाल कपड़े, स्वस्तिक, आम के पत्तों, नारियल, सिक्का, कुंकुम,

अक्षत, फूल आदि से अलंकृत करके ब्रह्मा, विष्णु और महेश के रूप में उसकी पूजा की जाती है और अनुष्ठान विशेष के फलीभूत होने की कामना की जाती है। साथ ही वरुण देव का आह्वान किया जाता है, ताकि कलश हमारे लिए समुद्र के समान वैभवशाली रत्न तुल्य सामग्री प्रदान करे।

मनुष्य जीवन की तुलना भी मिट्टी के कलश या घड़े से की गई है, जिसमें भरा पानी प्राण है, जीवन है। जैसे प्राणविहीन शरीर अशुभ माना जाता है, ठीक वैसे ही खाली कलश को भी अशुभ माना जाता है। इसीलिए इसमें पानी, दूध या अनाज भर कर पूजा आदि के लिए रखा जाता है। तभी वह हमारे लिए कल्याणकारी होता है। आपने देखा होगा कि दाह संस्कार के समय व्यक्ति के जीवन की समाप्ति के प्रतीक अर्थ में परिक्रमा कर जल से भरा मटका छेद कर खाली किया जाता है और उसे फोड़ दिया जाता है।

देवीपुराण में उल्लेख मिलता है कि भगवती देवी की पूजा अर्चना की शुरुआत करते समय सबसे पहले कलश की ही स्थापना की जाती है। नवरात्र के अवसर पर देवी मंदिरों के साथ-साथ घरों में भी कलश स्थापित कर जगत जननी माता दुर्गा के शक्ति स्वरूपों की विधिवत पूजा-अर्चना की जाती है। अतः भारतीय संस्कृति में कलश स्थापना अत्यंत धार्मिक और व्यावहारिक कर्म है।

94. मंदिर का निर्माण क्यों?

व्यक्ति किसी भी देश, संप्रदाय या वर्ग का क्यों न हो, दुनिया के समस्त प्राणियों में सिर्फ मनुष्य ने ही मंदिर (धर्म-स्थलों) का निर्माण किया है। भले ही अलग-अलग संप्रदाय के लोग अपने-अपने ढंग से, अलग-अलग तरह के मंदिर बनाकर उन्हें गुरुद्वारा, गिरजाघर (चर्च), मस्जिद आदि अलग-अलग नामों से पुकारते हों, किंतु इन्हें बनाने का उद्देश्य है कि इन्हें देखकर मनुष्य को परमात्मा का स्मरण हो, जहां पर परमात्मा की शरण प्राप्त करने का मार्ग मिले, जहां दुनियादारी के झंझटों को भूलकर एकाग्र और ध्यान-मग्न होकर मन को शांति मिले। उस पवित्र वातावरण में मन को निर्विकार कर प्रभु भक्ति में लीन किया जा सके।

वास्तव में देखा जाए तो मंदिर एक ऐसा स्थल होता है, जहां आध्यात्मिक और धार्मिक वातावरण होता है तथा देवपूजा उसका लक्ष्य होता है। यहां आप अकेले या अन्य व्यक्तियों की उपस्थिति में भी बैठकर शांत मन से जाप, पूजा-पाठ, आरती, भजन, मंत्र पाठ, ध्यान आदि कर सकते हैं। ऐसे धूप-दीप आदि सुगंधित द्रव्यों के कारण मंदिर के चारों ओर दिव्य शक्ति का संचार रहता है, जिसके कारण भूत-प्रेत और विषाणुयुक्त कीटाणुओं की शक्ति क्षीण होती है। माहौल में आपके मन की भाव-दशा प्रभु की भक्ति, पूजा, प्रार्थना उपासना के अनुकूल होती है, जिससे इन कर्म-कांडों को पूरा करने का आपको शारीरिक और मानसिक लाभ मिलता है। अभीष्ट फल की प्राप्ति होती है।

एक बार, जगद्गुरु शंकराचार्य से नगर सेठ माणिक ने पूछा–"आचार्यवर! आप तो वेदांत के समर्थक हैं। भगवान् को निराकार सर्वव्यापी मानते हैं, फिर मंदिरों की प्रदर्शनात्मक मूर्तिपूजा परक प्रक्रिया का समर्थन क्यों करते हैं"

आचार्य बोले–"वत्स! उस दिव्य सर्वव्यापी चेतना का बोध सबको अनायास नहीं होता। मंदिरों में प्रातः- संध्या संधिकाल से, शंख-घंटों के नाद के साथ दूर-दूर तक उपासना के समय का बोध कराया जाता है। घर-घर उपासना के योग्य उपयुक्त स्थल नहीं मिलते, मंदिर के संस्कारित वातावरण में कोई भी जाकर उपासना कर सकता है। नैतिकता, सदाचार और श्रद्धा के निर्झरों के रूप में देवालय अत्यंत उपयोगी हैं। जनसाधारण के लिए यह अत्यावश्यक है।"

मंदिर के ऊपर गुंबद का निर्माण क्यों?

मंदिर के ऊपर गुंबद बनाना ध्वनि सिद्धांत और वास्तुकला की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। साधक देव प्रतिमाओं के सामने बैठकर पूजा-अर्चन में जो मंत्र जाप करते हैं, उनकी ध्वनि मंदिर के गुंबद से टकराकर घूमती है और ऊपर की ओर गुंबद के संकरे होते जाने के कारण केंद्रीभूत हो जाती है। गुंबद का सबसे ऊपर का मध्य भाग जहां कलश-त्रिशूल आदि लगा होता है। वह अत्यंत संकरा और बिंदु रूप होता है। यह स्थान इस प्रकार बनाया जाता है कि देव प्रतिमा का सहस्रार स्थान और गुंबद का बिंदु स्थान एक रेखा में रहे।

मंत्र शाश्वत शब्द ब्रह्म है और उसमें सभी प्रकार की ईश्वरीय शक्ति समन्वित है। अतः गुंबद से टकराकर जब मंत्र ध्वनि देवता के सहस्रार से टकराती है, तो देव प्रतिमाएं जाग्रत हो जाती हैं और साधक को उसकी भावना के अनुसार फल प्रदान करती हैं।

जिस प्रकार का मंत्र बोला जाता है, वह देव प्रतिमा को उसी रूप में जाग्रत करता है। अतः देव प्रतिमा से मिलने वाला फल मंत्र की भावना के अनुकूल ही होता है। ऐसे स्थल निरंतर पूजा-साधना से सिद्ध स्थल हो जाते हैं और वहां जाकर साधना करने पर तुरंत फल मिलता है। इसलिए ये बहुत प्रसिद्ध भी हो जाते हैं।

गुंबद एक अर्थ में हमारे ऋषि-मुनियों द्वारा खोजे गए पिरामिड संबंधी ज्ञान के प्रतिरूप हैं। पिरामिड सिद्धांत के गुंबद के रूप में एक ऐसे शक्ति क्षेत्र का निर्माण किया जाता है जहां रखी वस्तुएं बहुत काल तक पृथ्वी के बाह्य प्रभाव से मुक्त होकर सुरक्षित रही आती हैं। मिश्र के पिरामिडों में हजारों वर्ष से रखी मृत देह और अन्य वस्तुओं का आज भी सुरक्षित मिलना तथा एक विशेष प्रकार की चुंबकीय शक्ति का वहां मिलना इन्हीं तथ्यों को प्रकट करता है। इस रूप में मंदिर के गुंबदों का संबंध देव-प्रतिमाओं, साधकों और उनकी भावनाओं की सुरक्षा एवं पूर्ति से स्पष्ट प्रतीत होता है।

95. मंदिरों में घंटा और घड़ियाल बजाने का महत्त्व क्यों?

जिस मंदिर से घंटा-घड़ियाल बजने की नियमित ध्वनि आती रहती है, उसे जाग्रत देव मंदिर कहा जाता है। मंदिरों के प्रवेश द्वारों पर घंटे लगाए जाते हैं, ताकि प्रभु का दर्शनार्थी इसे बजाकर अपने आने की सूचना दर्ज करा सके। आरती के समय घंटे-घड़ियाल बजाने से जो लोग मंदिर के आसपास होते हैं, उन्हें भी यह पता चल जाता है कि पूजा-आरती का समय हो गया है। उल्लेखनीय है कि सुबह-शाम मंदिरों में जब पूजा-आरती की जाती है, तो छोटी घंटियों, घंटों के अलावा घड़ियाल भी बजाए जाते हैं। इन्हें विशेष ताल और गति से बजाना अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है। ऐसा माना जाता है कि घंटा बजाने से मंदिर में प्राण प्रतिष्ठित मूर्ति के देवता भी जाग्रत हो जाते हैं, अन्यथा जब आप उनके दर्शन के लिए जाते हैं, तो वे अपनी समाधि में डूबे रह सकते हैं, ऐसे में आपकी पूजा, प्रार्थना प्रभावशाली नहीं होगी। इसके अलावा घंटा बजाने के पीछे मान्यता यह भी है कि इनकी ध्वनि से अनिष्ट करने वाली विपत्तियों से व्यक्ति बच जाता है। स्कंदपुराण के अनुसार घंटानाद से मानव के सौ जन्मों के पाप कट जाते हैं।
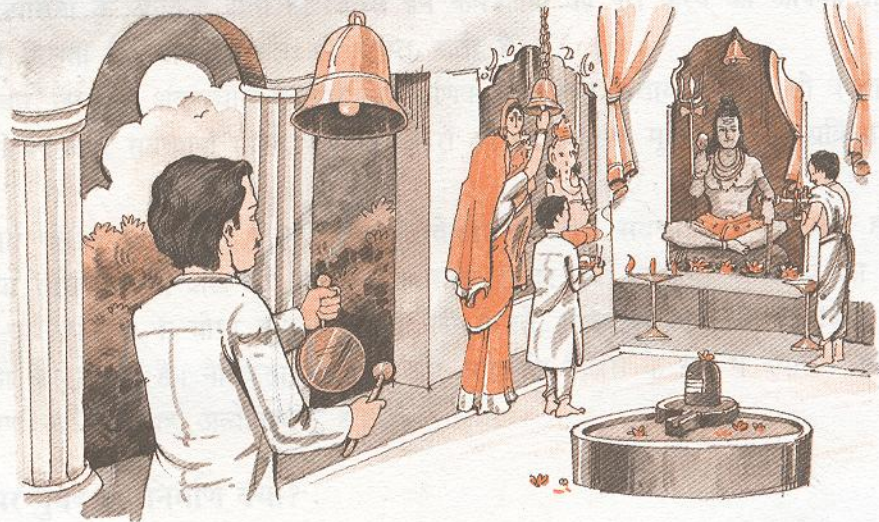
कहा जाता है कि समाधि के समय या पूर्व, योगियों को जो स्वर अपने भीतर सुनाई पड़ते हैं, वे वैसे ही होते हैं, जो घंटा और घड़ियाल को बजाने से पैदा होते हैं। जब सृष्टि का प्रारंभ हुआ था, तब जो नाद था, घंटे की ध्वनि में वही नाद निकलता है, यही नाद ओंकार के उच्चारण से भी जाग्रत होता है। उल्लेखनीय है कि वृषभ (नंदी) को इस प्रकार के नाद का प्रतीक माना गया है। घंटे को काल का प्रतीक भी माना गया है, क्योंकि जब प्रलय काल आएगा, तब भी इसी प्रकार का नाद प्रकट होगा। ऐसा विश्वास किया जाता है।

96. पूजा में कमल-पुष्प का विशेष महत्त्व क्यों?

भारतीय अध्यात्म दर्शन में कमल के पुष्प को अत्यंत पवित्र, पूजनीय एवं सुंदरता, सद्भावना, शांति-समृद्धि, और बुराइयों से मुक्ति का प्रतीक माना गया है। यह ऐश्वर्य तथा सुख का सूचक है। इसीलिए कमल को पुष्पराज भी कहा जाता है। पौराणिक आख्यानिकों में भगवान् विष्णु की नाभि से कमल का उत्पन्न होना और उस पर विराजमान ब्रह्माजी द्वारा सृष्टि की रचना करना कमल की महत्ता को स्वयं सिद्ध करता है। कमल को महालक्ष्मी, ब्रह्मा, सरस्वती आदि देवी-देवताओं ने अपना आसन बनाया है। यह लक्ष्मी व श्रीदायक है। कमल के फूल से अनेक देवी-देवताओं की पूजा की जाती है। अनेक प्रकार के यज्ञों और अनुष्ठानों में कमल के पुष्पों को निश्चित संख्या में अर्पित करने का शास्त्रों में विधान बताया गया है।

कमल का फूल कीचड़ और जल में ही उत्पन्न होता है, लेकिन उससे निर्लिप्त रहकर, हमें पवित्र जीवन जीने की प्रेरणा देता है। यह इस बात का प्रतीक है कि अवांछनीय तत्त्वों के परिमार्जन द्वारा श्रेष्ठता को प्राप्त किया जा सकता है। इसीलिए कमल का सा खिलना अत्यंत शुभ और मांगलिक माना जाता है।

मंदिरों के शिखर बंद कमल के आकार के बनाए जाते हैं। पृथ्वी की आकृति भी कमल के समान बताई गई है। कुंडलिनी जागरण के लिए योगी जिन आठ चक्रों को भेदते हैं, उन्हें विभिन्न दलों के कमल कहते हैं, क्योंकि उनको भेद कर ही ब्रह्म का ज्ञान और उसकी प्राप्ति होना बताया जाता है।

शतपत ब्राह्मण में–'योनिर्वै पुष्करम्' अर्थात् स्त्री के गर्भाशय के अग्र भाग को भी कमल कहा गया है, जो उत्पत्ति से इसकी समधर्मिता को सिद्ध करता है। *बौद्ध धर्म* के **ललित विस्तार ग्रंथ** में कमल को अष्टमंगल माना गया है। इस प्रकार देखें, तो कमल के इतने विशिष्ट अर्थ हैं कि इसे भारतीय संस्कृति का विश्वकोश मानना गलत न होगा।

97. चरण स्पर्श, साष्टांग प्रणाम की परंपरा क्यों?

भारतीय संस्कृति में माता-पिता एवं गुरुजनों के नित्य चरण स्पर्श करके आशीर्वाद प्राप्त करने की परंपरा सत्युग, त्रेता, द्वापर युग से होती हुई आज भी यथावत् बनी हुई है। **अथर्ववेद** में तो मानव-जीवन की आचार संहिता का एक खंड ही है, जिसमें व्यक्ति की प्रातः कालीन प्राथमिक क्रिया के रूप में नमन को प्रमुखता दी गई है।

चरणस्पर्श करने का अर्थ है–श्रद्धा के साथ बुजुर्गों, पूजनीयों, विद्वानों के व्यक्तित्व, आदर्शों और विद्वत्ता के आगे नत-मस्तक होना। चरण-स्पर्श की भावना से जहां व्यक्ति विनम्र बनता है, वहीं वह सामने वाले व्यक्ति को भी प्रभावित करता है। इस प्रकार चरणस्पर्श की प्रक्रिया से परस्पर आत्मीयता, विनयशीलता, नम्रता, आदर और श्रद्धा के भाव जाग्रत होते हैं। इसमें अंगसंचालन से की गई शारीरिक क्रियाएं व्यक्ति को स्फूर्ति, उत्साह और चैतन्यता प्रदान करती हैं, क्योंकि चरणस्पर्श विधि अपने आप में एक लघु व्यायाम, एक योग-क्रिया भी है। इसके अलावा इससे मानसिक मलिनता, तनाव व आलस्य से भी छुटकारा मिलता है।
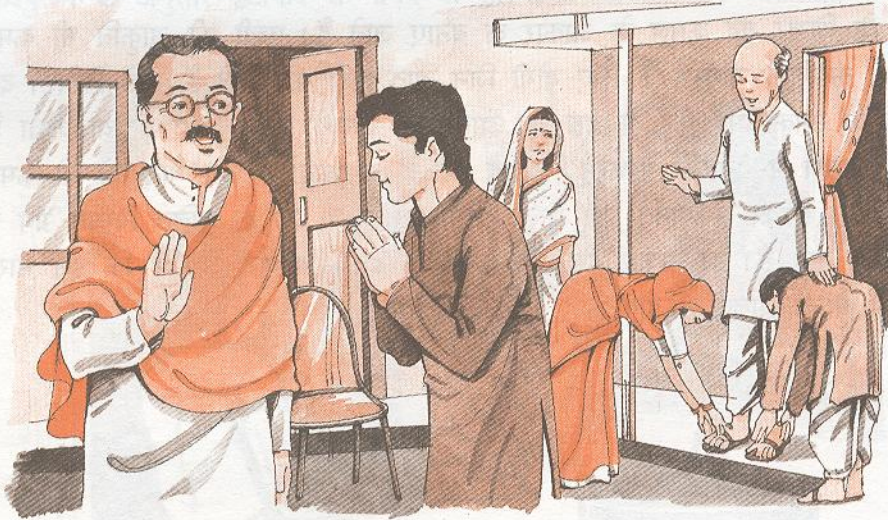
पांडवों को महाभारत युद्ध में विजयश्री मिली थी, क्योंकि उन्होंने युद्ध प्रारंभ होने के पूर्व ही शत्रुपक्ष की ओर से युद्ध लड़ रहे अपने पितामह, गुरुजनों आदि की वंदना कर उनसे विजय का आशीर्वाद प्राप्त कर लिया था।

माता-पिता आदि का ऋण उतारना कठिन है। **मनुस्मृति** *2/228* में कहा गया है कि बच्चे की उत्पत्ति के समय माता-पिता जो क्लेश, कष्ट, दुख सहते हैं, उसका बदला सौ वर्षों में भी नहीं चुकाया जा सकता। इसी ग्रंथ में पिता को प्रजापति की मूर्ति और माता को पृथ्वी की मूर्ति तुल्य बताया गया है। इसलिए इनकी सेवा को ही बड़ा भारी तप कहा गया है। जिसने माता-पिता का आदर और सेवा की, उसने सभी धर्मों का आदर किया समझना चाहिए। जिसने इनका आदर नहीं किया उसकी सब क्रियाएं निष्फल हो जाती हैं।

मनुस्मृति *2/232* में कहा गया है कि जो गृहस्थ माता-पिता की सेवा में तत्पर रहता है, वह तीनों लोकों पर विजय प्राप्त करता है और स्वर्ग में सूर्य के सदृश अपने तेजस्वी शरीर के द्वारा प्रकाश करता हुआ आनंद में रहता है।

मनुस्मृति *2/121* में कहा गया है कि जो नित्य प्रति अपने बुजुर्गों, गुरुजनों को प्रणाम करता है, उसकी आयु, विद्या, कीर्ति और बल सदा बढ़ते हैं। चरणस्पर्श की सही पद्धति क्या हो, इस संबंध में मनु ने कहा है–

ब्रह्मारम्भेऽव साने व पादौ ग्राह्यौ गुरोः सदा।
संहत्य हस्तावध्येयं स हि ब्रह्मांजलिः स्मृतः॥
व्यत्यस्त पाणिना कार्यमुप संग्रहण गुरोः।
सव्येन सव्यः स्प्रष्टव्यो दक्षिणेन व दक्षिणः॥

अर्थात् वेदाध्ययन के आरंभ और समाप्त होने पर शिष्य नित्यप्रति गुरुचरणों का स्पर्श करें और हाथों को जोड़ लें, यही ब्रह्मांजलि कही गई है। गुरु के पास दाएं हाथ से गुरु का दायां पैर और बाएं हाथ से बायां पैर स्पर्श करें।

एक हाथ से नमस्कार को अनुचित माना गया है। शास्त्रकार ने चेतावनी भी दी है–

जन्मप्रभृति यत्किंचित् सुकृतं समुपार्जितम्।
तत्सर्वं निष्फलं याति एकहस्ताभिवादनात्॥ –*व्याघ्र, 367*

अर्थात् एक हाथ से अभिवादन कभी नहीं करना चाहिए। ऐसा करने से जीवन भर कमाया पुण्य निष्फल हो जाता है। इसलिए दोनों हाथों से बड़ी ही नम्रता एवं श्रद्धाभक्ति से अभिवादन करना चाहिए।

वैज्ञानिक भी इस बात से सहमत हैं कि हमारे हाथ-पैरों की उंगलियां और तलवे अत्यंत संवेदनशील अंग हैं, जिनकी सहायता से हम किसी वस्तु के कोमल, कठोर, शीतल या गर्म होने की अनुभूति प्राप्त करते हैं। चूंकि हमारे हाथ-पैरों की उंगलियों से एक विशेष प्रकार की विद्युत्धारा निरंतर निकलती रहती है। इसका उत्तम उदाहरण मेस्मेरिज़्म है, जिसमें हाथ की तरंगों का उपयोग पास देने में किया जाता है। हमारे मस्तक का कपाल, मर्मस्थल प्रदेश और हाथों की उंगलियों में इस विद्युत्धारा के प्रभाव को ग्रहण करने की विशेष क्षमता होती है। जब बुजुर्ग के चरण स्पर्श किए जाते हैं, तो वे आशीर्वाद स्वरूप हमारे मस्तक पर हाथ की हथेली रखते हैं। इस प्रकार परोक्ष रूप से वे हमें अपना उत्कृष्ट प्रभाव भी विद्युत्धारा के माध्यम से दे देते हैं। इस प्रकार प्राप्त ऊर्जा से हमें स्फूर्ति मिलती है। चेहरा आंतरिक खुशी से भर जाता है, मस्तक तेजोमय हो उठता है और खोया हुआ आत्मविश्वास लौट आता है। आशीर्वाद एक गुप्त मानसिक कवच की तरह हमारी रक्षा करता है, प्रेरणा देता है, शक्ति का संचार करता है।

महाभारत के वनपर्व में एक कथा का उल्लेख मिलता है–एक बार एक यक्ष ने धर्मराज युधिष्ठिर से प्रश्न किया–'व्यक्ति महान् व सर्वशक्तिमान कैसे बन सकता है ?' धर्मराज ने उत्तर दिया–'माता-पिता, गुरु एवं वृद्धजनों के श्रद्धा-भक्तिपूर्वक चरर्ण स्पर्श कर तथा उनकी सेवा कर उनके द्वारा प्रसन्नचित्त से दिए हुए आशीर्वाद की शक्ति प्राप्त कर के ही व्यक्ति महान् बन सकता है।'

98. छोछक और भात देने की परंपरा क्यों?

विधिपूर्वक विवाहित पुत्री के पुत्र होने पर उस बच्चे के लिए मामा और नाना की ओर से वस्त्र, आभूषण आदि भेंट किए जाते हैं। इस अवसर पर लड़की, दामाद तथा ससुराल के अन्य मान्य लोगों सास-ससुर आदि के लिए भी वस्त्र और भेंट के रूप में धन आदि दिया जाता है। समाज में इस परंपरा को 'छोछक' के नाम से जाना जाता है। यह परंपरा बच्चे के नामकरण वाले दिन पूरी की जाती है। अधिकांश घरों में संतान चाहे पुत्र हो या पुत्री माता के मायके वाले छोछक अवश्य देते हैं।

ठीक इसी प्रकार की एक परंपरा पुत्री के बेटे या बेटी के विवाह के समय मामा और नाना की ओर से निबाही जाती है। इस परंपरा को 'भात' देना कहते हैं। भात देने में कन्या के मामा-नाना कन्या के लिए तो वस्त्र आभूषण तथा नकद रकम देते ही हैं, ससुराल पक्ष के अन्य लोगों के लिए भी वस्त्र एवं भेंट आदि दी जाती है। इसी प्रकार भांजे की शादी में भी भात दिया जाता है।
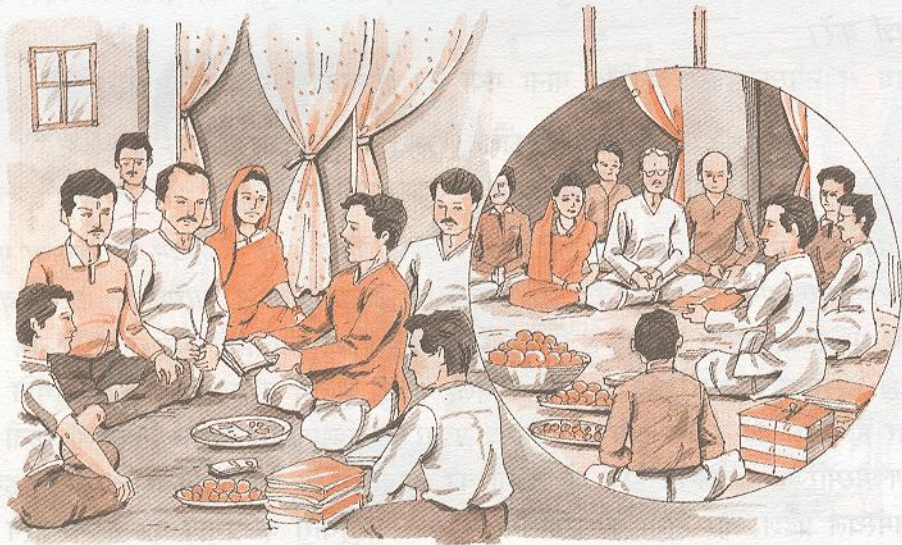
भात के अतिरिक्त मामा आदि भांजी या भांजे की शादी में अनेक महत्त्वपूर्ण रस्में निभाते हैं। जैसे भांजी को कुंडल पहनाना एवं बारात आने से पहले की रात्रि में प्रातः चार बजे कन्या को स्नान कराना आदि।

जहां तक छोछक एवं भात की परंपरा के कारण का प्रश्न है, तो शास्त्र के अनुसार इसके मूल में पिता की संपत्ति में से पुत्री को हिस्सा देने की भावना ही इसका प्रधान कारण है।

पुरुष प्रधान भारतीय समाज में एक लंबे समय तक पिता की संपत्ति पर पुत्र का अधिकार माना जाता रहा है। कन्या का विवाह कम उम्र में कर दिए जाने के कारण उसके जीवनयापन का भार पति पर होता है। अतः कन्या को पिता की संपत्ति से सीधे-सीधे हिस्सा न देकर उसके विवाह में धन लगाने का पिता और भाइयों का कर्त्तव्य निर्धारित किया गया है। मनु ने व्यवस्था दी है कि–

यथैवात्मा तथा पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा। —मनुस्मृति 9/130

अर्थात् जैसे आत्मा और पुत्र समान हैं, वैसे ही पुत्र और पुत्री समान हैं।

अतः मनु ने दूसरी व्यवस्था दी है कि पिता की संपत्ति के बंटवारे का पुत्रों की तरह पुत्री को भी हिस्सा दिया जाना चाहिए—

स्वे स्वेभ्योऽशेभ्यस्तु कन्याभ्यः प्रदद्युर्भ्रातरः पृथक्।
स्वात्स्वादंशाच्चतुर्भागं पतिताः स्युरदित्सवः ॥ —मनुस्मृति 9/118

अर्थात् कन्या (अविवाहित बहनों) को सभी भाई अपने भागों में से अलग दें। जो भाई बहन के विवाह के लिए अपने धन का चौथा भाग नहीं देते। वे पतित होते हैं।

आगे चलकर मनु ने बहन की कुमारी कन्याओं के लिए भी भाइयों द्वारा प्रीतिपूर्वक धन भाग देने की बात कही है—

यास्तासां स्युर्दुहितरस्तासामपि यथार्हतः।
मातामह्या धनात्किंचित्प्रदेयं प्रीतिपूर्वकम् ॥ —मनुस्मृति 9/193

अर्थात् बहन की कुमारी कन्याओं को भी नानी के धन में से अपनी प्रसन्नता से उनके संतोष के लिए कुछ धन देना चाहिए।

ज्ञातव्य है कि प्राचीन काल में कन्या का विवाह बाल्यावस्था में ही कर दिया जाता था। अधिकांश परिवारों में तब तक पिता की संपत्ति का बंटवारा नहीं होता था। अतः कन्या के पुत्र-पुत्री होने के अवसर तक भाइयों के समर्थ हो जाने के कारण नानी की संपत्ति में से बहन के बच्चों के लिए धन देने की व्यवस्था बड़ी स्वाभाविक थी।

बहन-भाई यूं भी एक ही पिता की संतान होने के कारण उनमें आत्मीयता स्वाभाविक है, अतः बहन पर खर्चे का समय आने पर भाई द्वारा उसके सहयोग की भावना भी इस कार्य में निहित है। विवाह-शादी जैसे अधिक खर्च के मौके पर बहन अपने आपको अकेली न समझे, उसे अपने मायके वालों से धैर्य और साहस मिलता रहे। इसी भावना से भात और छोछक की परंपरा पुराने समय से अब तक लगातार चली आ रही है।

९९. गौ सेवा का धार्मिक महत्त्व क्यों?

हिंदू धर्म में गाय को देवता और माता के समान मानकर उसकी सेवा-शुश्रूषा करना मनुष्य का मुख्य धर्म माना गया है, क्योंकि उसके शरीर में सभी देवता निवास करते हैं। कोई भी धार्मिक कृत्य ऐसा नहीं है, जिसमें गौ की आवश्यकता नहीं हो। फिर चाहे वह यज्ञ हो, षोडश संस्कार हों या कोई अन्य आयोजन हो।

महर्षि वसिष्ठ का कामधेनु के लिए प्राणों की बाजी लगाना, महर्षि च्यवन का अपने शरीर के बदले नहुष का चक्रवर्ती राज्य ठुकरा कर एक गाय का मूल्य निश्चित करना जैसे प्रसंग यही दर्शाते हैं कि गाय से बढ़कर उपकार करने वाली और कोई वस्तु संसार में नहीं है। यह माता के समान मानव जाति का उपकार करने वाली, दीर्घायु और निरोगता प्रदान करने वाली है। इसीलिए शास्त्र में कहा गया है–**गावो विश्वस्य मातरः।** अर्थात् गाय विश्व की माता ही है।
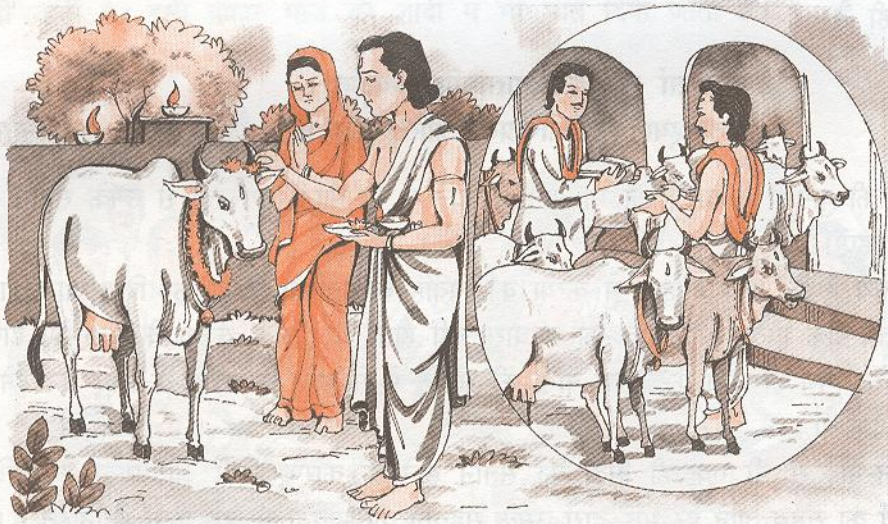
अग्निपुराण में कहा गया है कि गायें परम पवित्र और मांगलिक हैं। गाय का गोबर और मूत्र दरिद्रता दूर करता है। उन्हें खुजलाना, नहलाना, पानी पिलाना, पुण्यदायक है। गोमूत्र, गोबर, गो दुग्ध, गो दधि, गो घृत, कुशोदक–इनका मिश्रण अर्थात् पंचगव्य सभी अशुभ अनिष्टों को दूर करता है। गो ग्रास देने वाला सद्गति प्राप्त करता है। गो दान करने से समस्त कुल का उद्धार होता है। गो के श्वास से भूमि पवित्र होती है। गाय के स्पर्श से पाप नष्ट होते हैं। पंचगव्य पीने से पतित का भी उद्धार होता है।

वेद में कहा गया है–

माता रुद्राणां दुहिता वसूनां। स्वसा आदित्यानां अमृतस्य नाभिः। –*अथर्ववेद*

अर्थात् गाय रुद्रों की माता है, वसुओं की पुत्री है, सूर्य की बहन है और घृत रूप अमृत का केंद्र है।

मार्कण्डेयपुराण में कहा गया है कि विश्व का कल्याण गाय पर आधारित है। गाय की पीठ–ऋग्वेद,

धड़—यजुर्वेद, मुख—सामवेद, ग्रीवा—इष्टापूर्ति, सत्कर्म, रोम साधु सूक्त हैं। गोबर और गोमूत्र में शांति और पुष्टि है। जहां गाय रहती है, वहां पुण्य क्षीण नहीं होते। वह जीवन को धारण कराती है। स्वाहा, स्वधा, वषट और हंतकार—यह चार गाय के धन हैं। इस गाय से सबकी तृप्ति होती है।

विष्णुस्मृति में कहा गया है कि गौओं के निवास की भूमि पवित्र होती है। गौएं पवित्र व मंगलमय हैं। उनसे समस्त लोक का कल्याण है। गायों से यज्ञ सफल होते हैं। उनकी सेवा से पाप नष्ट होते हैं। गौओं के बाड़े में तीर्थों का निवास है। उनकी रज से बुद्धि और संपदा बढ़ती है। उन्हें प्रणाम करने से पुण्य मिलता है।

स्कंदपुराण में कहा गया है कि गौओं के गोबर से घर-आंगन और देवमंदिर भी पवित्र हो जाते हैं।

अथर्ववेद में कहा गया है कि गौओं के दूध से निर्बल मनुष्य बलवान और हृष्ट-पुष्ट होता है तथा फीका और निस्तेज मनुष्य तेजस्वी बनता है।

गीता में श्री कृष्ण ने स्वयं कहा है कि गायों में कामधेनु मैं ही हूं।

महाभारत, आश्व. में कहा गया है कि दान में दी हुई गौ अपने विभिन्न गुणों द्वारा कामधेनु बन कर परलोक में दाता के पास पहुंचती है। वह अपने कर्मों से बंधकर घोर अंधकार पूर्ण नरक में गिरते हुए मनुष्य का उसी प्रकार उद्धार कर देती है, जैसे वायु के सहारे से चलती हुई नाव मनुष्य को महासागर में डूबने से बचाती है। जैसे मंत्र के साथ दी हुई औषधि प्रयोग करते ही मनुष्य के रोगों का नाश कर देती है, उसी प्रकार सुपात्र को दी हुई कपिला गौ मनुष्य के सब पापों का तत्काल नष्ट कर डालती है।

गोदान क्यों?
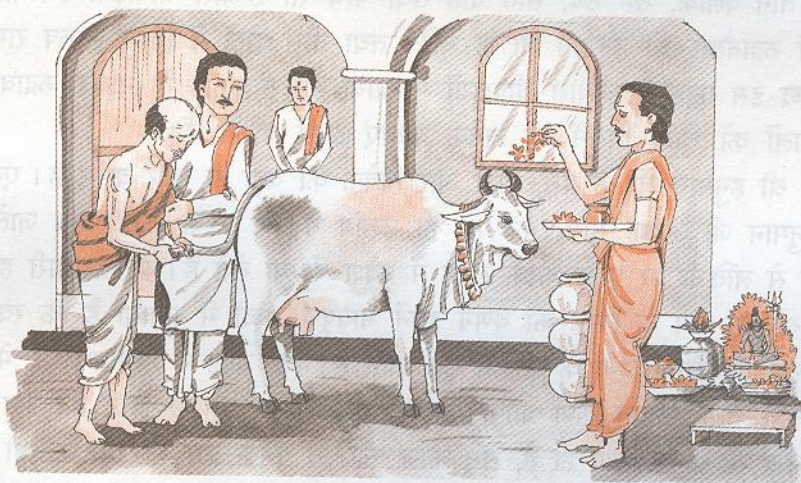
महाभारत, कूर्मपुराण, याज्ञवल्क्य स्मृति आदि अनेक ग्रंथों में कहा गया है कि गोदान करने वाले मनुष्य सब पापों से मुक्त होकर सुखपूर्वक जीवन जीते हैं और मृत्यु के बाद स्वर्ग जाते हैं। ब्राह्मण को गाय देने के पीछे मान्यता यही है कि जब प्राणी मरकर स्वर्ग जाता है, तब उसकी राह में वैतरणी नदी पड़ती है। दान में दी हुई गाय की पूंछ पकड़कर प्राणी वैतरणी को पार कर स्वर्ग पहुंच जाता है।

100. सुंदरकांड का धार्मिक महत्त्व क्यों?

हिंदू धर्म के पूज्य ग्रंथ श्रीरामचरित मानस में रामकथा विस्तार से वर्णित की गई है। इसके सात खंडों में सुंदरकांड का महत्त्व सर्वाधिक माना गया है। सुंदरकांड के प्रति लोगों का अधिक आकर्षण होने का मुख्य कारण यह है कि यह समस्त कामनाओं को पूर्ण करने वाला है। इसीलिए आपने देखा होगा कि पूरी रामायण का पाठ कराने की अपेक्षा अधिकांश श्रद्धालु शुभ अवसरों पर सुंदरकांड का पाठ कराते रहते हैं।

सुंदरकांड के अंतिम दोहे में कहा गया है–

सकल सुमंगल दायक, रघुनायक गुन गान।
सादर सुनहिं ते तरहिं भव, सिंधु बिना जलजान॥ *–श्रीरामचरितमानस, सुंदरकांड 60*

अर्थात् श्री रघुनाथजी का गुणगान संपूर्ण सुंदर मंगलों का यानी सभी लौकिक एवं पारलौकिक मंगलों को देने वाला है, जो इसे आदर सहित सुनेंगे, वे बिना किसी जहाज (अन्य साधन) के ही भवसागर को तर जाएंगे।

श्रीरामचरितमानस के सात कांडों को सात मोक्षपुरी यथा–अयोध्या, मथुरा, माया, काशी, कांची, अवंतिका पुरी, द्वारावती को सप्तेता मोक्षदायिका बताया जाता है। इस प्रकार सुंदरकांड पांचवी मोक्षपुरी कांची है जिसके दो भाग हैं–शिव कांची व विष्णु कांची।

सुंदरकांड श्रीरामचरितमानस रूप भगवान् श्रीराम के शब्द विग्रह की सुंदर ग्रीवा (गर्दन/गला) है।

सुंदरकांड में तीन श्लोक, छह छंद, साठ दोहे तथा पांच सौ छब्बीस चौपाइयां हैं। साठ दोहों में से प्रथम तीस दोहों में रुद्रावतार श्री हनुमान जी के चरित्र तथा तीस दोहों में विष्णु स्वरूप राम के गुणों का वर्णन है। सुंदर शब्द इस कांड में चौबीस चौपाइयों में आया है। सुंदरकांड के नायक रुद्रावतार श्रीहनुमान हैं। अशांत मन वालों को शांति मिलने की अनेक कथाएं इसमें वर्णित हैं।

इसमें रामदूत श्री हनुमान जी के बल, बुद्धि और विवेक का बड़ा ही सुंदर वर्णन है। एक ओर श्रीराम की कृपा पाकर हनुमान जी अथाह सागर को एक ही छलांग में पार करके लंका पहुंच जाते हैं, तो दूसरी ओर बड़ी कुशलता से लंकिनी पर प्रहार करके लंका में प्रवेश भी पा लेते हैं। बालब्रह्मचारी हनुमान ने विरह विदग्धा मां सीता को श्री राम के विरह का वर्णन इतने भावपूर्ण शब्दों में सुनाया है कि स्वयं सीता अपने विरह को भूलकर राम की विरह-वेदना के दुख में डूब जाती हैं। इसी कांड में विभीषण को भेद नीति, रावण को भेद और दंडनीति तथा भगवत कृपा प्राप्ति का मंत्र भी हनुमान जी ने दिया है। अंततः पवनसुत ने सीताजी का आशीर्वाद तो प्राप्त किया ही है, राम काज को पूरा करके प्रभु श्री राम को भी विरह से मुक्त किया है और उन्हें युद्ध के लिए प्रेरित भी किया है। इस प्रकार सुंदरकांड नाम के साथ-साथ इसकी कथा भी अति सुंदर है। आध्यात्मिक अर्थों में इस कांड की कथा के बड़े गंभीर और साधना मार्ग के उत्कृष्ट निर्देशन हैं। अतः सुंदरकांड आधिभौतिक, आध्यात्मिक एवं आधिदैविक सभी दृष्टियों से बड़ा ही मनोहारी कांड है।

धार्मिक प्रवृत्ति के श्रद्धालु सुंदरकांड के पाठ को अमोघ अनुष्ठान मानते हैं। इसके माध्यम से वे श्रीहनुमानजी की कृपा की अनुभूति पाते हैं। ऐसा विश्वास किया जाता है कि सुंदरकांड का पाठ करने से दरिद्रता एवं दुखों का दहन, अमंगलों, संकटों का निवारण तथा गृहस्थ जीवन में सभी सुखों की प्राप्ति होती है। पूर्ण लाभ प्राप्त करने के लिए भगवान् में पूर्ण श्रद्धा और विश्वास होना जरूरी है।

101. कर्म फल की मान्यता क्यों?

भारतीय संस्कृति में कर्मफल के सिद्धांत को विश्वासपूर्वक मान्यता प्रदान की गई है। मनुष्य को जो कुछ भी उसके जीवन में प्राप्त होता है, वह सब उसके कर्मों का ही फल है। मनुष्य के सुख-दुख, हानि-लाभ, जीत-हार, सुख-दुख के पीछे उसके कर्मों को आधार माना गया है।

कर्म फल भोगने की अनिवार्यता पर कहा गया है–

नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि।
अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्॥ *–ब्रह्मवैवर्तपुराण 37/16*

अर्थात् करोड़ों कल्प वर्ष बीत जाने पर भी कर्मफल भोगे बिना, मनुष्य को कर्म से छुटकारा नहीं मिल सकता। वह शुभ या अशुभ जैसे भी कर्म करता है, उसका फल अवश्य भोगना पड़ता है।

यही बात **शिवमहापुराण** और **महाभारत** के वनपर्व में भी कही गई है।

ऐहिकं प्राक्तनं वापि कर्म यद्चितं स्फुरत।
पौरुषोऽसौ परो यत्नो न कदाचन निष्फलः॥ *–योगवासिष्ठ 3/95/34*

अर्थात् पूर्वजन्म और इस जन्म के किए हुए कर्म, फल रूप में अवश्य प्रकट होते हैं। मनुष्य का किया हुआ यत्न, फल लाए बिना नहीं रहता है।

रामायण के अध्योध्याकांड में देवगुरु बृहस्पति देवराज इंद्र को भगवान् की कर्म-मर्यादा का बोध कराते हुए कहते हैं–

कर्म प्रधान विश्व करि राखा। जो जस करै सो तस फल चाखा॥
काहु न कोउ सुख-दुख कर दाता। निज कृत करम भोग सब भ्राता॥

अर्थात् विश्व में कर्म ही प्रधान है, जो जैसा करता है, उसे वैसा फल भोगना ही पड़ता है। दुनिया में कोई किसी को न दुख देने में समर्थ है, न सुख देने में। सभी व्यक्ति अपने किए हुए कर्मों का ही फल भोगते हैं।

कहा जाता है कि बड़े-बड़े ऋषि-मुनियों, ज्ञानी-ध्यानी, महाराजाधिराज, पराक्रमी, बड़े-बड़े सम्राट्, महापुरुषों, बलशाली व्यक्तियों को भी अपने-अपने कर्मों का फल भोगना पड़ा है। मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम को 14 वर्ष का वनवास मिला और उनकी पत्नी माता सीता का अपहरण हुआ। महाबलशाली भीम को रसोइया बनकर नौकरी करनी पड़ी। महाप्रतापी सम्राट् नल को अपनी प्राण प्यारी पत्नी दमयंती को वन में अकेला छोड़कर राजा ऋतुपर्ण का कोचवान बनना पड़ा। महाराजा हरिश्चन्द्र को श्मशान में चांडाल की चाकरी करनी पड़ी। महारानी द्रौपदी को सैरन्ध्री बनकर रानियों की सेवा करनी पड़ी। महाप्रतापी और गांडीवधारी अर्जुन को हिजड़ा बनकर विराट्राज की कन्या को नाचना सिखाना पड़ा।

102. पाप-पुण्य के बुरे और अच्छे फल भुगतने की धारणा क्यों?

शास्त्र में कहा है–**'पापकर्मेति दशधा।'** अर्थात् पाप कर्म दस प्रकार के होते हैं। हिंसा (हत्या), स्तेय (चोरी), व्यभिचार–ये शरीर से किए जाने वाले पाप हैं। झूठ बोलना (अनृत), कठोर वचन कहना (परुष) और चुगली करना–ये वाणी के पाप हैं। परपीड़न और हिंसा आदि का संकल्प करना, दूसरों के गुणों में भी अवगुणों को देखना और निर्दोष जनों के प्रति दुर्भावनापूर्ण दृष्टि (कुदृष्टि) रखना, ये मानस पापकर्म कहलाते हैं। इन कर्मों को करने से अपने को और दूसरे को कष्ट ही होता है। अतः ये कर्म हर हालत में दुखदायी ही हैं।

स्कंदपुराण में कहा गया है कि–

अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥ –*स्कंदपुराण, केदार.1*

अठारह पुराणों में व्यासजी की दो ही बातें प्रधान हैं–परोपकार पुण्य है और दूसरों को पीड़ा पहुंचाना पाप है। यही पुराणों का सार है। प्रत्येक व्यक्ति को इसका मर्म समझकर आचरण करना चाहिए। **परहित सरस धर्म नहिं भाई। परपीड़ा सम नहिं अधमाई॥** कहकर तुलसीदास ने इसी तथ्य को सरलता से समझाया है।

मार्कण्डेयपुराण *(कर्मफल)* **14/25** में कहा गया है कि पैर में कांटा लगने पर तो एक जगह पीड़ा होती है, पर पाप-कर्मों के फल से तो शरीर और मन में निरंतर शूल उत्पन्न होते रहते हैं।

पाराशरस्मृति में कहा गया है कि पाप कर्म बन पड़ने पर छिपाना नहीं चाहिए। छिपाने से वह बहुत बढ़ता है। यहां तक कि मनुष्य सात जन्मों तक कोढ़ी, दुखी, नपुंसक होता है। पाप छोटा हो या बड़ा, उसे किसी धर्मज्ञ से प्रकट अवश्य कर देना चाहिए। इस प्रकार उसे प्रकट कर देने से पाप उसी तरह नष्ट हो जाते हैं, जैसे चिकित्सा करा लेने पर रोग नष्ट हो जाते हैं।

महाभारत वनपर्व 207/51 में कहा गया है कि जो मनुष्य पाप कर्म बन जाने पर सच्चे हृदय से पश्चाताप करता है, वह उस पाप से छूट जाता है तथा 'फिर कभी ऐसा नहीं करूंगा' ऐसा दृढ़ निश्चय कर लेने पर वह भविष्य में होने वाले दूसरे पाप से भी बच जाता है।

शिवपुराण 1/3/5 में कहा गया है कि पश्चाताप ही पापों की परम निष्कृति है। विद्वानों ने पश्चाताप से सब प्रकार के पापों की शुद्धि होना बताया है। पश्चाताप करने से जिसके पापों का शोधन न हो, उसके लिए प्रायश्चित्त करना चाहिए।

पापों का प्रायश्चित्त न करने वाले मनुष्य नरक तो जाते ही हैं, अगले जन्मों में उनके शरीरों में उन पापों के लक्षण आदि भी प्रकट होते हैं। अतः पाप का निवारण करने को प्रायश्चित्त अवश्य कर लेना चाहिए।

स्वर्ग के द्वार पर भीड़ लगी थी। धर्मराज को छंटनी करनी थी कि किसे प्रवेश दें और किसे न दें। परीक्षा के लिए उन्होंने सभी को दो कागज दिए और एक में अपने पाप और दूसरे में पुण्य लिखने को

कहा। अधिकांश लोगों ने अपने पुण्य तो बढ़ा-चढ़ा कर लिखे, पर पाप छिपा लिए। कुछ आत्माएं ऐसी थीं, जिन्होंने अपने पापों को विस्तार से लिखा और प्रायश्चित्त पूछा। धर्मराज ने अंतःकरणों की क्षुद्रता और महानता जांची और पाप लिखने वालों को स्वर्ग में प्रवेश दे दिया।

पुण्य के अच्छे फल की मान्यता क्यों ?

जिन कर्मो से व्यक्ति और समाज की उन्नति होती है, उन्हें पुण्य कर्म कहते हैं। सभी शास्त्रों और गोस्वामी तुलसीदास ने परोपकार को सबसे बड़े धर्म के रूप में माना है–**परहित सरस धर्म नहिं भाई।** *अर्थात् परोपकार के समान महान् धर्म कोई अन्य नहीं है।*

द्रौपदी जमुना में स्नान कर रही थी। उसने एक साधु को स्नान करते देखा। हवा में उसकी पुरानी लंगोटी उड़कर पानी में बह गई। ऐसे में वह बाहर निकलकर घर कैसे जाए, सो झाड़ी में छिप गया। द्रौपदी स्थिति को समझ गई और उसने झाड़ी के पास जाकर अपनी साड़ी का एक तिहाई टुकड़ा फाड़कर लंगोट बनाने के लिए साधु को दे दिया। साधु ने कृतज्ञतापूर्वक अनुदान स्वीकार किया।

दुर्योधन की सभा में जब द्रौपदी की लाज उतारी जा रही थी। तब उसने भगवान् को पुकारा। भगवान् ने देखा कि द्रौपदी के हिस्से में एक पुण्य जमा है। साधु की लंगोटी वाला कपड़ा ब्याज समेत अनेक गुना हो गया है। भगवान् ने उसी को द्रौपदी तक पहुंचाकर उसकी लाज बचाई।

103. स्वर्ग-नरक की कल्पना का आधार क्या?

मृत्यु के उपरांत प्राणी को स्वर्ग या नरक प्राप्त होता है, इस बात को संसार के समस्त धर्म एक स्वर से स्वीकार करते हैं। इस प्रकार मनुष्य को मृत्यु और पुनर्जन्म के बीच में स्वर्ग-नरक भोगना पड़ता है। इस संबंध में **गरुड़पुराण** में बताया गया है कि यमलोक में 'चित्रगुप्त' नामक देवता हर एक जीव के पाप-पुण्य का ब्यौरा लिखते रहते हैं। जब मनुष्य मर कर यमलोक में जाता है, तो उसी लेखे के आधार पर शुभ कर्मों के लिए स्वर्ग और दुष्कर्मों के लिए नरक में भेजा जाता है।

कहा जाता है कि स्वर्ग देवताओं की नगरी है, जहां सभी प्राणी सुख भोग करते हैं। इस नगरी का स्वामी इंद्र है। स्वर्ग का सुख इंद्रियों का सुख नहीं, वरन् अंतःकरण यानी मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार का आनंद है, जो इंद्रिय सुख की अपेक्षा काफी ऊंचे दर्जे का माना गया है। धार्मिक ग्रंथों में कहा गया है कि–

सब प्राणियों पर दया करने वाले, पराये धन में आसक्ति न रखने वाले, दानवीर, मृदुभाषी, प्राणियों के प्रति प्रेम भाव रखने वाले, पराई स्त्रियों में सदा माता, बहन, पुत्री की छवि देखने वाले तथा जो अन्याय से धन नहीं कमाते, चोरी नहीं करते, अपने धन में संतुष्ट रहते हैं, असत्य भाषण नहीं करते, किसी से बैर नहीं करते, किसी को पीड़ा नहीं पहुंचाते, चित्त में मित्रता का भाव रखते हैं और जो इंद्रियजित हैं, उन सभी को स्वर्ग का सुख मिलता है। सच तो यह है कि ऐसे प्राणियों के लिए धरती पर ही स्वर्ग है। इस संबंध में एक दृष्टांत लोक प्रचलित है–

एक बार विधाता ने घोषणा कर दी कि एक सप्ताह के लिए कर्मों का प्रतिबंध हटा दिया गया है, जो भी चाहे स्वर्ग आ सकता है। स्वर्ग के इच्छुक लोगों की लंबी कतार स्वर्गलोक के द्वार पर लगनी शुरू हो गई। एक व्यक्ति सर पर लकड़ियां लिए हुए घर की ओर जा रहा था तो विधाता ने विमान रोककर उससे पूछा–'क्यों भाई तुम्हें स्वर्ग जाने का समाचार नहीं मिला क्या?' 'सुना तो है, महाराज ! पर मुझे तो अपने हंसते हुए बच्चों की किलकारियों, प्यार देती पतिव्रता पत्नी, मिलकर काम करने वाले भाइयों और परस्पर सहयोग व मैत्री का व्यवहार करने वाले पड़ोसियों में ही स्वर्ग दिखाई देता है। फिर भला मैं इस स्वर्ग को छोड़कर कहां आकाश में मारा-मारा फिरूं।' वृद्ध ने संतोष की सांस लेते हुए कहा।

नरक में प्राणी को तरह-तरह के कष्ट मिलते हैं, इसलिए नरक जाने वालों को दुखों की अनुभूति होती है। यमलोक के पास ही सात नरक बताए गए हैं। इनके रूपों को बहुत ही भयंकर बताया गया है। धार्मिक ग्रंथों में कहा गया है कि कामी, पाखंडी, कृतघ्न, ब्राह्मणों के धन को हरने वाले, पराई स्त्री से संबंध बनाने वाले, पराए धन को हजम करने वाले, हिंसा करने वाले, अनाथ, दीन, रोगी और वृद्ध पर दया न करने वाले तथा छल-कपट करने वाले नरक का दुख भुगतते हैं। गीता में नरक के तीन द्वार–काम, क्रोध, लोभ बताए गए हैं।

देव, मानव स्वर्ग के अधिकारी होने पर भी परपीड़ा निवारण हेतु नरक स्वीकारते हैं। युधिष्ठिर को एक दिन का नरक मिला और 100 वर्षों का स्वर्ग। पहले क्या भुगतना है, पूछे जाने पर उन्होंने नरक पसंद किया। नरक में उनके शरीर से शीतल गंध आने लगी और नरकवासियों को राहत मिली। वे कहने लगे कि आप यहीं रहें। युधिष्ठिर ने अपना पुण्य नरकवासियों को दे स्वर्ग पहुंचा दिया। स्वयं उनका पाप ओढ़कर नरक में रहने लगे। नरक का वातावरण युधिष्ठिर के रहने से स्वर्ग जैसा बन गया।

104. माता-पिता की सेवा सबसे बड़ा धर्म क्यों?

हिंदू धर्म में माता-पिता की सेवा को सबसे बड़ी सेवा माना गया है। शास्त्र—मातृ देवो भव, पित्र देवो भव आदि सम्मानित वचनों से माता-पिता को देवताओं के समान पूजनीय मानते हैं। माता का स्थान तो पिता से अधिक माना गया है—जननी और जन्म-भूमि को तो स्वर्ग से भी श्रेष्ठ कहा गया है।

प्रत्यक्ष में माता और पिता के द्वारा ही संतान के शरीर का निर्माण होता है। अतः शरीर देने वाले सबसे पहले देवता माता-पिता ही हैं। माता संतान का पालन-पोषण करने के लिए नौ-दस मास तक कष्ट सहती है और अपने विचारों से संस्कार-संपन्न संतान को जन्म देती है, इसलिए माता-पिता संसार में सर्वाधिक पूजनीय हैं।

माता-पिता की इस सेवा के लिए ही हिंदू धर्म में पितृ-ऋण की व्यवस्था है। इस ऋण को चुकाए बिना अथवा माता की अनुमति के बिना पुत्र को गृहस्थ जीवन से विमुख होने की आज्ञा नहीं है। संन्यास ग्रहण करने के लिए भी इस ऋण से मुक्त होना आवश्यक है।

ज्ञान पाने की दृष्टि से यद्यपि गुरु का बड़ा महत्त्व है, लेकिन माता को बच्चे की पहली गुरु कहकर सम्मानित किया गया है। **मनुस्मृति** में स्पष्ट व्यवस्था दी गई है कि—

उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता।
सहस्रं तु पितृन्माता गौरवेणातिरिच्यते ॥ —*मनुस्मृति-2/145*

अर्थात् उपाध्यायों से दस गुना श्रेष्ठ आचार्य, आचार्य से सौ गुना श्रेष्ठ पिता और पिता से हजार गुना श्रेष्ठ माता गौरव से युक्त होती है।

इस श्रेष्ठता का कारण स्पष्ट करते हुए मनु लिखते हैं—

यं मातापितरौ क्लेशं सहेते संभवे नृणाम्।
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि ॥

—मनुस्मृति-2/227

अर्थात् प्राणियों की उत्पत्ति में माता-पिता को जो क्लेश सहन करना पड़ता है, उस क्लेश से वे (प्राणी) सौ वर्षों में भी निस्तार नहीं पा सकते। इसलिए मनु ने माता-पिता और गुरु इन तीन को सदा सेवा से प्रसन्न रखने के निर्देश दिए हैं। यह व्यवस्था जीवन के सत्य और लक्ष्य को पाने के लिए भी आवश्यक है—

इमं लोकं मातृभक्तया, पितृभक्तया तु मध्यमम्।
गुरुशुश्रूषया त्वेवं ब्रह्मलोकं समश्नुते ॥

—मनुस्मृति-2/233

अर्थात् माता में भक्ति से इस लोक का, पिता में भक्ति से मध्य लोक का और गुरु में भक्ति से ब्रह्म लोक का सुख प्राप्त होता है। जिन पर इन तीनों की कृपा होती है, उनको सभी धर्मों का सम्मान मिलता है और जिन पर माता-पिता तथा गुरु की कृपा नहीं होती, उन्हें किसी धर्म के पालन से सम्मान नहीं मिलता। उनके सभी कर्म निष्फल होते हैं। अतः जब तक माता-पिता और गुरु जीवित रहें, तब तक उनकी सेवा ही करें और किसी अनुष्ठान की आवश्यकता नहीं है। यही कर्तव्य है, यही साक्षात् धर्म है।

माता-पिता की महत्ता का उल्लेख **शिवपुराण** में यूं मिलता है—

पित्रोश्च पूजनं कृत्वा प्रकान्तिं च करोति च। तस्य वै पृथिवीजन्यफलं भवति निश्चितम् ॥
अपहाय गृहे यो वै पितरौतार्थमाव्रजेत्। तस्य पापं तथा प्रोक्तं हनने च तयोर्यथा ॥
पुत्रस्य च महत्तीर्थं पित्रोश्चरणकंजम्। अन्यतीर्थं तु दूरे वै गत्वा सम्प्राप्यते पुनः ॥
इदं संन्निहितं तीर्थं सुलभं धर्मसाधनम्। पुत्रस्य च स्त्रियाश्चैव तीर्थं गेहे सुशोभनम् ॥

—शिवपुराण, रुद्रसं.कु.खं. 19/39-42

अर्थात् जो पुत्र माता-पिता की पूजा करके उनकी प्रदक्षिणा करता है, उसे पृथ्वी परिक्रमाजनित फल सुलभ हो जाता है। जो माता-पिता को घर पर छोड़कर तीर्थयात्रा के लिए जाता है, वह माता-पिता की हत्या से मिलने वाले पाप का भागी होता है, क्योंकि पुत्र के लिए माता-पिता के चरण-सरोज ही महान तीर्थ हैं। अन्य तीर्थ तो दूर जाने पर प्राप्त होते हैं, परंतु धर्म का साधन भूत यह तीर्थ तो पास में ही सुलभ है। पुत्र के लिए (माता-पिता) और स्त्री के लिए (पति) सुंदर तीर्थ घर में ही वर्तमान है।

शास्त्रों की इस प्रकार की आज्ञा पालन करने वाले पुत्र के रूप में श्रवण कुमार का नाम अमर है। भगवान् श्रीराम माता और पिता की आज्ञा मानकर ही एक आदर्श पुत्र के रूप में चौदह वर्ष तक वनवास में रहे। अतः शास्त्र और महापुरुषों के चरित्र से प्रेरणा लेकर संतान को सदैव माता-पिता की सेवा को ही सबसे ऊंचा स्थान देना चाहिए।

105. व्रत-उपवास का महत्त्व क्यों?

पुराणों में इस बात का विस्तार से उल्लेख मिलता है कि हमारे ऋषि-मुनि उपवास के द्वारा ही शरीर, मन एवं आत्मा की शुद्धि करते हुए अलौकिक शक्ति प्राप्त करते थे। वेद में कहा गया है–

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते॥ *–यजुर्वेद 19/30*

मनुष्य को उन्नत जीवन की योग्यता व्रत से प्राप्त होती है, जिसे दीक्षा कहते हैं। दीक्षा से दक्षिणा यानी जो कुछ किया जा रहा है, उसमें सफलता मिलती है। इससे श्रद्धा जागती है और श्रद्धा से सत्य की यानी जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति होती है, जो उसका अंतिम निष्कर्ष है।

आचरण की शुद्धता को कठिन परिस्थितियों में भी न छोड़ना, उसका निष्ठापूर्वक पालन करना ही व्रत कहलाता है। वस्तुतः विशेष संकल्प के साथ लक्ष्य सिद्धि के लिए किए जाने वाले कार्य का नाम व्रत है।

असंयमित जीवन जीने के कारण जो अशुद्धियां और अनियमितताएं आ जाती हैं, उनके निवारण का सफल उपाय व्रताचरण ही होता है। अन्न की मादकता के कारण शरीर में आलस्य आने लगता है, जिससे पूजा-उपासना से उत्पन्न आध्यात्मिक शक्ति नष्ट होने लगती है। व्रत से हमारा शरीर और मन शुद्ध बनता है, आत्मविश्वास बढ़ता है और संयम की वृत्ति का भी विकास होता है। आत्मविश्वास हमारी शक्तियों को बढ़ाता है और संयम से शक्तियों का व्यय घटता है। इस प्रकार व्रत से आत्मशोधन और शक्ति दोनां लाभ प्राप्त होते हैं।

इंद्रियों, विषय-वासना और मन पर काबू पाने के लिए उपवास एक अचूक साधन माना गया है। **गीता** में कहा गया है–**विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।**

चिकित्सकों के मत में भी व्रत और उपवास रखने से अनेक शारीरिक-मानसिक बीमारियों में लाभ मिलता है। सप्ताह में एक दिन का व्रत करने से हमारे आंतरिक अंगों को विश्राम करने और सफाई करने का मौका मिलता है, जिससे शारीरिक और मानसिक शक्ति तथा आयु बढ़ती है। इसके अलावा व्रतानुष्ठान द्वारा आधिभौतिक, आध्यात्मिक एवं आधिदैविक त्रिविध कल्याण प्राप्त होता है।

उपवास का प्रयोजन शरीर का शोषण नहीं, अपितु लक्ष्य पाने का संकल्प जगाना है। महात्मा बुद्ध ने अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए संकल्प किया कि इस आसन पर बैठे-बैठे मेरा शरीर भले ही सूख जाए, चमड़ी, हड्डी और मांस भले ही विनष्ट हो जाए, किंतु दुर्लभ बोधि को प्राप्त किए बिना यह शरीर इस आसन से विचलित नहीं होगा। इस दृढ़ संकल्प से ही वे बुद्धत्व को प्राप्त हुए।

106. मौन व्रत का विशेष महत्त्व क्यों?

आध्यांत्मिक उन्नति के लिए वाणी का शुद्ध होना परमावश्यक है। मौन से वाणी नियंत्रित एवं शुद्ध होती है। इसलिए हमारे शास्त्रों में मौन का विधान बनाया गया है। श्रावण मास की समाप्ति के बाद भाद्रपद प्रतिपदा से 16 दिनों तक इस व्रत के अनुष्ठान का विधान है। ऐसी मान्यता है कि मौन से सब कामनाएं पूर्ण होती हैं। ऐसा साधक शिवलोक को प्राप्त होता है। मौन के साथ श्रेष्ठ चिंतन, ईश्वर स्मरण आवश्यक है। शास्त्रकार ने मौन की गणना पांच तपों में की है–

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥ *–श्रीमद्भगवद्गीता 17/16*

अर्थात् मन की प्रसन्नता, सौम्य-स्वभाव, मौन, मनोनिग्रह और शुद्ध विचार ये मन के तप हैं।

इनमें मौन का स्थान मध्य में है। मन के परिष्कार तथा संयम के लिए मन की प्रसन्नता धारण की जाए, सौम्यता धारण की जाए तत्पश्चात् मौन का प्रयोग किया जाए। इसके प्रयोग से शुद्ध विचार उत्पन्न होते हैं। मन का परिष्कार होकर चंचलता और व्यर्थ चिंतन से मुक्ति होती है।

चाणक्य नीति दर्पण में कहा गया है–

ये तु संवत्सरं पूर्णं नित्यं मौनेन भुंजते।
युगकोटिसहस्रैस्तु स्वर्गलोके महीयते॥ *–चाणक्य नीति 11/9*

अर्थात् जो मनुष्य प्रतिदिन पूरे संवत भर मौन रहकर भोजन करता है, वह दस हजार कोटि वर्ष तक स्वर्ग में पूजा जाता है।

मौन की महिमा अपार है। मौन से क्रोध का दमन, वाणी का नियंत्रण, शरीर बल, संकल्प बल एवं आत्मबल में वृद्धि, मन को शांति तथा मस्तिष्क को विश्राम मिलता है, जिससे आंतरिक शक्तियों का विकास होता है और ऊर्जा का क्षरण रुकता है। इसीलिए मौन को व्रत की संज्ञा दी गई है।

मौन के संबंध में महाभारत में एक कथा है। जब महाभारत का अंतिम श्लोक महर्षि वेदव्यास द्वारा बोला गया और गणेश जी द्वारा भोज पत्र पर लिखा जा चुका, तब महर्षि व्यास ने कहा–'विघ्नेश्वर धन्य है आपकी लेखनी ! महाभारत का सृजन तो वस्तुतः परमात्मा ने किया है, पर एक वस्तु आपकी लेखनी से भी अधिक विस्मयकारी है–वह है आपका मौन। इस अवधि में मैंने तो 15-20 लाख शब्द बोल डाले, परंतु आपके मुख से मैंने एक भी शब्द नहीं सुना।' इस पर गणेश जी ने मौन की व्याख्या करते हुए कहा–'बादनारायण, किसी दीपक में अधिक तेल होता है और किसी में कम, तेल का अक्षय भंडार किसी दीपक में नहीं होता। उसी प्रकार देव, मानव और दानव आदि जितने भी तनधारी जीव हैं, सबकी प्राण-शक्ति सीमित है, उसका पूर्णतम लाभ वही पा सकता है, जो संयम से इसका उपयोग करता है। संयम का प्रथम सोपान है–वाक् संयम। जो वाणी का संयम नहीं रखता, उसके अनावश्यक शब्द प्राणशक्ति को सोख डालते हैं। वाक्संयम से यह समस्त अनर्थपरंपरा दग्धबीज हो जाती है। इसीलिए मैं मौन का उपासक हूं।'

107. स्वस्थ जीवन के लिए प्राणायाम आवश्यक क्यों?

प्राण अर्थात् जीवनशक्ति (Vital Power) और उसका आयाम अर्थात् विस्तार, नियमन मिलकर प्राणायाम शब्द की रचना हुई है। प्राणायाम अष्टांगयोग का एक महत्त्वपूर्ण अंग है जिसका शाब्दिक अर्थ है–प्राण का व्यायाम। महर्षि पतंजलि के मतानुसार–**तस्मिन् सति श्वास-प्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः** *अर्थात् श्वासप्रश्वास की गति का विच्छेद करके प्राणवायु को सीने में भरने, भीतर रोककर रखने और उसे बाहर छोड़ने का नियमन करने के कार्य को प्राणायाम कहते हैं।*

शास्त्रकार प्राणायाम की महिमा इस प्रकार लिखते हैं–

दह्यन्ते ध्यायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥ *–मनुस्मृति*

अर्थात् जैसे अग्नि से तपाये हुए स्वर्ण, रजत आदि धातुओं के मल दूर हो जाते हैं, वैसे ही प्राणायाम के अनुष्ठान से इंद्रियों में आ गए दोष, विकार आदि नष्ट हो जाते हैं और केवल इंद्रियों के ही नहीं, बल्कि देह, प्राण, मन के विकार भी नष्ट हो जाते हैं तथा ये सब साधक के वश में हो जाते हैं।

योग दर्शन के अनुसार–**ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्–2/52**

प्राणायाम के अभ्यास से विवेक (ज्ञान) रूपी प्रकाश पर पड़ा अज्ञान रूपी आवरण (पर्दा) हट जाता है।

योगचूड़ामणि में कहा गया है कि प्राणायाम में पाप जल जाते हैं। यह संसार समुद्र को पार करने के लिए महासेतुरूप है।

यों तो प्राणायाम का मुख्य उद्देश्य आध्यात्मिक साधना का मार्ग प्रशस्त करना है, फिर भी शारीरिक और मानसिक दृष्टिकोण से भी इसका काफी महत्त्व माना गया है। इससे शरीर को अतिरिक्त आंतरिक सामर्थ्य, बल एवं ऊर्जा प्राप्त होती है तथा मानसिक शांति मिलती है। मानसिक रोगों से मुक्ति प्राप्त होकर स्मरण शक्ति बढ़ती है। श्वास-प्रश्वास के नियमन से फेफड़े मजबूत होते हैं, जिससे रक्त शुद्ध होता है और शरीर निरोगी बनकर दीर्घायु प्राप्त होती है। प्राणायाम से जठराग्नि प्रदीप्त होती है, मन की चंचलता पर नियंत्रण होता है, इंद्रियों के विकारों से निवृत्ति होती है, चेहरे की कांति बढ़ती है, मोटापा दूर होता है और भूख-प्यास पर नियंत्रण होता है। इसके ऊंचे अभ्यास से आयु को बढ़ाना संभव है और इच्छामृत्यु को प्राप्त किया जा सकता है।

वैज्ञानिक दृष्टि से प्राणायाम से शरीर के विभिन्न हिस्सों और अंगों पर दबाव पड़ता है, जिसके कारण उस क्षेत्र का रक्त संचार बढ़ जाता है। परिणामस्वरूप उन अंगों की स्वस्थता बढ़ती है। प्राणायाम में ली गई गहरी सांस से मस्तिष्क से सारा दूषित खून बह जाता है और हृदय का शुद्ध रक्त उसे अधिक मात्रा में मिलता है। योग में उड्डियान बंध के प्रयोग से इतना अधिक शुद्ध रक्त मिलता है, जितना किसी श्वास संबंधी व्यायाम से नहीं। अतः प्राणायाम स्वास्थ्य के लिए अत्यंत आवश्यक है। इससे शरीर शुद्धि के अलावा मनोबल बढ़ता है। इसीलिए हमारे महर्षियों ने संध्यावंदन के साथ नित्य प्राणायाम का नियम बनाया है।

108. पर्वों और त्योहारों का महत्त्व क्यों?

पर्व और त्योहार देश की सभ्यता और संस्कृति के दर्पण कहे जाते हैं। हमारे तत्त्ववेत्ता, ऋषि-महर्षियों ने पर्वों, त्योहारों की व्यवस्था इसी दृष्टि से की कि महान व्यक्तियों के चरित्र और घटनाओं का प्रकाश जनमानस में पहुंचे और उनमें धर्मधारण, कर्तव्यनिष्ठा, परमार्थ, लोक मंगल, देशभक्ति की भावनाएं विकसित हों। महान लोगों के मार्ग निर्देशन से समाज समुन्नत और सुविकसित बने। दशहरा, दीवाली, होली, राष्ट्रीय त्योहार, महापुरुषों या अवतारों की जयंतियां इसीलिए मनाई जाती हैं।

पर्व और त्योहारों में मनुष्य और मनुष्य के बीच, मनुष्य और प्रकृति के बीच सामंजस्य को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया गया है, यहां तक कि उसे पूरे ब्रह्मांड के कल्याण से जोड़ दिया है। इनमें लौकिक कार्यों के साथ ही धार्मिक तत्त्वों का ऐसा समावेश किया गया है, जिससे हमें न केवल अपने जीवन निर्माण में सहायता मिले, बल्कि समाज की भी उन्नति होती रहे।

पर्व और त्योहार धर्म एवं आध्यात्मिक भावों को उजागर कर लोक के साथ परलोक सुधार की प्रेरणा भी देते हैं। इस प्रकार मनुष्यों की आध्यात्मिक उन्नति में भी ये सहायक होते हैं।

महर्षि कणाद से एक शिष्य ने पूछा–'गुरुदेव ! भारतीय धर्म में व्रतों-जयंतियों की भरमार है। कदाचित् ही कोई दिन ऐसा छूटा हो, जिसमें ये न पड़ते हों। इसका क्या कारण है ? कृपया समझाकर बताइए।'

महर्षि बोले–'तात ! व्रत व्यक्तिगत जीवन को अधिक पवित्र बनाने के लिए हैं, जयंतियां महामानवों से प्रेरणा ग्रहण करने के लिए। उस दिन उपवास, ब्रह्मचर्य, एकांत सेवन, मौन, आत्म-निरीक्षण आदि की विधा संपन्न की जाती है। दुर्गुण छोड़ने और सद्गुण अपनाने के लिए देव पूजन करते हुए संकल्प किए जाते हैं। अब उतने व्रतों का निर्वाह संभव नहीं। इसलिए पाक्षिक व्रत करना हो, तो दोनों एकादशी, मासिक करना हो, तो पूर्णिमा और साप्ताहिक करना हो, तो रविवार या गुरुवार में से कोई एक रखा जा सकता है।'

109. दीवाली पर लक्ष्मी पूजन क्यों?

हर हिंदू परिवार में दीवाली की रात्रि को धन-दौलत की प्राप्ति हेतु लक्ष्मी का पूजन होता है। ऐसा माना जाता है कि दीवाली की रात लक्ष्मी घर में आती हैं। इसीलिए लोग देहरी से घर के अंदर जाते हुए लक्ष्मीजी के पांव (पैर) बनाते हैं। पुराणों के आधार पर कुल और गोत्रादि के अनुसार लक्ष्मी-पूजन की अनेक तिथियां प्रचलित रहीं, लेकिन दीवाली पर महालक्ष्मी पूजन को विशेष लोकप्रियता प्राप्त हुई है। व्यापारी वर्ग के लिए तो लक्ष्मी पूजन का महत्त्व और भी अधिक होता है। वे पूजा के उपरांत अपनी नई बहियों पर शुभ-लाभ, श्री गणेशाय नमः, श्री लक्ष्मीजी सदा सहाय और स्वस्तिक व ॐ को भी लिखते हैं, फिर लेखा-जोखा आरंभ करते हैं।

लक्ष्मी को चंचला कहा गया है, जो कभी एक स्थान पर रुकती नहीं। अतः उसे स्थायी बनाने के लिए कुछ उपाय, पूजन, आराधना, मंत्र जाप आदि का विधान है। लक्ष्मी साधना गोपनीय एवं दुर्लभ कही गई है। इसका मुख्य कारण विश्वामित्र का कठोर आदेश ही है। विश्वामित्र ने कहा था–'इस लक्ष्मी प्रयोग को सदैव गुप्त ही रखना चाहिए और जीवन के अंत में अपने अत्यंत प्रिय एवं सुयोग्य शिष्य को लक्ष्मी आबद्ध साधना समझाई जानी चाहिए।'

रावण संहिता में रावण कहता है कि लक्ष्मी साधना इस धरती की सर्वश्रेष्ठ साधना है, जिसे मैंने धनाधीश कुबेर से सीखा है। इसी साधना के बल पर मैंने लंका को सोने की बना दिया है।

गोरक्ष संहिता में गुरु गोरखनाथ ने भी विश्वामित्र विरचित लक्ष्मीसाधना को सर्वोत्तम बताया है। योगीराज श्रीकृष्ण ने अपनी द्वारिका को स्वर्णमयी बनाकर यह सिद्ध कर दिया था कि लक्ष्मी साधना के द्वारा धनवान बना जा सकता है।

महर्षि वसिष्ठ ने कैकय नरेश से युद्ध करते समय राजा दशरथ को अतुलनीय स्वर्ण कर्ज के रूप में दिया था। यह सब लक्ष्मी साधना का ही प्रताप था।

ऐसा माना जाता है कि समुद्र मंथन में लक्ष्मी के प्रकट होने पर इंद्र ने उनकी स्तुति की, जिससे प्रसन्न होकर लक्ष्मी ने इंद्र को वरदान दिया कि तुम्हारे द्वारा दिए गए इस द्वादशाक्षर मंत्र का जो व्यक्ति नियमित रूप से प्रतिदिन तीनों संध्याओं में भक्तिपूर्वक जप करेगा, वह कुबेर के सदृश ऐश्वर्य युक्त हो जाएगा। इस प्रकार लक्ष्मी जी की पूजन विधि प्रचलित हुई।

लक्ष्मीजी का वास कहां ?

महर्षि वेदव्यास का कहना है–

घृतिः शमो दमः शौच कारुण्य वागनिष्ठुरा।
मित्राणां चानभिद्रोहः सप्तैताः समिधः श्रियः॥ *–महाभारत, उद्योग पर्व 38/38*

अर्थात् धैर्य, मनोनिग्रह, इंद्रियों को वश में करना, दया, मधुर वाक्य और मित्रों से वैर न करना, ये सात बातें लक्ष्मी (ऐश्वर्य) को बढ़ाने वाली हैं।

हितोपदेश में कहा गया है–

उत्साहसम्पन्नमदीर्घसूत्रं क्रियाविधिज्ञं व्यसनेष्वसक्तम्।
शूरंकृतज्ञं दृढ सौहृदंच लक्ष्मी स्वयं याति निवास हेतो॥ *–हितोपदेश 178*

अर्थात् उत्साही, आलस्यहीन, कार्य करने की विधि जानने वाला, व्यसनों से रहित, शूर, उपकार मानने वाला तथा दृढ़ मित्रता वाले मनुष्य के पास लक्ष्मी स्वतः ही निवास के लिए पहुंच जाती है।

शारदातिलक 8/161 में उल्लेख किया गया है कि अधिक श्री की कामना करने वाले व्यक्ति को सदा सत्यवादी होना चाहिए, पश्चिम की ओर मुंह करके भोजन करना तथा हंसमुख मधुर भाषण करना चाहिए।

एक बार लोक कल्याण के लिए प्रद्युम्न की माता रुक्मिणी ने लक्ष्मीजी से पूछा–'देवी ! आप किस स्थान पर और कैसे मनुष्यों के पास रहती हैं ?'

लक्ष्मी ने उत्तर दिया–'जो मनुष्य मित्‌भाषी, कार्यकुशल, क्रोधहीन, भक्त, कृतज्ञ, जितेंद्रिय और उदार हैं, उनके यहां मेरा निवास होता है। सदाचारी, धर्मज्ञ, बड़े-बूढ़ों की सेवा में तत्पर, पुण्यात्मा, क्षमाशील और बुद्धिमान् मनुष्यों के पास मैं सदा रहती हूं। जो स्त्रियां पति की सेवा करती हैं, जिनमें क्षमा, सत्य, इंद्रिय, संयम, सरलता आदि सद्गुण होते हैं, जो देवताओं और ब्राह्मणों में श्रद्धा रखती हैं, जिनमें सभी प्रकार के शुभ लक्षण मौजूद हैं, उनके समीप मैं निवास करती हूं। जिस घर में सदा होम होता है और देवता, गौ तथा ब्राह्मणों की पूजा होती है, उस घर को मैं कभी नहीं छोड़ती।'

लक्ष्मी कहां नहीं रहती उसके विषय में **मा. पु. 18/54-55 शार्गधर पद्यति 657** में कहा गया है कि जिसके वस्त्र तथा दांत गंदे हैं, जो बहुत खाता तथा निष्ठुर भाषण करता है, जो सूर्यास्तकाल में भी सोया रहता है, वह चाहे चक्रपाणि विष्णु ही क्यों न हो, उसका लक्ष्मी परित्याग कर देती है।

बृहददेवज्ञ रंजनन 168 में कहा गया है कि पराया अन्न, दूसरों के वस्त्र, पराया यान (सवारी), पराई स्त्री और परगृहवास ये इंद्र की श्री-संपत्ति को भी हरण कर लेते हैं।

लक्ष्मी का कहना है कि जो आलसी, क्रोधी, कृपण, व्यसनी, अपव्ययी, दुराचारी, कटुवचन बोलने वाले, अदूरदर्शी और अहंकारी होते हैं, उनके कितने ही प्रयत्न करने पर भी मैं अधिक दिन नहीं ठहरती।

महाभारत, शांतिपर्व 225 में उल्लेख मिलता है कि दैत्यराज बलि ने एक बार उच्छिष्ट भक्षण कर ब्राह्मणों का विरोध किया। श्री ने उसी समय बलि का घर छोड़ दिया। लक्ष्मीजी ने कहा–'चोरी, दुर्व्यसन, अपवित्रता एवं अशांति से मैं घृणा करती हूं। इसी कारण आज मैं बलि का त्याग कर रही हूं, भले ही वह मेरा अत्यंत प्रिय भक्त रहा है।'

110. शुभ कार्यों में मुहूर्त का महत्त्व क्यों?

हम आए दिन देखते हैं कि अनेक लोग दैनिक दिनचर्या की शुरुआत हो या यात्रा पर जाना हो, विवाह का अवसर हो, गृह-निर्माण हो या गृहप्रवेश, सभी के लिए शुभ घड़ी, मुहूर्त और चौघड़ियां देखकर कार्य प्रारंभ करते हैं। इसे कुछ पढ़े-लिखे व्यक्ति भले ही दकियानूसी अंधविश्वास कहें, लेकिन वैज्ञानिक प्रयोगों से पता चला है कि दिन के 24 घंटों में कुछ गिनी-चुनी घड़ियां ही ऐसी होती हैं, जिनमें किए गए काम सफल होने की संभावना प्रबल हो जाती है।

यों तो विचार पूर्वक शुभ कार्य करने के लिए हर समय शुभ होता है। बुद्धिमान् न मुहूर्त निकालते हैं, न साथ ढूंढ़ते हैं और न किसी का सहारा देखते हैं। वस्तुतः समय का प्रत्येक क्षेत्र शुभ है। अशुभ तो मनुष्य का संशय है। परोपकारी कार्य को जितनी जल्दी किया जाए, वही शुभ है। देर तो उनमें करनी चाहिए, जो अशुभ हैं, जिन्हें करते हुए अंतःकरण में भय, संकोच का संचार होता है। ऐसे दुष्ट कार्य किसी भी समय किए जाएं, वे दुख ही देंगे, चाहे जितने मुहूर्त देख लो।

शास्त्रकार ने कहा है–

सदुद्देश्यकृते कार्ये विवाहे जातकर्मणि।
विघ्नाऽशुभमुहूर्त्तानां प्रभावो नोपजायते॥ —*ब्रह्मवर्चस पंचांग*

अर्थात् सदुद्देश्य से प्रारंभ किए गए शुभ कार्यों पर किसी भी अशुभ मुहूर्त का प्रभाव नहीं पड़ता।

यदानास्तं गतो भानुगोधूल्या पूरितं नभः।
सर्वमंगलकार्येषु गोधूलिः शस्यते सदा॥ —*ब्रह्मवर्चस पंचांग*

अर्थात् जब सूर्य अस्त होने पर हो, जिस समय गायें घर वापस आती हों, वह गोधूलि वेला मांगलिक कार्यों में शुभप्रद होती है।

ब्रह्मवर्चस पंचांग में कहा गया है कि अक्षय तृतीया (बैसाख शुक्ल तृतीया), अक्षय नवमी (कार्तिक शुक्ल नवमी), वसंत पंचमी (माघ शुक्ल पंचमी), गंगा-दशहरा (ज्येष्ठ शुक्ल दशमी), विजया दशमी (आश्विनी शुक्ल दशमी), महाशिवरात्रि (फाल्गुन कृष्ण चतुर्दशी), श्रीराम नवमी (चैत्र शुक्ल नवमी) तथा सभी पूर्णिमा आदि पुण्य पर्वों पर विवाहित मंगल कार्यों के लिए मुहूर्त विचार की आवश्यकता नहीं पड़ती।

लोक मंगल के लिए किए गए यज्ञादि अनुष्ठानों में सभी मंगलमय मुहूर्तों का निवास होता है, उनमें बिना मुहूर्त का विचार किए कोई भी शुभ कार्य किए जा सकते हैं। पवित्र तीर्थ स्थलों में शुभ संस्कार करने का निर्णय अपने आप में शुभ मुहूर्त माना गया है। तीर्थ स्थल एवं शक्तिपीठें सिद्ध स्थल कहे जाते हैं, उनमें सत्कर्म, संस्कार आदि संपन्न करने के लिए लग्न मुहूर्त देखने की किंचित भी आवश्यकता नहीं होती।

स्वामी रामतीर्थ कहा करते थे कि सभी दिन भगवान् के बनाए हुए हैं। इनमें एक भी अपवित्र, अशुभ एवं अनिष्टकारक नहीं है। मांगलिक कार्यों को गुरुजनों का आशीर्वाद लेकर कभी भी कर लेना चाहिए। अनुपयुक्त कार्यों को ही तिथि, वार का दोष निकाल कर आगे के लिए टालना चाहिए। लोकमत में रविवार और गुरुवार भी अधिक श्रेष्ठ माने जाते रहे हैं।

आचार्य महीधर का मत है कि मुहूर्तों में सुविधा एवं अवसर ही प्रधान कारण हैं। जैसे वर्षा ऋतु में आवागमन में असुविधा होती है, इसलिए उन दिनों विवाह नहीं होते, किंतु जिन देशों में वर्षा के दिन अन्य महीनों में होते हैं, उन दिनों विवाहादि में वहां कोई अड़चन नहीं।

ब्रह्मवर्चस पंचांग में कहा गया है कि अमंगल करने वाले जो मुहूर्त अथवा योगदोष हैं, वे सब गायत्री के प्रचंड तेज से भस्म हो जाते हैं।

111. शकुन-अपशकुन की मान्यता क्यों?

वेदों, स्मृतियों, पुराणादि धर्मशास्त्रों एवं फलित ज्योतिष शास्त्रों तथा धर्मसिन्धु में शुभ-अशुभ शकुनों के विषय में विस्तार से जानकारी दी गई है। शकुन हेतु तुलसीकृत 'रामाज्ञा-प्रश्न' एवं 'रामशलाका' भी प्रसिद्ध हैं। शकुन के संबंध में प्रसिद्ध ग्रंथ वसंतराज शाकुन का कथन है–**'शुभाशुभज्ञानविनिर्णयाय हेतुर्नणां यः शकुन'** अर्थात् जिन चिह्नों को देखने से 'शुभ-अशुभ' का ज्ञान हो–वह शकुन है। जिस चिह्न संकेत/निमित्त द्वारा शुभ जानकारी मिले, वह शुभ शकुन और अशुभ जानकारी मिले, उसे अपशकुन कहते हैं।

भगवान् राम की बारात चढ़ने के समय शकुन होने से मंगल हुआ, ऐसा रामायण में उल्लेख मिलता है–

दाहिन काग सुखेत सुहावा। नकुल दरसु सब काहूं पावा॥
सानुकूल बह त्रिबिध बयारी। सघट सबाल आव बर नारी॥
लोवा फिरि फिरि दरसु देखावा। सुरभी सनमुख सिसुहि पिआवा॥
मृगमाला फिरि दाहिनि आई। मंगल गन जनु दीन्हि देखाई॥
छेमकरी कह छेम बिसेषी। स्यामा बाम सुतरु पर देखी॥
सनमुख आयउ दधि अरु मीना। कर पुस्तक दुइ बिप्र प्रबीना॥

–रामचरितमानस–बालकांड 302/2-4

ऐसा माना जाता है कि ये संकेत ही शुभाशुभ का ज्ञान कराकर भविष्य की घटनाओं का निर्धारण करते हैं। वास्तव में अच्छी या बुरी घटनाओं की पुनरावृत्ति ही इन विश्वासों की जड़ में होती है। फलित ज्योतिष एवं धर्मशास्त्रों में यात्रा हेतु या घर से वाहर निकलते समय शकुन विचार करने का बड़ा महत्त्व बताया गया है। शुभ शकुन के कुछ संकेत इस प्रकार हैं–ब्राह्मण, गाय, भरा हुआ कलश, शंख, उसकी

ध्वनि, वेद पाठ की ध्वनि, कन्या, मोर, नेवला, सफेद बैल, गन्ना, सौभाग्यवती स्त्री, सिर या हाथ में गोबर लाते हुए, पालकी, धनुष, चक्र, मधुर कर्णप्रिय संगीत, कमल, फूल, मंदिर/धर्मस्थल, सफेद वस्त्र, हाथी, घोड़ा, स्वर्ण के आभूषण, घी, शहद, दूध, दही, चावल, पका अन्न, चंदन से भरी कटोरी, व्यंजन, रुदन रहित शवयात्रा, मांस लिए हुए आना, भारी रजाई लादे हुए दिखना, बालक का हंसते-खेलते हुए आना, निर्मल आकाश, खेत में लगा हुआ अन्न आदि।

अपशकुन के लोक प्रचलित संकेत इस प्रकार हैं–रात्रि में तारे का टूटना देखना, भीगे वस्त्रों में स्त्री का दिखना, बिल्ली का रास्ता काटना, किसी का छींक देना, कौवे का दोपहर में बोलना, रुई, कीचड़, चमड़ा, राख, फूटा हुआ बर्तन, हड्डी, सूखी लकड़ी, तेल, गुड़, साबुन, उड़द, ठोकर लगना, पैर फिसलना, कपड़े का किसी चीज में उलझना, कुत्ते का रोना, काना, तेली दिखना, बिल्लियों को लड़ते देखना आदि।

उल्लेखनीय है कि किसी काम की सफलता के लिए मन में उत्साह, आशा, धैर्य और पूर्ण आत्मविश्वास होना ही चाहिए। इसमें कमी आने से अपेक्षित एकाग्रता, श्रमशीलता एवं तत्परता घट जाएगी। परिणामस्वरूप सफलता की संभावना में भी कमी आएगी। शुभ-अशुभ शकुनों में विश्वास करने में यही सबसे बड़ा नुकसान है कि मन अकारण ही आशंकित और आतंकित हो जाता है, जिससे असफलता के बीज पनपने लगते हैं और भली प्रकार प्रयास न कर पाने के कारण सफलता नहीं मिलती। स्मरणीय है कि अपशकुन हमें तभी याद आते हैं, जब हमको किसी कार्य में असफलता मिलती है। कार्य में सफलता मिलने पर पूर्व में देखा गया अपशकुन भी कोई मायने नहीं रखता। स्पष्ट है कि सफलता या असफलता का मिलना हमारी योग्यता या अयोग्यता का ही परिचायक है। हिन्दुओं में आज तक पुरुष के दाहिने और स्त्रियों के बाएं अंग फड़कने को शकुन मानते हैं और पुरुष के बाएं और स्त्रियों के दाएं अंग फड़कने को अपशकुन समझते हैं। जबकि सच्चाई यह है कि नाड़ियों में रक्तप्रवाह के कारण ही अंगों में फड़कन महसूस होती है, जिसका किसी शकुन अपशकुन के साथ कोई संबंध नहीं होता। छींक आना शरीर-विज्ञान के मतानुसार एक सहज और स्वाभाविक प्रक्रिया है, जो श्वास नली में अवरोध आने पर उत्पन्न होती है, जिसके परिणामस्वरूप आया अवरोध एकाएक दूर हो जाता है। इसके अलावा हानिकारक वायुमंडल के कण जब नाक के अंदर और श्वास नली में जमा होकर अवरोध पैदा करते हैं तो छींक रूपी प्राकृतिक उपाय से शरीर की रक्षा ही होती है। यदि यह हानिकारक गंदगी छींक के माध्यम से बाहर न हो तो मानसिक तनाव, चक्कर आना जैसे बुरे प्रभाव शरीर पर पड़ते हैं। इसलिए छींक आना स्वास्थ्य की दृष्टि से लाभप्रद ही है।

इसी प्रकार आंख का फड़कना शुभ या अशुभ माना जाता है, जो शरीर विज्ञान के अनुसार रक्त की अनियमितता के परिणामस्वरूप उत्पन्न होता है। रक्त प्रवाह में रुकावट और उसका दूर होना ही फड़कन का अनुभव देता है। इसलिए जहां तक हो सके, इन अपशकुनों के चक्कर में न पड़ें। कर्म में विश्वास करें।

112. बुरी नजर लगने की मान्यता क्यों?

संसार के लगभग सभी देशों में बुरी नजर लगने के प्रभाव को जाना जाता है। जीवित प्राणियों पर ही नहीं वरन् निर्जीव पदार्थ तक बुरी नजर लगने पर विकारग्रस्त हो जाते हैं। सुंदर वस्तुएं खो जाती हैं, नष्ट हो जाती हैं। यहां तक कि सुंदर प्रतिमा बुरी नजर के प्रभाव से खंडित होती देखी गई है। बिना किसी पूर्व रोग के एकाएक बच्चा बीमार पड़ जाता है। दुधारू पशु–गाय, भैंस आदि को जब बुरी नजर लग जाती है, तो उसका दूध सूख जाता है।

बुरी नजर लगने का आशय यह है कि जब कोई व्यक्ति अत्यधिक दुर्भावना या आकर्षण से एकाग्र होकर किसी व्यक्ति या वस्तु को देखता है, तो उसकी बेधक दृष्टि उस वस्तु पर दुष्प्रभाव डालती है। भूखे व्यक्ति की कुदृष्टि आपके भोजन को विषैला बना सकती है। अतः भोजन जहां तक हो सके, अजनबियों के बीच न करें।

आमतौर पर बुरी नजर का प्रभाव कोमल चित्त वाले, बच्चों, महिलाओं और पालतू जानवरों पर देखा जाता है। इसके अलावा मकान, उद्योग, व्यापार, वाहन, दुकान आदि पर भी बुरी नजर का असर होता है। बच्चों पर बुरी नजर का प्रभाव शैशवावस्था में अधिक होता है। बुरी नजर के प्रभाव से अच्छा भला बच्चा देखते-देखते ही बीमार पड़ जाता है। वह दूध पीना छोड़कर अधिक रोता है। चिड़चिड़ा हो जाता है, ज्वर आ जाता है। उसकी आंखे चढ़ी हुई-सी रहती हैं। पलकों की बरौनियां खड़ी तथा मुंह से खट्टी गंध आने लगती है। अपच की शिकायत हो जाती है।

महिलाओं पर बुरी नजर का प्रभाव विवाह के समय, गर्भावस्था में बच्चा होने के बाद के समय में अकसर होता है। वयस्क व्यक्ति को जब बुरी नजर लगती है, तो उसे मानसिक तनाव, बेचैनी, अशांति का अनुभव, शरीर की पीड़ा, ज्वर, मंदाग्नि आदि तकलीफें महसूस होती हैं।

बुरी नजर लगने के मूल में वैज्ञानिकों ने मानवीय विद्युत् का अहितकर प्रभाव माना है। किसी-किसी व्यक्ति की दूषित दृष्टि इतनी बेधक होती है कि उससे बच्चे की शक्ति खिंचती है और वे उसके झटके को बर्दाश्त न करके बीमार हो जाते हैं। ऐसा देखा गया है कि अजगर अपनी दृष्टि से आकाश से पक्षियों को अपनी ओर खींच लेता है। भेड़िए की दृष्टि से भेड़ और बिल्ली की दृष्टि से कबूतर इतने अशक्त हो जाते हैं कि भाग तक नहीं सकते। इसी को आंखों की आकर्षण शक्ति का सम्मोहन कहते हैं।

नजर से बचाने के लिए काले टीके का या काले धागे के प्रयोग के पीछे मान्यता यह है कि यह विद्युत् का सुचालक होता है। आमतौर पर देखने में आया है कि आकाश की बिजली अकसर काले आदमी, जानवर, सांप या अन्य काली वस्तुओं पर पड़ती है। जाड़े के दिनों में काले कपड़े अधिक गर्मी सोखते हैं। इसीलिए बच्चों को कपाल, हाथ-पैरों में और आंखों में काजल लगाया जाता है। पैर, हाथ, गले, कमर में काला डोरा बांधा जाता है। काली बकरी का दूध पिलाया जाना और काली भस्म चटाना जैसे सभी कार्यों का उद्देश्य नजर के दुष्प्रभाव से बचाने की शक्ति ग्रहण करना है। बुरी नजर से बचने के लिए शेर का नाखून, नीलकंठ का पर, मूंज या तांबे का ताबीज गले में पहना जाता है। दुकानदार नीबू और हरी मिर्चें दुकान में लटका कर रखते हैं। ट्रक मालिक ट्रक के पीछे जूता लटकाते हैं। कारखाने वाले प्रवेश द्वार पर घोड़े की नाल लगाते हैं। मकान पर काली हंडिया टांगी जाती है। यह नजर की एकाग्रता भंग करने की दृष्टि से किया जाता है।

113. यमराज का दूसरा नाम धर्मराज क्यों?

प्राणी की मृत्यु या अंत को लाने वाले देवता यम हैं। यमलोक के स्वामी होने के कारण ये यमराज कहलाए। चूंकि मृत्यु से सब डरते हैं, इसलिए यमराज से भी सब डरने लगे। जीवित प्राणी का जब अपना काम पूरा हो जाता है, तब मृत्यु के समय शरीर में से प्राण खींच लिए जाते हैं, ताकि प्राणी फिर नया शरीर प्राप्त कर नए सिरे से जीवन प्रारंभ कर सके।

यमराज सूर्य के पुत्र हैं और उनकी माता का नाम संज्ञा है। उनका वाहन भैंसा और संदेशवाहक पक्षी कबूतर, उल्लू और कौवा भी माना जाता है।

उनका अचूक हथियार गदा है। यमराज अपने हाथ के कालसूत्र या कालपाश की बदौलत जीव के शरीर से प्राण निकाल लेते हैं। यमपुरी यभराज की नगरी है, जिसके दो महाभयंकर चार आंखों वाले कुत्ते पहरेदार हैं। यमराज अपने सिंहासन पर न्यायमूर्ति की तरह बैठकर विचार भवन कालीची में मृतात्माओं को एक-एक कर बुलवाते हैं, जहां चित्रगुप्त सब प्राणियों की बही खोलकर लेखा-जोखा प्रस्तुत करते हैं। कर्मों को ध्यान में रखकर यमराज अपना फैसला देते हैं, क्योंकि वे जीवों के शुभाशुभ कर्मो के निर्णायक हैं।

यमराज की यों तो कई पत्नियां थीं, लेकिन उनमें सुशीला, विजया और हेमनाल अधिक जानी जाती हैं। उनके पुत्रों में धर्मराज युधिष्ठिर को सभी जानते हैं। न्याय के पक्ष में फैसला देने के गुणों के कारण ही यमराज और युधिष्ठिर जगत में धर्मराज के नाम से जाने जाते हैं। यम द्वितीया के अवसर पर जिस दिन भाई-बहन का त्योहार भैया-दूज मनाया जाता है। यम और यमुना की पूजा का विधान बनाया गया है। उल्लेखनीय है कि यमुना नदी को यमराज की बहन माना जाता है।

भौमवारी चतुर्दशी को यमतीर्थ के दर्शन कर सब पापों से छुटकारा मिल जाए, उसके लिए प्राचीन काल में यमराज ने यमतीर्थ में (संकठाघाट) कठोर तपस्या करके भक्तों को सिद्धि प्रदान करने वाले यमेश्वर और यमादित्य मंदिरों की स्थापना की थी। यम द्वितीया को यहां मेला लगता है। इन मंदिरों को प्रणाम करने वाले एवं यमतीर्थ में स्नान करने वाले मनुष्यों को नारकीय यातनाओं को न तो भोगना पड़ता है और न ही यमलोक देखना पड़ता है। इसके अलावा मान्यता तो यहां तक है कि यमतीर्थ में श्राद्ध करके, यमेश्वर का पूजन करने और यमादित्य को प्रणाम करके व्यक्ति अपने पितृ-ऋण से भी उऋण हो सकता है। दीपावली से पूर्व दिन यमदीप देकर तथा दूसरे पर्वों पर यमराज की आराधना करके मनुष्य उनकी कृपा प्राप्त करने के उपाय करता है। पुराणों में ऐसा उल्लेख मिलता है कि किसी समय माण्डव ऋषि ने कुपित होकर यमराज को मनुष्य के रूप में जन्म लेने का शाप दिया। इसके कारण यमराज ने ही दासी पुत्र के रूप में धृतराष्ट्र तथा पाण्डु के भाई होकर जन्म लिया। यों तो यमराज परम धार्मिक और भगवद् भक्त हैं। मनुष्य जन्म लेकर भी वे भगवान् के परम भक्त तथा धर्म-परायण ही बने रहे।

114. दक्षिणावर्ती शंख चमत्कारी देव वस्तु क्यों?

बाईं ओर पेट खुलने वाले बहुतायत में उपलब्ध वामावर्त शंख की अपेक्षा दुर्लभता से उपलब्ध दक्षिण की ओर पेट खुलने वाले यानी जिनका कपाट दाईं ओर हो ऐसे दक्षिणावर्ती शंख कीमती होते हैं। ये सैकड़ों से हजारों रुपयों में मिलते हैं। इसमें लक्ष्मी का स्थायी निवास माना जाता है। भगवती महालक्ष्मी और दक्षिणावर्ती शंख दोनों की ही उत्पत्ति सागर से हुई है। इस दृष्टि से एक ही पिता की संतान होने के कारण इसे लक्ष्मी का ही छोटा भाई कहा गया है।

शास्त्रकार ने दक्षिणावर्ती शंख की महिमा का वर्णन इस प्रकार किया है–

दक्षिणार्तेशंखायं यस्य सद्मनि तिष्ठति।
मंगलानि प्रकुर्वन्ते तस्य लक्ष्मीः स्वयं स्थिरा॥
चन्दनागुरुकपूरैः पूजयेद् गृहेऽन्वहम्।
स सौभाग्ये कृष्णसमो धने स्याद् धनदोपमः॥

अर्थात् जिस घर में उत्तम श्वेतवर्ण दक्षिणावर्ती शंख रहता है, वहां सब मंगल ही मंगल होता है। लक्ष्मी स्वयं स्थिर होकर निवास करती है। जिस घर में चंदन, कपूर, पुष्प, अक्षत आदि से इसकी पूजा नियमित की जाती है, वह कृष्ण के समान सौभाग्यशाली तथा धनपति बन जाता है।

ब्रह्मवैवर्तपुराण में इस शंख के संबंध में कहा गया है–

शंखं चन्द्रार्कदैवत्यं मध्ये वरुणदेवतन्। पृष्ठे प्रजार्पति विद्यादग्रे गंगा सरस्वतीम्॥
त्रैलोक्ये यानि तीर्थानि वासुदेवस्य चाज्ञया। शंखे तिष्ठंति विप्रेन्द्रर्तस्मा शंखं प्रपूजयेत्॥
दर्शनेन हि शंखस्य किं पुनः स्पर्शनेन तु। विलयं यांति पापनि हिमवद् भास्करोदयेः॥

अर्थात् यह शंख चंद्रमा और सूर्य के समान देव स्वरूप है। इसके मध्य में वरुण, पृष्ठ भाग में ब्रह्मा और अग्र भाग में गंगा का निवास है। शंख में सारे तीर्थ विष्णु की आज्ञा से निवास करते हैं और यह कुबेर स्वरूप है। अतः इसकी पूजा अवश्य करनी चाहिए। इसके दर्शन मात्र से सभी दोष ऐसे नष्ट हो जाते हैं, जैसे सूर्योदय होने पर बर्फ पिघल जाती है, फिर स्पर्श की तो बात ही क्या है!

कहा जाता है कि जिसके पास दक्षिणावर्ती शंख का जोड़ा होता है, वह सदा पराक्रमी और विजयी होता है। वह सुख-समृद्धि पाता है। उसके यहां से दरिद्रता, असफलता पलायन कर जाती है। नियमित रूप से इसके दर्शन, विधि-विधानानुसार पूजन करने से अभीष्ट मनोरथ सिद्ध होते हैं। इसे दुकान में रखने से व्यापार वृद्धि, धन में रखने से धन वृद्धि और अन्न में रखने से अन्न वृद्धि होती है। इसीलिए इसको वैभव और ऐश्वर्य का प्रतीक माना जाता है।

दक्षिणावर्ती शंख में जल भरकर घर के सदस्यों, वस्तुओं और कमरों में छिड़कने से अभिशाप, दुर्भाग्य, अभिचार और दुष्ट ग्रहों का प्रभाव नष्ट होता है। इस शंख में दूध भरकर प्राण प्रतिष्ठित महालक्ष्मी यंत्र और

लक्ष्मी पर श्रद्धापूर्वक रोजाना चढ़ाने से आकस्मिक लक्ष्मी की प्राप्ति होती है। तंत्र शास्त्रों में कहा गया है कि 'ॐ ह्रीं श्री क्लीं ब्लूं सुदक्षिणावर्त शंखाय नमः' मंत्र का जप प्रतिदिन 108 बार करके शंख का विधिवत् पूजन किया जाए, तो श्री और यश की वृद्धि होती है, साथ ही संतानहीन को संतान का लाभ भी मिलता है।

समुद्र से उत्पन्न, चंद्रमा के अमृत मंडल से सिंचित, वायु, अंतरिक्ष और ज्योतिर्मंडल को अपने भीतर संजोने वाला यह विशिष्ट शंख आयुवर्धन, शत्रुओं को निर्बल करने वाला, अज्ञान, रोग और अलक्ष्मी को दूर भगाने वाला होता है। इसका प्रयोग अर्घ्य देने के लिए विशेष तौर पर किया जाता है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि इस शंख को कान के पास ले जाकर सुनें, तो अपने आप मधुर ध्वनि सुनाई देती है, जिससे हृदय प्रसन्न हो जाता है।

पुलस्त्य संहिता में महर्षि पुलस्त्य कहते हैं कि लक्ष्मी को प्राप्त करना और उसे स्थायी रूप से घर में निवास देने का एकमात्र प्रयोग दक्षिणावर्ती शंख ही है, जो कि अपने आप में आश्चर्यजनक रूप से धन देने में समर्थ है। इसके माध्यम से ऋण, दरिद्रता और अभाव मिट जाते हैं तथा सभी दृष्टियों से पूर्णता और संपन्नता आ जाती है।

लक्ष्मी संहिता में इसे धन प्रदान करने और पूर्ण सफलता देने में समर्थ बताया गया है। **विश्वामित्र संहिता** में महर्षि विश्वामित्र ने इस शंख की प्रशंसा में कहा है कि धन वर्षा करने और सुख-समृद्धि प्रदान करने में यह अतुलनीय है।

भगवत्पाद शंकराचार्य का कहना है कि यदि दक्षिणावर्ती शंख मिल जाए और फिर भी व्यक्ति इसका उपयोग न करे, तो वह वास्तव में अभागा ही कहा जाएगा, क्योंकि यह तो जीवन का सौभाग्य है, सत्कर्मों का उदय है, लक्ष्मी प्राप्ति का सर्वोत्तम उपाय है।

गोरक्ष संहिता में गुरु गोरखनाथ ने दक्षिणावर्ती शंख का महत्त्व बताते हुए लिखा है कि इसका श्रेष्ठ तांत्रिक प्रयोग करने से तुरंत और अचूक प्रभाव होता है जिसे मैंने स्वयं व अपने शिष्यों को संपन्न कराकर पूर्ण सफलता पाई है।

महर्षि मार्कण्डेय के मतानुसार भगवती लक्ष्मी के सभी प्रयोगों में दक्षिणावर्ती शंख का प्रयोग ही प्रामाणिक और धन वर्षा करने में समर्थ है।

115. भगवान् का नाम जपने से मुक्ति की मान्यता क्यों?

भगवन्नाम जप की महिमा अनंत अतुलनीय है। इसीलिए इसे माधुर्य, ऐश्वर्य और सुख की खान कहा गया है। भक्तशिरोमणि नारद, भक्त प्रह्लाद, ध्रुव, जटायु, अजामिल, केवट, हनुमान, शबरी, अम्बरीष, गणिका आदि ने इस भगवन्नाम जप के द्वारा भगवत्प्राप्ति की है। इस नाम जप के प्रभाव से शिवजी अविनाशी हैं। मुनिजन, समस्त योगीजन, शुकदेव, सनकादि नाम जप के प्रभाव से ही ब्रह्मानंद का भोग करते हैं। वेद-पुराणादि धार्मिक ग्रंथों एवं संतों के वचनामृत में नाम की महिमा का उल्लेख मिलता है। इसमें भगवान् के नाम स्मरण-जप को कलियुग का मुख्य धर्म (ऐहिक-पारलौकिक कल्याणकारी कर्तव्य) माना गया है, क्योंकि कलियुग में मानव कल्याण और विश्वशांति के लिए श्री हरि के नाम के अतिरिक्त दूसरा सुलभ साधन नहीं है।

गोस्वामी तुलसीदास का कहना है–

नाम निरूपन नाम जतन तें। सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन तें॥ *–रामचरितमानस 1/23/8*

अर्थात् नाम के यथार्थ स्वरूप, महिमा, रहस्य और प्रभाव को जानकर श्रद्धापूर्वक नाम जप करने से वही ब्रह्म ऐसे प्रकट हो जाता है, जैसे रत्न को जानने से उसका मूल्य।

श्रीमद्‌भागवत् में कहा गया है–

सांकेत्यं पारिहास्यं वा स्तोत्रं हेलनमेव वा। वैकुण्ठनाम ग्रहणमशेषाधहरं विदुः॥
पतितः स्खलितो भग्नः संदष्टस्तप्त आहतः। त्वामनुबध्नामि हरिरित्यवशेनाह पुमान्नार्हति यातनाम्॥

–श्रीमद्‌भागवत् 6.2.14.15

अर्थात् भगवान् का नाम चाहे जैसे लिया जाए यानी किसी बात का संकेत करने के लिए, हंसी करने के लिए अथवा तिरस्कारपूर्वक ही क्यों न हो, वह संपूर्ण पापों का नाश करने वाला होता है। पतन होने पर, गिरने पर, कुछ टूट जाने पर, डसे जाने पर, बाह्य या आंतर ताप होने पर और घायल होने पर जो पुरुष विवशता से भी 'हरि' नाम का उच्चारण करता है, वह यम यातना के योग्य नहीं।

भगवान् **वेदव्यास** का कहना है–

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥ *–बृहन्नारदीयपुराण 38/127*

अर्थात् इस नानाविध आदि-व्याधि से ग्रस्त कलियुग में हरिनाम जप संसार सागर से पार होने का एकमात्र उत्तम सहारा है।

महर्षि पतंजलि कहते हैं–

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः। *–योगदर्शन 2/44*

अर्थात् नामोच्चारण से इष्ट देव परमेश्वर के साक्षात् दर्शन होते हैं।

पद्मपुराण में लिखा है कि जो मनुष्य परमात्मा के 'हरि' नाम का नित्य उच्चारण करता है, उसके उच्चारण मात्र से वह मुक्त हो जाता है।

भगवान् वेदव्यास ने **श्रीमद्भागवत 12.3.52** में कहा है कि सत्युग में भगवान् विष्णु के ध्यान से, त्रेता में यज्ञ से और द्वापर में भगवान् की पूजा-अर्चना से जो फल मिलता था, वह सब कलियुग में भगवान् के नाम-कीर्तन मात्र से ही प्राप्त हो जाता है।

गोस्वामी तुलसीदास ने **श्रीरामचरितमानस** के उत्तरकांड 102, ख में कहा है कि कलियुग में तो केवल भगवान् के नाम से वही गति मिलती है जो सत्युग, त्रेता और द्वापर में पूजा, यज्ञ और योग से प्राप्त होती है। तुलसीदास भगवान् श्रीराम के नाम जपने पर विशेष बल देते हैं।

भाव कुभाव अनख आलसहू।
नाम जपत मंगल दिसि दसहू॥

भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है–

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥ *–श्रीमद्भगवद्गीता 8/5*

अर्थात् जो पुरुष अंतकाल में भी मुझको ही स्मरण करता हुआ शरीर त्याग कर जाता है, वह मेरे साक्षात् स्वरूप को प्राप्त होता है–इसमें कोई भी संदेह नहीं है।

अजामिल की कथा आपने सुनी होगी। वह बहुत बड़ा पापी था। संयोग से उसने अपने छोटे बेटे का नाम नारायण रख दिया था। अंत समय में अजामिल ने यमदूतों के भय और प्यास के कारण अपने बेटे नारायण को पुकारा। श्रीमद्भागवत 6/2/8, 18 के अनुसार जिस समय उसने 'ना-रा-य-ण' इन चार अक्षरों का उच्चारण किया, उसी समय (केवल नामोच्चारण मात्र से ही) उस पापी के समस्त पापों का प्रायश्चित हो गया। जैसे जाने या अनजाने में ईंधन से अग्नि का स्पर्श हो जाए तो वह भस्म हो जाता है, वैसे ही जानबूझ कर या अनजाने में भगवान् के नामों का संकीर्तन करने से मनुष्य के सारे पाप भस्म हो जाते हैं। नारायण का नाम लेने मात्र से नारायण के दूत आ गए और यमदूतों से छुड़ाकर उसे स्वर्ग ले गए।

अंतिम समय की मानसिक स्थिति के विषय में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं–

यं यं वाऽपि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥ *–श्रीमद्भगवद्गीता 8/6*

अर्थात् जो मनुष्य अंतकाल में जिस-जिस भाव को स्मरण करता हुआ शरीर का त्याग करता है, वह उसको ही प्राप्त होता है, क्योंकि वह सदा उसी भाव से भावित रहा है, अर्थात् अंत समय में देव, मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष आदि सजीव पदार्थों का स्मरण करते हुए मरने वाला मनुष्य उन-उन योनियों को प्राप्त हो जाता है।

116. विश्वकर्मा की पूजा क्यों?

मशीनरी से संबंधित व्यवसायों में विश्वकर्मा की प्रार्थना करके ही कार्यारंभ किया जाता है, ताकि कारखाने में कोई दुर्घटना न हो और कार्य में निरंतर सफलता मिले, यही विश्वकर्मा पूजन का रहस्य है। प्रभु ही विश्व के निर्माता हैं। इसलिए प्रभु का सर्वोपरि नाम विश्वकर्मा है। दीपावली के अगले दिन गोवर्धन पूजा के अवसर पर विश्वकर्मा के पूजन का विधान है। इस दिन कारोबार से संबंधित औजारों की साफ-सफाई करके उनकी पूजा की जाती है, फिर भी अधिकांश कंपनियों में प्रतिवर्ष 17 सितंबर को विश्वकर्मा जयंती के अवसर पर उनके पूजन के साथ-साथ औजारों की भी पूजा की जाती है।

कहा जाता है कि विश्वकर्मा ने सारे लोक बनाए, अनेक देवताओं का नाम गढ़ा, उनको नाम दिए और उनके अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण किया। उन्होंने सूर्य के तेज के आठवें भाग को छीलकर निकाला और शिव का त्रिशूल, विष्णु का चक्र, कुबेर का पाश तथा कार्तिकेय आदि दूसरे देवताओं के अस्त्र-शस्त्र बनाए, जो अजेय और अमोघ थे। अनेक देवताओं के रथों का निर्माण भी उन्हीं के द्वारा किया गया। सभी देवताओं के विभिन्न अंगों के अलंकारों का निर्माण कर विश्वकर्मा देवताओं के इंजीनियर कहलाने लगे।

पुराणों में कहा गया है कि स्वर्णमयी लंका के दहन के बाद विश्वकर्मा ने उसका जीर्णोद्धार किया और उसे पहले जैसा बनाया। वे वास्तुकला (आर्किटेक्ट) के आचार्य माने जाते थे और उन्होंने अपने ज्ञान, कला-कौशल से वास्तुकला वेद को भी जन्म दिया था। भगवान् कृष्ण के आदेश पर विश्वकर्मा ने पांडवों की राजधानी इंद्रप्रस्थ (खांडवप्रस्थ) का निर्माण किया, जिसका उल्लेख महाभारत की कथा में मिलता है।

विश्वकर्मा ने घृताची नामक अप्सरा से विवाह किया और उससे अनेक पुत्र उत्पन्न किए। वे सब उन जातियों के पुरखे बने जो बढ़ई, शिल्पी, राज, कारीगर, मजदूर धातु का काम करते थे। उनके वंशज आज भी अपने नाम के साथ विश्वकर्मा कुलनाम लिखते हैं। विश्वकर्मा एक महान वास्तुकार थे। अपनी उपलब्धियों के कारण धीरे-धीरे उनमें देवता के गुण आ गए थे। इसीलिए उनकी पूजा-उपासना की जाती है।

117. प्रयाग, हरिद्वार, नासिक और उज्जैन में ही कुंभ का मेला क्यों?

इन चार मुख्य तीर्थ स्थानों पर 12-12 वर्षों के अंतर से लगने वाले कुंभ पर्व में स्नान और दान का ग्रहयोग बनता है। इस अवसर पर न केवल भारतवर्ष के हिंदू भक्त, बल्कि बाहर के देशों से भी हिंदू कुंभ स्नान के लिए आते हैं। सामान्य तौर पर प्रति 6 वर्ष के अंतर से कहीं-न-कहीं कुंभ का योग अवश्य ही आ जाता है, इसलिए 12 वर्ष में पड़ने वाले पर्व को कुंभ और 6 वर्ष में पड़ने वाले पर्व को अर्ध कुंभ के नाम से जाना जाता है। इस पर्व पर श्रद्धालु, भक्तगण स्नान, दान और साधु संतों के सत्संग, दर्शन हेतु सावन के बादलों की तरह उमड़ पड़ते हैं, क्योंकि इससे मोक्ष की प्राप्ति होती है।

ऐसा माना जाता है कि जब गुरु वृषभ राशि पर हो, सूर्य तथा चंद्र मकर राशि पर हों, अमावस्या हो, ये सब योग जब इकट्ठे होते हों, तो उस अवसर पर प्रयाग में कुंभ का पर्व मनाया जाता है। इस समय त्रिवेणी में स्नान करने वालों को एक लाख पृथ्वी की परिक्रमा करने से भी अधिक तथा सैकड़ों वाजपेय यज्ञों और सहस्रों अवश्वमेध यज्ञों का पुण्य प्राप्त होता है।

इसी प्रकार सूर्य मेष राशि पर और गुरु कुंभ राशि पर होता है, तो उस समय हरिद्वार में कुंभ का योग बनता है। जब सूर्य एवं चंद्र कर्क राशि पर हों और गुरु सिंह राशि पर स्थित हो, तो उस समय नासिक में कुंभ का योग होता है। इसी प्रकार जिस समय गुरु वृश्चिक राशि पर और सूर्य तुला राशि पर स्थित हो, तो उस समय उज्जैन में कुंभ का योग बनता है।

पौराणिक आख्यान के अनुसार माना जाता है कि समुद्र मंथन में निकले अमृत कलश को लेकर जब धन्वंतरि प्रकट हुए, तो अमृत को पाने की लालसा में देवताओं और दानवों के बीच छीना-झपटी होने लगी। जब अमृत से भरा कलश लेकर देवता भागने लगे, तो उस कलश को चार स्थलों पर रखा गया। इससे कलश से अमृत की कुछ बूंदें छलक कर नीचे गिर पड़ीं। जिन-जिन स्थानों पर अमृत की ये बूंदें गिरीं, वे चार स्थान प्रयाग, हरिद्वार, नासिक और उज्जैन हैं। दूसरी मान्यता के अनुसार अमृत के घड़े को लेकर गरुड़ आकाश मार्ग से उड़ चले। दानवों ने उनका पीछा किया और छीना-झपटी में घड़े से अमृत की बूंदें चार स्थानों पर टपक पड़ीं। जिन चार स्थलों पर अमृत की बूंदें छलक कर गिरीं उन्हें प्रयाग, हरिद्वार, नासिक और उज्जैन के नाम से जाना जाता है। इसीलिए इन चार स्थलों पर ही अभी तक कुंभ का मेला लगता है, जहां श्रद्धालु स्नान कर पुण्य लाभ प्राप्त करते हैं।

118. दस अवतारों की अवधारणा क्यों?

श्रीमद्भगवद्गीता 4/7-8 में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं–

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥

हे भारत ! जब-जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब ही मैं अपने रूप को रचता हूं। अर्थात् साकार रूप में लोगों के सम्मुख प्रकट होता हूं। साधु पुरुषों का उद्धार करने के लिए, पाप कर्म करने वालों का विनाश करने के लिए और धर्म की स्थापना करने के लिए मैं युग-युग में प्रकट हुआ करता हूं।'

यों तो हिंदू धर्म में भगवान् के असंख्य अवतारों को स्वीकार किया गया है, लेकिन उनमें से 108 अवतारों की मान्यता है। इनमें से भगवान् विष्णु ने धरती की सुख-शांति की स्थापना और सृष्टि के पालन के लिए जिन दस अवतारों को धारण किया वे निम्नानुसार हैं–

मत्स्य या मीन अवतार : वैवस्वत मनु की प्रलय से रक्षा करने के लिए भगवान् ने मछली का अवतार धारण किया था। इसके माध्यम से बीज से वृक्ष बनने जैसा उदाहरण प्रस्तुत किया और बताया कि छोटे साधन भी उच्च उद्देश्यों के साथ जुड़ने पर महान हो जाते हैं।

कच्छप या कछुए का अवतार : विष्णु का यह अवतार कूर्मावतार के नाम से भी जाना जाता है। इसमें अमृत मंथन के लिए कछुए का रूप धारण कर अपनी पीठ पर समुद्र मंथन की सारी प्रक्रिया का भार उठाकर सहयोग और अनवरत श्रम की महत्ता बतलाई गई है।

वाराह अवतार में जब पृथ्वी को हिरण्याक्ष राक्षस ने हर लिया, तो उससे मल्लयुद्ध करके उसके आधिपत्य का शमन किया और पृथ्वी को मुक्त कराकर सर्वसाधारण को संपदा उपलब्ध कराई।

नृसिंह या नरसिंह अवतार में मानव शरीर का आधा भाग और आधा भाग शेर का बनाकर दैत्यराज हिरण्यकशिपु का वध किया। प्रह्लाद को बचाकर उसका अधिकार दिलवाया। इस अवतार में साम, दाम, दंड का ही नहीं, भेद नीति अर्थात् कूटनीति का प्रयोग किए जाने का औचित्य भी बतलाया गया है।

वामन अवतार लेकर दैत्यराज बलि के यज्ञ अनुष्ठान को नष्ट किया और आकाश, पाताल, पृथ्वी आदि को मुक्त कराया। असुरों की प्रसुप्त सद्भावना को जगाया और वैभव को जनहित में वितरण करने में सफलता पाई।

परशुराम अवतार में क्षत्रियों के अत्याचारों से ब्राह्मणों और पृथ्वी को स्वतंत्र किया। पशु और पिशाच वर्ग के लोगों को न तो विजय से सुधारा जा सकता है और न शिक्षा, क्षमा से। इसलिए उनका वध किया।

राम के अवतार में रावण का वध कर श्रद्धालु जनों में मर्यादा पुरुषोत्तम कहलाए। कष्ट सहकर भी वे धर्म धारण के प्रतिपादन में निरत रहे। इसलिए सजीव धर्म पुरुष कहलाए। असुरता हटाकर देवत्व की वृद्धि की।

कृष्ण का अवतार लेकर अत्याचारी कंस का वध किया। वे नीति पुरुष कहलाए, क्योंकि उन्होंने नीति को क्रिया के साथ नहीं, लक्ष्य के साथ जोड़ा।

बुद्ध का अवतार ज्ञान और तप के आधार पर धारण किया। पुराणों में जिस बुद्धावतार का वर्णन है, वह महाराज शुद्धोदन के पुत्र अमिताभ गौतम बुद्ध ही हैं। शांति और अहिंसा का संदेश दिया। मनुष्य को समस्त दुखों से छुटकारा मिले, भगवान् बुद्ध की शिक्षा का यही लक्ष्य था।

कल्कि को अंतिम अवतार कहा गया है, जो कलियुग में तब अवतीर्ण होगा–जब संसार में अनाचार और अत्याचार अपनी पराकाष्ठा पर होंगे। इसमें अभी काफी वर्ष शेष बताए जाते हैं। इस अवतार के बाद पुनः सत्युग आएगा।

119. तीर्थों का महत्त्व क्यों?

शास्त्रकार ने कहा है–**तारयितुं समर्थः इति तीर्थः।** अर्थात् जो तार देने, पार कर देने में समर्थ होता है, वह तीर्थ कहलाता है। तरना सद्विचारों, सत्कर्मों एवं संतों के सत्संग से ही हो सकता है। जिन स्थानों में देवी-देवताओं की शक्तियों का प्रभाव, प्राकृतिक सौंदर्य, विशेष तेजोमय जल, संतों, महात्माओं का सत्संग आदि प्राप्त होते हैं, उन्हें ही तीर्थस्थान कहा जाता है। तीर्थयात्रा के पुण्यफल का उल्लेख धर्मशास्त्रों में अनेक बार हुआ है। शिवपुराण, पद्मपुराण व स्कंदपुराण का बहुत बड़ा भाग तीर्थ माहात्म्य से ही भरा पड़ा है। महाभारत, वेदों, पुराणों, उपपुराणों में तीर्थ करने से पापों से निवृत्ति, पुण्य संचय, मुक्ति और स्वर्ग की प्राप्ति, देवताओं की अनुकंपा, आत्मशांति, मनोकामनाओं की पूर्ति जैसे लाभ गिनाए गए हैं, जिन्हें पढ़कर धर्म प्रेमी सहज ही श्रद्धापूर्वक तीर्थयात्राएं करते हैं। **महाभारत, वन पर्व** में कहा गया है कि जो पुण्य अग्निष्टोम जैसे विशाल यज्ञों से उपलब्ध नहीं हो सकता, वह तीर्थ यात्रा से, तीर्थ सेवन से सहज सुलभ हो जाता है। अश्रद्धा युक्त मात्र पर्यटन और मनोरंजन के लिए इधर-उधर परिभ्रमण करने वाले संशयात्मा व्यक्ति इस पुण्य-फल को कभी भी प्राप्त नहीं कर सकते। तीर्थ यात्रा का उद्देश्य है–अंतःकरण की शुद्धि और आत्म कल्याण। अतः आत्म कल्याण के इच्छुक को तीर्थयात्रा का पुण्य लाभ लेना चाहिए।

पुलस्त्य ऋषि ने कहा है–

पुष्करे तु कुरुक्षेत्रे गंगायां मगधेषु च।
स्नात्वा तारयते जन्तुः सप्त सप्तावरांस्तथा ॥ *–महाभारत/वनपर्व 85/92*

अर्थात् पुष्कर, कुरुक्षेत्र, गंगा और मगध देशीय तीर्थों में स्नान करने वाला मनुष्य अपनी सात पीछे की और सात आगे की पीढ़ियों का उद्धार कर देता है।

देवी भागवत में कहा गया है कि जिस प्रकार कृषि का फल अन्न उत्पादन है, उसी प्रकार निष्पाप बनना ही तीर्थयात्रा का प्रतिफल है।

अथर्ववेद 18/4/7 में कहा गया है कि तीर्थयात्रा करने वाले तीर्थयात्री तीर्थादि द्वारा बड़े-बड़े पापों और आपत्तियों से मुक्त होकर पुण्यलोक की प्राप्ति करते हैं।

शास्त्रकारों ने कहा है कि तीर्थ में जिसकी जैसी और जितनी श्रद्धा होती है, उसे वैसा ही फल मिलता है। 'जो यथोक्त विधि से तीर्थ यात्रा करते हैं, संपूर्ण द्वंद्वों को सहन करने वाले हैं, वे धीर पुरुष स्वर्ग में जाते हैं', ऐसा **नारदपुराण** में लिखा है–

कामं क्रोधं च लोभं च यो जित्वा तीर्थमाविशेत्।
न तेन किंचिदप्राप्तं तीर्थाभिगमनाद् भवेत् ॥ *–नारदपुराण*

जो काम, क्रोध और लोभ को जीतकर तीर्थ में प्रवेश करता है, उसे तीर्थयात्रा से सब कुछ प्राप्त हो जाता है।

स्कंदपुराण में तीर्थ फल के संबंध में लिखा है–

यस्य हस्तौ च पादौ च मनश्चैव सुसंयतम्।
निर्विकाराः क्रियाः सर्वा स तीर्थफलमश्नुते ॥ –स्कंदपुराण मा. कुमा. 2/6

अर्थात् जिसके हाथ, पैर और मन भली-भांति संयम में हों तथा जिसकी सभी क्रियाएं निर्विकार भाव से संपन्न होती हों, वही तीर्थ का पूरा फल प्राप्त करता है।

स्कंदपुराण में तीर्थ के संबंध में कहा गया है कि सत्य तीर्थ है। क्षमा करना तीर्थ के समान फलदायक है। इंद्रियों पर नियंत्रण करना तीर्थ के समान उपकारी है। सब प्राणियों पर दया करना तीर्थ के समान पुण्य देने वाला है और सरल जीवन भी तीर्थ ही समझना चाहिए। तीर्थों में सबसे श्रेष्ठ है अंतःकरण की अत्यंत विशुद्धि।

यस्य हस्तौ च पादौ च वाङ्मनस्तु सुसंयते।
विद्या तपश्च कीर्तिश्च स तीर्थफलमश्नुते ॥
अश्रद्दधानः पापात्मा नास्तिकोऽच्छिसंशयः।
हेतुनिष्ठाश्च पंचैते न तीर्थफलभागिनः ॥ –*भविष्यपुराण, उत्तरा. 122/7-8*

अर्थात् जिसके हाथ, पैर, मन और वाणी सुसंयत हैं तथा जिसकी विद्या, कीर्ति और तपस्या पूरी है, उसे ही तीर्थ का फल मिलता है। श्रद्धारहित, पापी, संशयग्रस्त, नास्तिक और तार्किक–इन पांच प्रकार के लोगों को तीर्थ का फल नहीं मिलता।

पद्मपुराण में कहा गया है कि तीर्थों में ब्रह्मपरायण, साधु-सज्जन मिलते हैं। उनका दर्शन मनुष्यों की पाप राशि को जला डालने के लिए अग्नि के समान है।

तीर्थ के संबंध में शास्त्रकारों का यह भी कहना है कि काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद ये सब मन के मैल हैं। मन का निर्मल रहना परम तीर्थ है। महाभारत समाप्त होने के उपरांत धर्मराज युधिष्ठिर ने तीर्थयात्रा करने का निश्चय किया। साथ में चारों भाई अर्जुन, भीम, नकुल, सहदेव और द्रोपदी भी थी। प्रस्थान करने के पूर्व वे भगवान् श्रीकृष्ण के पास गए, तो उन्होंने अपना कमंडलु देते हुए कहा–'जहां-जहां तीर्थ स्थानों, नदियों और सरोवरों में आपको स्नान करने का अवसर मिले, वहां-वहां इसे भी डुबो देना।' काफी दिनों बाद जब वे लौटे, तो उन्होंने कमंडलु लौटाते हुए श्रीकृष्ण को बताया कि उसे सभी स्नान के स्थानों पर डुबोया गया है। इस पर कृष्ण ने उसे जमीन पर पटक कर टुकड़े-टुकड़े कर दिया और प्रसाद के रूप में उपस्थित लोगों में वितरित कर दिया। जिसने भी प्रसाद चखा, मुंह कड़वा हो गया। लोगों को थूकते और मुंह बनाते देख श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर से पूछा–'यह इतने तीर्थों में घूमकर आ रहा है और स्नान भी कर आया है फिर भी इसका कड़वापन दूर क्यों नहीं हुआ ?'

धर्मराज ने कहा–'आप भी कैसी बात करते हैं, कहीं धोने मात्र से कमंडलु का कड़वापन निकल सकता है ?'

भगवान् कृष्ण ने समाधान करते हुए कहा–'यदि ऐसा है तो तीर्थ स्नान का बाह्योपचार करने मात्र से अंतः का परिष्कार, धुलाई, मार्जन कैसे हो सकता है ?' धर्मराज ने अपनी गलती सुधारी और आत्मशोधन की गरिमा को जाना।

120. चारों धामों की यात्रा का धार्मिक महत्त्व क्यों?

जिस प्रकार हिन्दू संस्कृति के चार वेद हैं, चार वर्ण हैं, चार दिशाएं हैं, ठीक उसी प्रकार चार धाम हैं। भारत की पवित्र भूमि में पूर्व में जगन्नाथ पुरी, पश्चिम में द्वारका पुरी, दक्षिण में रामेश्वरम् और उत्तर में बद्रीनाथ धाम स्थापित हैं।

जगन्नाथ पुरी को अनेक वैष्णव संतों ने अलौकिक तीर्थ धाम माना है। यहां पर महाप्रभु श्रीकृष्ण ने अपने जीवन के कुछ दिन बिताए थे। ऐसा माना जाता है कि जगन्नाथ पुरी में सभी धर्मों के लोग एक साथ बैठकर भोजन करते हैं, जिससे तीर्थधाम करने वालों का पुण्य बढ़ता है। जगन्नाथ का शाब्दिक अर्थ जगत के नाथ यानी भगवान् विष्णु। जगन्नाथ मंदिर में प्रमुख प्रतिमा विष्णु/कृष्ण की है। साथ ही बलराम और सुभद्रा की मूर्तियां भी प्रतिष्ठित हैं। ये प्रतिमाएं चंदन की लकड़ी की बनी हुई हैं। कहा जाता है कि मुख्य मूर्ति में स्वयं ब्रह्माजी ने आंखें प्रदान कीं और भगवान् विष्णु की प्राणप्रतिष्ठा की। मूर्ति के भीतर एक अस्थि मंजूषा बताई जाती है, जिसे प्रति 12वें वर्ष में बदलकर नई मूर्ति में प्रतिष्ठित कर दिया जाता है। कहा जाता है कि ये अस्थि- अवशेष भगवान् कृष्ण के हैं। जगन्नाथ पुरी में मार्कण्डेय, चंदन, पार्वती तालाब, श्वेतगंगा और इंद्रद्युम्न नामक पंच तीर्थ हैं।

श्री जगन्नाथजी के महाप्रसाद की महिमा भुवन विख्यात है। इसे व्रत-पर्वादि के दिन भी बिना किसी छुआ-छूत दोष के ग्रहण करने का विधान है। यह भगवत्प्रसाद अन्न या पदार्थ नहीं होता, बल्कि चिन्मय तत्त्व है।

द्वारका पौराणिक, ऐतिहासिक एवं धार्मिक महत्त्व का स्थान है। कहा जाता है कि मथुरा छोड़ने के बाद भगवान् कृष्ण ने अपने भाई बलराम तथा यादवों के साथ द्वारका आकर अपनी नई राजधानी बनाई थी। आठवीं शताब्दी में यहां आदि शंकराचार्य ने सनातन धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए द्वारकापीठ की स्थापना की। तब से यह नगर भारत के चार धामों में गिना जाता है। द्वारकाधीश मंदिर के हरिगृह का निर्माण अनिरुद्ध के पुत्र वज्रनाथ ने अपने बाबा कृष्ण की स्मृति में कराया था। मंदिर के हरिगृह में भगवान् कृष्ण की एक प्रतिमा प्रतिष्ठित है। द्वारकापीठ मठ का यहां काफी धार्मिक महत्त्व बताया जाता है, क्योंकि हिंदुओं के चार धामों में से यह एक है। यहां कृष्ण की पटरानी रुक्मिणी का मंदिर स्थापत्य कला का अद्भुत नमूना है।

स्कंदपुराण प्रभासखंड में लिखा है कि द्वारका के प्रभाव से कीट, पतंगे, पशु-पक्षी तथा सर्प आदि योनियों में पड़े हुए समस्त पापी भी मुक्त हो जाते हैं, फिर जो प्रतिदिन द्वारका में रहते और जितेन्द्रिय होकर भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा में उत्साहपूर्वक लगे रहते हैं, उनके विषय में तो कहना ही क्या है। द्वारका में रहने वाले समस्त प्राणियों को जो गति प्राप्त होती है, वह ऊर्ध्वरेता मुनियों को भी दुर्लभ है। द्वारकावासी का दर्शन और स्पर्श करके भी मनुष्य बड़े-बड़े पापों से मुक्त हो स्वर्गलोक में निवास करते हैं। वायु द्वारा उड़ाई गई द्वारका की रज पापियों को मुक्ति देने वाली कही गई है, फिर साक्षात् द्वारका की तो बात ही क्या। द्वारका में जो होम, जप, दान और तप किए जाते हैं, वे सब भगवान् श्रीकृष्ण के समीप कोटि गुना एवं अक्षय होते हैं।

रामेश्वरम् के संबंध में मान्यता है कि भगवान् श्रीराम जब लंका जीतकर लौटे, तो यहीं पर शिव के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट की थी। रामायण के अनुसार राक्षसों के विरुद्ध युद्ध में विजय के पूर्व भगवान् राम ने यहां स्नान कर शिव की आराधना की थी। कोतंडरमर मंदिर पर राक्षसराज रावण के भाई विभीषण ने भगवान् राम के समक्ष आत्मसमर्पण कर उनका संरक्षण प्राप्त किया था। धनुषकोटि मंदिर में राम, लक्ष्मण, सीता, हनुमान व विभीषण की मूर्तियां हैं। रामनाथ स्वामी मंदिर का गलियारा भारत के मंदिरों में सबसे बड़ा माना गया है। यह मंदिर वास्तुकला के उत्कृष्ट नमूनों से युक्त है।

द्वादश ज्योतिर्लिंगों में रामेश्वर की गणना की जाती है। स्कंदपुराण ब्रह्मखंड में लिखा है कि भगवान् श्रीराम द्वारा बंधवाए हुए सेतु के कारण रामेश्वर तभी तीर्थों तथा क्षेत्रों में उत्तम है। उस सेतु के दर्शन मात्र से संसार सागर से मुक्ति हो जाती है तथा भगवान् विष्णु एवं शिव में भक्ति तथा पुण्य की वृद्धि होती है। उसके कायिक, वाचिक व मानसिक कार्य भी सिद्ध हो जाते हैं, इसमें कोई संशय नहीं। सेतुबंध समस्त देवता रूप कहा गया है। सेतु, श्री रामेश्वर लिंग का चिंतन करने मात्र से मनुष्य के सारे पाप नष्ट हो जाते हैं। सेतु की बालू में शयन करने से चिपकी बालू कणों के बराबर ब्रह्महत्याओं का नाश हो जाता है।

बदरीनाथ नर और नारायण पर्वतों के बीच ऋषिगंगा और अलकनंदा नदियों के संगम पर स्थित है। महाभारत, स्कंदपुराण व अन्य पुराणों में बदरीनाथ के सौंदर्य की चर्चा की गई है। बदरीनाथ मंदिर में मुख्य मूर्ति भगवान् विष्णु की है। शालग्राम पत्थर पर बनी यह मूर्ति कला की दृष्टि से बेजोड़ है। पौराणिक कथाओं के अनुसार यह मूर्ति सातवीं शताब्दी में शंकराचार्य ने एक कुंड से प्राप्त की थी। इसके सामने अलकनंदा नदी के तट पर गरम पानी का झरना है। इसे तप्त कुंड कहते हैं, जिसमें श्रद्धालु स्नान कर अत्यंत सुखद अनुभूति पाते हैं। भीम ने पांडवों को नदी पार कराने के लिए एक विशाल शिला को नदी में रखा था, जो यहां भीम शिला के नाम से जानी जाती है। कहा जाता है कि यहां की व्यास गुफा में महर्षि व्यास ने पुराणों की रचना की थी। गुफा के बाहर विशाल चट्टान किताब की भांति दिखाई देती है, जिसे व्यास पुस्तिका कहते हैं। यहां नारद कुंड और सूर्य कुंड नाम के गरम पानी के दो सरोवर भी हैं।

महाभारत में लिखा है कि अन्य तीर्थों में स्वधर्म का विधिपूर्वक पालन करते हुए मृत्यु होने पर मुक्ति होती है, लेकिन बदरीक्षेत्र के तो दर्शनमात्र से ही मुक्ति मनुष्य के हाथ में आ जाती है। बदरी ही परमतीर्थ, तपोवन तथा साक्षात् परात्पर ब्रह्म है। वही जीवों के स्वामी परमेश्वर हैं, जिन्हें जानकर शोक, मोह, चिंता तुरंत मिट जाती है। मनुष्य कहीं से भी बदरी आश्रम का स्मरण करता रहे तो वह पुनरावृत्ति वर्जित श्रीवैष्णवधाम को प्राप्त होता है।

121. तीन समय संध्या उपासना करने का विधान क्यों?

हिन्दू सनातन धर्म कर्मकांड और नित्यकर्म में संध्या उपासना को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है, इसलिए हमारे प्राचीन ऋषि-मुनि त्रिकाल संध्या उपासना करते थे। भगवान् श्रीराम और वसिष्ठ भी त्रिकाल संध्या करते थे। जीवन को तेजस्वी, सफल और उन्नत बनाने के लिए और वांछित फल की प्राप्ति के लिए मनुष्य को त्रिकाल संध्या अवश्य करनी चाहिए।

भगवान् मनु ने कहा है—

ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वाद्दीर्घमायुरवान्पुयुः।
प्रज्ञां यशश्च कीर्तिं च ब्रह्मवर्चसमेव च॥ *—मनुस्मृति 4/94*

अर्थात् बहुत काल तक संध्योपासना करने के कारण ही ऋषियों ने दीर्घायु, बुद्धि, यश, कीर्ति (ख्याति) और ब्रह्मतेज की प्राप्ति की थी।

कूर्मपुराण अध्याय 18 श्लोक 26 से 31 में संध्या उपासना का महत्त्व इस प्रकार से बताया गया है—'जो संध्या है वही जगत को उत्पन्न करने वाली है, मायातीत है, निष्कल है और तीन तत्त्वों से उत्पन्न होने वाली ईश्वर की पराशक्ति है। विद्वान् ब्राह्मण को पूर्वाभिमुख होकर सूर्यमंडल में प्रतिष्ठित सावित्री (गायत्री मंत्र) का ध्यान-पूर्वक जप करते हुए संध्योपासना करनी चाहिए। संध्या से हीन द्विज व्यक्ति नित्य अपवित्र और सभी कर्मों को करने के अयोग्य होता है। वह जो भी कार्य करता है, उसका कोई फल उसे प्राप्त नहीं होता। पूर्वकाल में वेद के पारंगत शांत ब्राह्मणों ने अनन्य मन से संध्योपासना करके परमगति को प्राप्त किया था। उस उपासना से योगविग्रह परमदेव की उपासना हो जाती है।'

त्रिकाल संध्या यानी प्रातःकाल (सूर्योदय से पूर्व), मध्याह्न तथा सायंकाल तीनों कालों में की जाती है और प्रत्येक संध्या उत्तम, मध्यम और अधम प्रकार की मानी जाती है।

देवीभागवत 11/16/4-5 में कहा गया है—'प्रातः संध्या तारे दीखते हों उस समय करने पर उत्तम, तारे दीखने बंद होने पर मध्यम और सूर्य निकलने पर अधम होती है और सायं संध्या सूर्य रहते तक उत्तम, सूर्यास्त के समय मध्यम और तारे दीखने के बाद कनिष्ठा होती है।'

तीनों काल की संध्या करते समय मुनि विश्वामित्र के मतानुसार पूर्व अथवा उत्तर की ओर मुख करके बैठना चाहिए। सायंकाल में पश्चिम की ओर मुख करके बैठना चाहिए।

प्रातःकाल सूर्योदय के पूर्व समय, दोपहर बारह बजे और सूर्यास्त के समय के पहले और बाद के 10 मिनट का समय संधिकाल कहलाता है। इस समय किया हुआ जप, प्राणायाम, ध्यान, भजन बहुत लाभदायक पुण्यदायी होता है। अधिक हितकारी और उन्नति करने वाला होता है, क्योंकि इस समय हमारी सब नाड़ियों का मूल आधार सुषुम्ना नाड़ी के द्वार खुले होते हैं। ऐसे में छुपी हुई शक्तियां जागृत होने लगती हैं, जीवनी शक्ति और कुंडलिनी शक्ति के जागरण में सहयोग मिलता है। इसलिए अपनी नैतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक उन्नति के लिए नियमित रूप से त्रिकाल संध्या करनी चाहिए।

122. पूजा में प्रयुक्त वस्तुओं का महत्त्व क्यों?

देवपूजन में पान-सुपारी, सिक्का, पानी, अक्षत (चावल), चंदन, रोली, पुष्प, दीपक, अगरबत्ती, धूपबत्ती, कुंकुम, हलदी, प्रसाद (मिष्ठान), फल आदि प्रयुक्त होते हैं। इन सबका अपना-अपना महत्त्व है। पान-सुपारी और सिक्का ऐसी वस्तुएं हैं, जिनके बिना पूजा संपन्न नहीं हो सकती। पूजा में पान और सुपारी का प्रयोग नारियल की तरह उत्तर-दक्षिण की एकता का प्रतीक है। पूजा में यह उसी प्रकार श्रेष्ठ माना गया है, जिस प्रकार स्वागत में सुपारी युक्त पान पेश किया जाता है। यह सम्मानजनक माना जाता है। ठीक वैसे ही भक्त के अंतःकरण में बैठे भगवान् की प्रतिमा के समक्ष वह सब कुछ अर्पित करता है, जो सम्मान और समर्पण का सूचक हो। चूंकि पान और सुपारी के वृक्ष दिव्य हैं, इसीलिए सभी देवताओं को प्रिय हैं।

सबसे पहले 'स्नानम् समर्पयामि' कहते हुए चम्मच से जल चढ़ाते हैं, जिसका तात्पर्य यह है कि हम तन, मन, धन तथा भावना रूपी चार शक्तियों से समाज की सेवा कर सकें। बुराइयों को धोकर स्वच्छ, निर्मल और पवित्र समाज बना सकें। इसी के प्रतीक रूप में चार चम्मच जल भगवान् के चरणों में समर्पित करते हैं। 'अक्षतं समर्पयामि' कहकर जो चावल चढ़ाए जाते हैं, उसका तात्पर्य यह है कि हम जो अनाज, पैसा, संपत्ति कमाते हैं, उसमें से एक अंश भगवान् और उसके बनाए प्राणियों के लिए लगाएं। पूरा का पूरा स्वयं हजम न करें।

चंदन लगाने का तात्पर्य यह है कि हमारे जीवन का अंश-अंश चंदन की तरह खुशबूदार हो। हम दूसरों की सेवा में अपने को समर्पित करना सीखें। जो चंदन की तरह बनते हैं, वे भगवान् को प्रिय होते हैं।

'पुष्पम् समर्पयामि' कहकर जो पुष्प चढ़ा जाते हैं, उनका तात्पर्य यह है कि पुष्प की तरह ही हमारा जीवन हमेशा खिलता रहे, हंसता रहे, प्रसन्न रहे। फूल की तरह एक होकर समर्पित जीवन जीने और लोक मंगल के लिए अपना सर्वस्व सर्वत्र बिखेरने तथा अपनी सुगंध से सबको मोहित करने का गुण हम अपनाएं।

दीपक तभी प्रकाशित होता है, जब उसमें पात्र, घी और बत्ती तीनों का संयोग हो, यानी पात्रता, निष्ठा और समर्पण। घी को रोकने के लिए जैसे पात्र की आवश्यकता होती है, ठीक वैसी ही पात्रता हममें भगवान् की सेवा की होनी चाहिए। समाज सेवा और सत्कर्मों के प्रति निष्ठाभाव ज्ञान का प्रकाश जन-जन तक पहुंचाने, भटकों को राह दिखाकर उनका मार्ग प्रकाशित करने और अंधेरा दूर करने की प्रतिज्ञा लेकर हम स्वयं को भगवान् के सामने आत्मसमर्पण करके प्रार्थना करें। यही दीप जलाने का सही अर्थ है।

अगरबत्ती, धूपबत्ती जलाने से सकारात्मक जैव विद्युत चुंबकीय ऊर्जा उत्पन्न होती है, जिससे मन में नकारात्मक विचार कम आते हैं और स्वास्थ्य अच्छा रहता है। साथ ही इनके जलाने का तात्पर्य यह है कि हमारा जीवन और व्यक्तित्व ऐसा बने कि जहां कहीं भी जाएं, सबके मन में सुगंध और प्रसन्नता ला दें।

कुंकुम जो हलदी और चूने या नीबू के रस में हलदी को मिलाकर बनाया जाता है, त्वचा का शोधन और मस्तिष्क स्नायुओं का संयोजन करता है। हलदी में खून को शुद्ध करने, शरीर की त्वचा में निखार लाने, घाव को ठीक करने और अनेक बीमारियां दूर करने का गुण होता है। इसलिए यह एक महत्त्वपूर्ण औषधि भी है।

नैवेद्य प्रसाद के रूप में मिष्ठान, फल आदि भगवान् को चढ़ाए जाते हैं, इसका अर्थ यह है कि इस पृथ्वी से हमें जो कुछ भी मिल रहा है, उसे प्रभु की कृपा और प्रसाद मानें। भोग लगाकर जो प्रसाद बांटा जाता है, उसमें भगवान् का सूक्ष्मांश आस्वादित होने के कारण उसका स्वाद अपूर्व व दिव्य हो जाता है। इसकी अल्प मात्रा के सेवन से ही अपूर्व रस मिलता है। मिष्ठान का आशय यह भी है कि हमारी वाणी, व्यवहार, व्यक्तित्व, कृतित्त्व, सबमें मिठास, मधुरता आए, क्योंकि इससे प्रभु प्रसन्न होते हैं। इस प्रकार पूजा में भगवान् की प्रिय वस्तुएं अर्पित की जाती हैं, ताकि वे हमारे कार्यों को निर्विघ्न पूरा करें।

आमतौर पर प्रसाद का तात्पर्य होता है जो बिना मांगे मिले, क्योंकि प्रसाद बांटने वाला स्वयं ही हाथ बढ़ाकर देता है। इसीलिए भगवान् के नाम पर बांटे जाने वाला पदार्थ का नाम प्रसाद रखा गया है। हम जानते हैं कि भगवान् की कृपा को प्रसाद रूप में प्राप्त करने का ही भक्त अभिलाषी होता है। इसीलिए वह प्रसाद के रूप में जो कुछ भी मिल जाता है, उसे सहज स्वीकार कर लेता है।

123. शनिदेव लंगड़े क्यों और उन पर तेल चढ़ाने की परंपरा क्यों?

शनिदेव दक्ष प्रजापति की पुत्री संज्ञा देवी और सूर्यदेव के पुत्र हैं। यह नवग्रहों में सबसे अधिक भयभीत करने वाला ग्रह है। इसका प्रभाव एक राशि पर ढाई वर्ष और साढ़े साती के रूप में लंबी अवधि तक भोगना पड़ता है। शनिदेव की गति अन्य सभी ग्रहों से मंद होने का कारण इनका लंगड़ाकर चलना है। वे लंगड़ाकर क्यों चलते हैं, इसके संबंध में सूर्यतंत्र में एक कथा है—एक बार सूर्य देव का तेज सहन न कर पाने की वजह से संज्ञा देवी ने अपने शरीर से अपने जैसी ही एक प्रतिमूर्ति तैयार की और उसका नाम स्वर्णा रखा। उसे आज्ञा दी कि तुम मेरी अनुपस्थिति में मेरी सारी संतानों की देखरेख करते हुए सूर्य देव की सेवा करो और पत्नी सुख भोगो। ये आदेश देकर वह अपने पिता के घर चली गई। स्वर्णा ने भी अपने आप को इस तरह ढाला कि सूर्य देव भी यह रहस्य न जान सके। इस बीच सूर्य देव से स्वर्णा को पांच पुत्र और दो पुत्रियां हुईं। स्वर्णा अपने बच्चों पर अधिक और संज्ञा की संतानों पर कम ध्यान देने लगी।
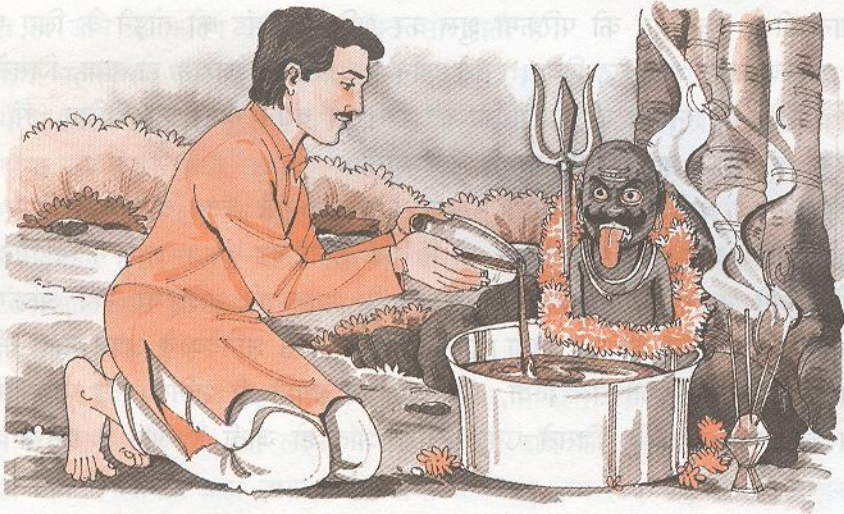
एक दिन संज्ञा के पुत्र शनि को तेज भूख लगी, तो उसने स्वर्णा से भोजन मांगा। तब स्वर्णा ने कहा कि अभी ठहरो, पहले मैं भगवान् का भोग लगा लूं और तुम्हारे छोटे भाई-बहनों को खिला दूं, फिर तुम्हें भोजन दूंगी। यह सुनकर शनि को क्रोध आ गया और उन्होंने माता को मारने के लिए अपना पैर उठाया, तो स्वर्णा ने शनि को श्राप दिया कि तेरा पांव अभी टूट जाए। माता का श्राप सुनकर शनिदेव डरकर अपने पिता के पास गए और सारा किस्सा कह सुनाया। सूर्यदेव तुरंत समझ गए कि कोई भी माता अपने पुत्र को इस तरह का शाप नहीं दे सकती। इसलिए उनके साथ उनकी पत्नी नहीं, कोई और है। सूर्य देव ने क्रोध में आकर पूछा कि 'बताओ तुम कौन हो?' सूर्य का तेज देखकर स्वर्णा घबरा गई और सारी सच्चाई उन्हें बता दी। तब सूर्यदेव ने शनि को समझाया कि स्वर्णा तुम्हारी माता नहीं है, लेकिन मां समान है।

इसलिए उनका दिया शाप व्यर्थ तो नहीं होगा, परंतु यह इतना कठोर नहीं होगा कि टांग पूरी तरह से अलग हो जाए। हां, तुम आजीवन एक पांव से लंगड़ाकर चलते रहोगे।

शनिदेव पर तेल क्यों चढ़ाया जाता है, इस संबंध में **आनंद रामायण** में एक कथा का उल्लेख मिलता है। जब भगवान् राम की सेना ने सागर सेतु बांध लिया, तब राक्षस इसे हानि न पहुंचा सकें, उसके लिए पवनसुत हनुमान को उसकी देखभाल की पूरी जिम्मेदारी सौंपी गई। जब हनुमान जी शाम के समय अपने इष्टदेव राम के ध्यान में मग्न थे, तभी सूर्य पुत्र शनि ने अपना काला कुरूप चेहरा बनाकर क्रोधपूर्वक कहा–'हे वानर ! मैं देवताओं में शक्तिशाली शनि हूं। सुना है, तुम बहुत बलशाली हो। आंखें खोलो और मुझसे युद्ध करो, मैं तुमसे युद्ध करना चाहता हूं।' इस पर हनुमान ने विनम्रतापूर्वक कहा–'इस समय मैं अपने प्रभु का ध्यान कर रहा हूं। आप मेरी पूजा में विघ्न मत डालिए। आप मेरे आदरणीय हैं, कृपा करके यहां से चले जाइए।'

जब शनि लड़ने पर ही उतर आए, तो हनुमान ने शनि को अपनी पूंछ में लपेटना शुरू कर दिया। फिर उसे कसना प्रारंभ कर दिया। जोर लगाने पर भी शनि उस बंधन से मुक्त न होकर पीड़ा से व्याकुल होने लगे। हनुमान जी ने फिर सेतु की परिक्रमा शुरू कर शनि के घमंड को तोड़ने के लिए पत्थरों पर पूंछ को झटका दे-दे कर पटकना शुरू कर दिया। इससे शनि का शरीर लहूलुहान हो गया, जिससे उनकी पीड़ा बढ़ती गई। तब शनिदेव ने हनुमान जी से प्रार्थना की कि मुझे बंधन मुक्त कर दीजिए। मैं अपने अपराध की सजा पा चुका हूं। फिर मुझसे ऐसी गलती नहीं होगी।

इस पर हनुमान् जी बोले–'मैं तुम्हें तभी छोड़ूंगा, जब तुम मुझे वचन दोगे कि श्रीराम के भक्त को कभी परेशान नहीं करोगे। यदि तुमने ऐसा किया, तो मैं तुम्हें कठोर दंड दूंगा।' शनि ने गिड़गिड़ाकर कहा–'मैं वचन देता हूं कि कभी भूलकर भी आपके और श्रीराम के भक्त की राशि पर नहीं आऊंगा। आप मुझे छोड़ दें।' तब हनुमान ने शनिदेव को छोड़ दिया। फिर हनुमान जी से शनिदेव ने अपने घावों की पीड़ा मिटाने के लिए तेल मांगा। हनुमान् ने जो तेल दिया, उसे घाव पर लगाते ही शनिदेव की पीड़ा मिट गई। उसी दिन से शनिदेव को तेल चढ़ता है, जिससे उनकी पीड़ा शांत हो जाती है और वे प्रसन्न हो जाते हैं।

124. देवताओं के सोने (देवशयन/हरिशयन) की मान्यता क्यों?

प्रति वर्ष आषाढ़ मास के शुक्ल पक्ष की एकादशी से हरिशयन अथवा देवशयन प्रारंभ होकर कार्तिक शुक्ल एकादशी तक चलता है। इस अवधि को चातुर्मास कहते हैं। सोए हुए देवों को जगाने से वे कुपित हो सकते हैं, इसीलिए इन चार महीनों में विवाह, गृह प्रवेश, देवी-देवता की प्राण प्रतिष्ठा, यज्ञादि संस्कार एवं अन्य शुभ कार्य बंद रहते हैं। देवउठनी एकादशी को जब देवता चार माह के शयन के बाद जागते हैं, तब सभी शुभ काम फिर से आरंभ हो जाते हैं।

पद्मपुराण एवं **श्रीमद्भागवतपुराण** आदि धार्मिक शास्त्रों में हरिशयन को योगनिद्रा भी कहा गया है। भगवान् विष्णु मानसिक तप करके अपने परम इष्ट की साधना करते हैं, वह भी योगनिद्रा ही है, जिसे शयन के नाम से जाना जाता है। हरि के रूप सूर्य-चंद्रमा, वायु और विष्णु भी हैं। हरिशयन के दृष्टिकोण से देखें, तो इन चार मास में बादल और वर्षा के कारण सूर्य-चंद्रमा का तेज क्षीण हो जाना उनके शयन का ही रूप है। वर्षाकाल के बाद वायु शांत रहती है, जो वायु के शयन का द्योतक है। चातुर्मास में पित्त स्वरूप अग्नि की गति शांत हो जाने के कारण शरीरगत शक्ति सो जाती है।

विष्णुपुराण, पद्मपुराण एवं **श्रीमद्भागवतपुराण** आदि के मतानुसार भगवान् विष्णु ने वामन रूप में दैत्यराज बलि के यज्ञ में दान स्वरूप तीन पग धरती देने का वचन लिया। विष्णु ने अपना विराट् रूप धारण कर वचनानुसार पहला पग बढ़ाया, तो संपूर्ण पृथ्वी, आकाश और सभी दिशाओं को ढक लिया। दूसरे पग में सारा स्वर्ग लोक ले लिया। फिर तीसरा पग रखने के लिए बलि से जगह मांगी, तो अपना वचन पूरा करने के लिए बलि ने स्वयं को समर्पित करते हुए विष्णु से अपने सिर पर तीसरा पग रखने को कहा। इससे भगवान् विष्णु ने प्रसन्न होकर सत्यपालन और त्याग के लिए उसे महादानी के रूप में सम्मानित करके पाताल लोक का अधिपति बना दिया और वर मांगने को कहा।

वर मांगते हुए बलि ने कहा कि आप नित्य मेरे महल में रहें। इस पर विष्णु ने उन्हें वरदान दे दिया। बलि के बंधन में स्वामी को बंधा देख लक्ष्मी ने उसे रक्षासूत्र बांध कर भाई बना लिया और स्वामी को वचन मुक्त करने का निवेदन किया। कहा जाता है कि तभी से विष्णु द्वारा दिए गए वर का पालन करने हेतु तीनों देवता क्रमशः 4-4 माह सुतल में निवास करते हैं। इस प्रकार भगवान् विष्णु देवशयनी एकादशी से देवउठनी एकादशी तक, शंकर महा शिवरात्रि तक और ब्रह्माजी शिवरात्रि से देवशयनी एकादशी तक सुतल पर निवास करते हैं। पौराणिक आख्यानों के अनुसार हरिशयन के दौरान भगवान् विष्णु क्षीरसागर में शेषशय्या पर योगनिद्रा में लीन हो जाते हैं और उनका दूसरा रूप राजा बलि के यहां सुतल लोक में उपस्थित रहता है।

125. देवताओं के वाहन अलग-अलग पशु-पक्षी क्यों?

हम ऋषि-मुनियों के श्रीमुख से सुनते आए हैं कि जिस देवी-देवता में जिस गुण का आरोप किया जाता था, उसे उसी गुणवाला कोई पशु या पक्षी वाहन के रूप में दिया गया था। इसीलिए उनके वाहन भी पृथक्-पृथक् हैं। हमारे धार्मिक ग्रंथों में हर एक देवी या देवता के विशेष वाहन का ब्यौरा मिलता है, जैसे–देवी भागवत के अनुसार लक्ष्मी का वाहन उल्लू, दुर्गा का सिंह तथा शिवपुराण के अनुसार गणेश का चूहा, शिव का वृषराज नंदीश्वर आदि हैं। आध्यात्मिक दृष्टिकोण से इन वाहनों के रूप आदि में अत्यंत ही अद्‌भुत रहस्य व सूक्ष्म प्रेरणाएं छिपी हुई हैं, जिन्हें हर एक को जानना चाहिए।

गणेशजी का वाहन चूहा स्वच्छंदता की स्थिति में अस्थिर होने का प्रतीक है। मन रूपी चूहे की एकाग्रता हो जाने पर संसार के सभी सुखों की प्राप्ति व ईश्वर तक पहुंचा जा सकता है। आत्मज्ञान से चंचलता पर लगाम लगती है। कहा भी गया है कि मन ही मानव के बंधन और मोक्ष का कारण है।

गणेशपुराण के अनुसार क्रौंच गंधर्व के अपराध करने पर ऋषि सौभरि ने उन्हें श्राप देकर चूहा बना दिया था। ऋषि से शापमोचन की विनती करने पर उसे पाराशर ऋषि के यहां पैदा होने वाले गजानन का वाहन बनकर स्वर्ग प्राप्ति का आशीर्वाद मिला। चूहे द्वारा सभी को परेशान करने पर गणेश ने अपना पाश अभिमंत्रित कर उसे बांध लिया। तब उसकी गणेश स्तुति से प्रसन्न होकर उसे गणेश ने अपना वाहन बना लिया।

शिवजी का वाहन वृषराज नंदीश्वर धर्म का बोधक है। नंदी का सफेद रंग सत्वगुण का प्रतीक है और नंदी के चार पैर धर्म के चार स्तंभ–दया, दान, तप और शौच हैं। इनका पालन करके हम शिवलोक की प्राप्ति कर सकते हैं।

सरस्वती का वाहन हंस पक्षी श्रेष्ठ के रूप में सर्वपूज्य है। नीर-क्षीर-विवेक एवं मोती चुगना उसकी विशेषता है। इन गुणों को अपनाकर ब्रह्मपद पाया जा सकता है।

लक्ष्मी का वाहन उल्लू आध्यात्मिक दृष्टि से दिवांधता का प्रतीक है। जब कोई भगवान् विष्णु को छोड़कर अकेली लक्ष्मी का आह्वान करता है, तब उनका वाहन भरे दिन में न देख सकने वाला विनाश का प्रतिनिधि उल्लू पक्षी होता है अन्यथा वह पतिदेव के साथ गरुड़ पर सवार होकर ही जाती हैं। सांसारिक जीवन में लक्ष्मी यानी धन-दौलत के पीछे बिना सोचे-समझे भागने वाले व्यक्ति आत्मज्ञान रूपी सूर्य को नहीं देख पाते हैं।

दुर्गा का वाहन सिंह (शेर) बल और पौरुष का प्रतीक है। चूंकि सिंह हिंसक प्राणी है, इसलिए देवी के उपासक में सिंहत्व के गुण आ जाते हैं। दुर्गा के उपासक शक्तिशाली होकर मदांध भी होते देखे गए हैं। अपने शत्रुओं का दमन करने में वे समर्थ होते हैं।

विष्णु का वाहन गरुड़ दूर दृष्टि के लिए प्रसिद्ध है। अद्वितीय सामर्थ्य के कारण दूर तक उड़ने में सक्षम होता है। गरुड़ ही वेद का प्रतीक है। इसमें कायाकल्प करने की अद्भुत क्षमता है।

मृत्यु के देवता **यमराज** का वाहन भैंसा है, जो देखने में भयंकर लगता है। इसे प्रेत का प्रतिरूप मानने के कारण इसके दर्शन करना अशुभ माना गया है।

125. देवताओं के वाहन अलग-अलग पशु-पक्षी क्यों?

हम ऋषि-मुनियों के श्रीमुख से सुनते आए हैं कि जिस देवी-देवता में जिस गुण का आरोप किया जाता था, उसे उसी गुणवाला कोई पशु या पक्षी वाहन के रूप में दिया गया था। इसीलिए उनके वाहन भी पृथक्-पृथक् हैं। हमारे धार्मिक ग्रंथों में हर एक देवी या देवता के विशेष वाहन का ब्यौरा मिलता है, जैसे–देवी भागवत के अनुसार लक्ष्मी का वाहन उल्लू, दुर्गा का सिंह तथा शिवपुराण के अनुसार गणेश का चूहा, शिव का वृषराज नंदीश्वर आदि हैं। आध्यात्मिक दृष्टिकोण से इन वाहनों के रूप आदि में अत्यंत ही अद्भुत रहस्य व सूक्ष्म प्रेरणाएं छिपी हुई हैं, जिन्हें हर एक को जानना चाहिए।

गणेशजी का वाहन चूहा स्वच्छंदता की स्थिति में अस्थिर होने का प्रतीक है। मन रूपी चूहे की एकाग्रता हो जाने पर संसार के सभी सुखों की प्राप्ति व ईश्वर तक पहुंचा जा सकता है। आत्मज्ञान से चंचलता पर लगाम लगती है। कहा भी गया है कि मन ही मानव के बंधन और मोक्ष का कारण है।

गणेशपुराण के अनुसार क्रौंच गंधर्व के अपराध करने पर ऋषि सौभरि ने उन्हें श्राप देकर चूहा बना दिया था। ऋषि से शापमोचन की विनती करने पर उसे पाराशर ऋषि के यहां पैदा होने वाले गजानन का वाहन बनकर स्वर्ग प्राप्ति का आशीर्वाद मिला। चूहे द्वारा सभी को परेशान करने पर गणेश ने अपना पाश अभिमंत्रित कर उसे बांध लिया। तब उसकी गणेश स्तुति से प्रसन्न होकर उसे गणेश ने अपना वाहन बना लिया।

शिवजी का वाहन वृषराज नंदीश्वर धर्म का बोधक है। नंदी का सफेद रंग सत्वगुण का प्रतीक है और नंदी के चार पैर धर्म के चार स्तंभ–दया, दान, तप और शौच हैं। इनका पालन करके हम शिवलोक की प्राप्ति कर सकते हैं।

सरस्वती का वाहन हंस पक्षी श्रेष्ठ के रूप में सर्वपूज्य है। नीर-क्षीर-विवेक एवं मोती चुगना उसकी विशेषता है। इन गुणों को अपनाकर ब्रह्मपद पाया जा सकता है।

लक्ष्मी का वाहन उल्लू आध्यात्मिक दृष्टि से दिवांधता का प्रतीक है। जब कोई भगवान् विष्णु को छोड़कर अकेली लक्ष्मी का आह्वान करता है, तब उनका वाहन भरे दिन में न देख सकने वाला विनाश का प्रतिनिधि उल्लू पक्षी होता है अन्यथा वह पतिदेव के साथ गरुड़ पर सवार होकर ही जाती हैं। सांसारिक जीवन में लक्ष्मी यानी धन-दौलत के पीछे बिना सोचे-समझे भागने वाले व्यक्ति आत्मज्ञान रूपी सूर्य को नहीं देख पाते हैं।

दुर्गा का वाहन सिंह (शेर) बल और पौरुष का प्रतीक है। चूंकि सिंह हिंसक प्राणी है, इसलिए देवी के उपासक में सिंहत्व के गुण आ जाते हैं। दुर्गा के उपासक शक्तिशाली होकर मदांध भी होते देखे गए हैं। अपने शत्रुओं का दमन करने में वे समर्थ होते हैं।

विष्णु का वाहन गरुड़ दूर दृष्टि के लिए प्रसिद्ध है। अद्वितीय सामर्थ्य के कारण दूर तक उड़ने में सक्षम होता है। गरुड़ ही वेद का प्रतीक है। इसमें कायाकल्प करने की अद्भुत क्षमता है।

मृत्यु के देवता **यमराज** का वाहन भैंसा है, जो देखने में भयंकर लगता है। इसे प्रेत का प्रतिरूप मानने के कारण इसके दर्शन करना अशुभ माना गया है।

126. ईश्वर के सर्वव्यापी होने की मान्यता क्यों?

जैसे बीज में छिपा वृक्ष दिखाई नहीं देता, दूध में घी मौजूद होते हुए भी दिखाई नहीं देता, तिल में तेल दिखाई नहीं देता, फूल की खुशबू दिखाई नहीं देती, शरीर में होने वाली पीड़ा दिखाई नहीं देती, अपनी बुराई दिखाई नहीं देती, वैसे ही ईश्वर सर्वत्र व्यापक रूप से विद्यमान होने पर भी दिखाई नहीं देता।

जैसे हमारे शरीर में आत्मा व्याप्त और विद्यमान रहती है, परमात्मा समस्त ब्रह्मांड में व्याप्त और विद्यमान रहता है, फिर भी हमारे अज्ञान के कारण वह हमसे बहुत दूर होता है और ज्ञान व भक्ति से इसे हमारे बहुत निकट अनुभव किया जा सकता है। जैसे जमीन में पानी सब जगह रहता है, परंतु उसका प्राप्ति स्थान कुआं है, ऐसे ही भगवान् सब जगह है, पर उसका प्राप्ति स्थान हृदय है।

श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है–'हृदि सर्वस्य विष्ठितम्' गीता 13/17 तथा 'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो' गीता 15/15। यद्यपि मैं सब जगह समान भाव से परिपूर्ण हूं, फिर भी सबके हृदय में अंतर्यामी रूप से मेरी विशेष स्थिति है, अतएव हृदय मेरी उपलब्धि का विशेष स्थान है। अध्याय 13 के श्लोक 13 में लिखा है–

सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥

अर्थात् ईश्वर सब ओर हाथ-पैर वाला, सब ओर नेत्र, सिर तथा मुख वाला एवं सब ओर से कान वाला है। ऐसा कोई स्थान नहीं जहां वह न हो, ऐसा कोई शब्द नहीं जिसे वह न सुनता हो, ऐसा कोई दृश्य नहीं, जिसे वह न देखता हो, ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसे वह न ग्रहण करता हो और ऐसी कोई जगह नहीं जहां वह न पहुंचता हो।

जैसे **यजुर्वेद** में कहा गया है–

ईशावास्यमिदं सर्व यत्किंच जगत्यां जगत्। –*यजुर्वेद 40/1*

अर्थात् इस सारे संसार के सब पदार्थों में ईश्वर व्यापक है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् का वचन है–

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतांतरात्मा।

अर्थात् ईश्वर एक ही है, वह सब प्राणियों के अंदर छिपा हुआ है, वह सर्वव्यापक और सब प्राणियों में आत्मा के रूप में विद्यमान है।

ईश्वर के भक्तों को पहले दृढ़ निश्चय कर ईश्वर के होने को स्वीकारना चाहिए। वह अपने भक्तों को अवश्य मिलते हैं। फिर विश्वास पूर्वक निरंतर ईश्वर का ध्यान करते हुए उसे प्राप्त करना चाहिए। ईश्वर आपके हृदय में ही 'विराजमान है, जो उसे मन से चाहता है, अवश्य पा लेता है।

नारदपुराण के पूर्वखंड अध्याय 11 में श्लोक 57 और 64 के मध्य भगवान् का कहना है कि राग, द्वेष, गुणों में दोष दृष्टि रखने वाले, पाखंड से रहित (दूर) मेरे भक्त मुझे हृदय में निरंतर धारण करते हैं। जलन से हीन, पति प्राणा, पतिव्रता स्त्री, माता-पिता, गुरु और अतिथि की सेवा करने वाले, ब्राह्मणों के हितैषी, पुण्य तीर्थ तथा सत्संग के प्रेमी, पर धन, पर स्त्री से बचे परोपकारी पुरुष तथा अन्न और जल का दान करने वाले भी मुझे निरंतर हृदय में धारण किए रहते हैं।

सूर्य का प्रकाश सब जगह समान रूप से विस्तृत रहने पर भी दर्पण आदि में इसके प्रतिबिंब की विशेष अभिव्यक्ति होती है एवं कांच के लेंस में उसका तेज प्रत्यक्ष प्रकट होकर अग्नि पैदा कर देता है। ऐसे ज्ञानी व्यक्ति जिनका अंतःकरण शुद्ध और स्वच्छ होता है, उनके हृदय में मेरा प्रत्यक्ष दर्शन होता है।

बहिरंतश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥ —*श्रीमद्भगवद्गीता 13/15*

अर्थात् वह परम सत्य परमात्मा, जड़ और चेतन सभी में भीतर व बाहर विद्यमान है। अत्यंत सूक्ष्म होने के कारण वह भौतिक इंद्रियों से देखा व जाना नहीं जा सकता।

जैसे सूर्य की किरणों में स्थित हुआ जल सूक्ष्म होने से साधारण मनुष्यों के जानने में नहीं आता। इसी प्रकार परमात्मा श्रद्धालु की आत्मा में होने से अत्यंत समीप है और श्रद्धा रहित, अज्ञानी पुरुषों के लिए न जानने के कारण बहुत दूर है।

शास्त्रकार ने लिखा है—

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्व च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्॥ —*मुंडक 2/2/11*

अर्थात् वह अमृत स्वरूप परब्रह्म ही सामने है। ब्रह्म ही पीछे है, ब्रह्म ही दाईं ओर तथा बाईं ओर, नीचे की ओर तथा ऊपर की ओर भी फैला हुआ है। यह जो संपूर्ण जगत है, वह सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म ही है।

127. राम नाम का जप क्यों?

र+आ+म=राम मधुर, मनोहर, मनोरंजक, विलक्षण, चमत्कारी जिसकी महिमा तीन लोक से न्यारी है। रामचरितमानस के बालकांड के वंदना प्रसंग में कहा गया है–
'नहिं कलि करम न भगति बिबेकू। राम नाम अवलंबन एकू।' मतलब यह है कि कलियुग में न तो कर्म का भरोसा है, न भक्ति का और न ज्ञान का ही, बल्कि केवल राम नाम ही एकमात्र सहारा है।

पद्मपुराण में कहा गया है–

रामेति नाम यच्छ्रोत्रे विश्रम्भादागतं यदि। करोति पापसंदाहं तूलं वह्निकणो यथा॥

–पद्मपुराण, पाताल. खं. 20/80

अर्थात् जिसके कानों में 'राम' यह नाम अकस्मात् भी पड़ जाता है, उसके पापों वह वैसे ही को जला देता है, जैसे अग्नि की चिंगारी रुई को।

पद्मपुराण में यह भी लिखा–

राम रामेति रामेति रामेति च पुनर्जपन्।
स चाण्डालोऽपि पूतात्मा जायते नात्र संशयः॥
कुरुक्षेत्रं तथा काशी गया वै द्वारका तथा।
सर्व तीर्थं कृतं तेन नामोच्चारणमात्रतः॥

–पद्मपुराण, उत्तरा 71/20-21

अर्थात् राम, राम, राम, राम–इस प्रकार बार-बार जप करने वाला चाण्डाल हो तो भी वह पवित्रात्मा हो जाता है। इसमें कोई संदेह नहीं है। उसने केवल नाम का उच्चारण करते ही कुरुक्षेत्र, काशी, गया और द्वारका आदि संपूर्ण तीर्थों का सेवन कर लिया।

स्कंदपुराण में भगवान् शंकर देवी पार्वती से कहते हैं–

रामेति द्वयक्षरजपः सर्वपापापनोदकः।
गच्छंस्तिष्ठन् शयनो वा मनुजो रामकीर्तनात्॥
इड निर्वर्तितो याति चान्ते हरिगणो भवेत्।

–स्कंदपुराण, नागरखंड

अर्थात् 'राम'–यह दो अक्षरों का मंत्र जपे जाने पर समस्त पापों का नाश करता है। चलते, बैठते, सोते (जब कभी भी) जो मनुष्य राम-नाम का कीर्तन करता है, वह यहां कृतकार्य होकर जाता है और अंत में भगवान् हरि का पार्षद बनता है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि जो शक्ति भगवान् की है, उससे भी अधिक शक्ति भगवान् के नाम की है। नाम जप की तरंगें हमारे अंतर्मन में गहराई तक उतरती हैं। इससे मन और प्राण पवित्र हो जाते हैं, शक्ति-सामर्थ्य प्रकट होने लगती है, बुद्धि का विकास होने लगता है, सारे पाप नष्ट हो जाते हैं, मनोवांछित फल मिलता है, सारे कष्ट दूर होते हैं, संकट मिट जाते हैं, मुक्ति मिलती है, भगवत्प्राप्ति होती है, भय दूर होते हैं, लेकिन जरूरत है, तो बस सच्चे हृदय और पवित्र मन से भगवन्नाम लेने की।

128. (भगवान् का) भजन-कीर्तन और प्रार्थना क्यों?

शस्त्रों में लिखा है कि–'भजनस्य लक्षणं रसनम्' अर्थात् अंतरात्मा का रस जिसमें उभरे, उसका नाम है–भजन, यानी हृदय में जो आनंद वस्तु, व्यक्ति या भोग-सामग्री के बिना भी आता है, वही भजन का रस है।

रामचरितमानस में तुलसीदास ने 7/49/1-4 श्लोक में कहा है कि जो साधक भगवान् का विश्वास पाने के लिए भजन करता है, प्रभु अपनी अहेतुकी कृपा से उसे अपना विश्वास प्रदान करके उसके जीवन को सफल बना देते हैं।

पद्मपुराण उत्तराखंड में कहा गया है–

नाहं वसामि वैकुंठे योगिनांहृदये न च। मद्भक्ता यत्र गायंति तत्र तिष्ठामि नारद ॥

–पद्मपुराण उ. 14/23

अर्थात् हे नारद ! मैं न तो वैकुंठ में ही रहता हूं और न योगियों के हृदय में ही रहता हूं। मैं तो वहीं रहता हूं, जहां प्रेमाकुल होकर मेरे भक्त मेरे नाम का कीर्तन किया करते हैं। मैं सर्वदा लोगों के अंतःकरण में विद्यमान रहता हूं।

शास्त्रकार ने कहा है–**मुक्तिः ददाति कश्चित् न भक्तियोगम्** अर्थात् स्वयं भगवान् भी भजन करने वालों को मुक्ति सुलभ कर देते हैं, पर भक्ति सबको नहीं देते।

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है–

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मंतव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥ *–श्रीमद्भगवद्गीता 9/30*

अर्थात् यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्य भाव (शुद्ध मन) से मेरा भक्त होकर मुझे भजता है, तो वह साधु ही मानने योग्य है, क्योंकि वह यथार्थ निश्चय वाला है।

अर्थात् उसने भली भांति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वर के भजन के समान अन्य कुछ भी नहीं है। ऐसा व्यक्ति थोड़े ही दिनों में धर्मात्मा होकर सुख-शांति पाता है। आगे भी उनका कहना है–

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम। *–श्रीमद्भगवद्गीता 9/33*

अर्थात् हे अर्जुन ! तू इस विनाशी और दुखमय यानी सुखरहित और क्षणभंगुर मनुष्य शरीर को प्राप्त हुआ है। इसलिए निरंतर मेरा ही भजन कर, ताकि इसके बाहर निकल सके।

इस प्रकार नित्य प्रार्थना का बड़ा महत्त्व है। मनुष्य ही नहीं देवता भी एक-दूसरे और ईश्वर की प्रार्थना करते हैं।

प्रत्येक मानव के हृदय की प्रार्थना है–

असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मा अमृतं गमय। *–बृहदारण्यक उपनिषद् 1:3, 27।*

अर्थात् मुझे असत् से सत् की ओर ले चलो, अंधकार से प्रकाश की ओर ले चलो और मृत्यु से अमरत्व की ओर ले चलो।

इसके द्वारा हम ईश्वर से अपना संबंध जोड़कर महान् विभूतियों के स्वामी बन सकते हैं और समस्त आधि-व्याधि, कष्ट, कठिनाइयों एवं रोग शोकों से मुक्ति पा सकते हैं।

ऋग्वेद में परमात्मा से प्रार्थना की गई है—

ओ३म् विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव यद्भद्रं तन्न आसुव। —*ऋग्वेद 5/2/5*

अर्थात् हे सकल जगत के उत्पन्न करने वाले ईश्वर ! तू हम सबके पापों को दूर कर और जो कल्याणकारी विचार हैं, उन्हें हमें प्रदान कर। हे कृपानिधे ! हमारे अंतःकरणों को पवित्र कर शुद्ध, बुद्ध और पवित्र बना।

रामचरितमानस में तुलसीदास ने कहा है—

मसकहि करइ बिरंचि प्रभु अजहि मसक ते हीन। —*उत्तरकांड 122 ख*
जो चेतन कहं जड़ करइ जड़हि करइ चैतन्य। —*उत्तरकांड 119 ख*
तन ते कुलिस कुलिस तृन करई। —*लंकाकांड 35/4*

मतलब यह कि ईश्वर असंभव को संभव और संभव को असंभव बनाने में सर्वथा समर्थ है। उनमें किसी तरह की असामर्थ्य नहीं है। वह सब तरह से पूर्ण है। उनमें किंचित्मात्र भी कमी नहीं है। जब हमारा संबंध उनसे प्रार्थना के माध्यम से जुड़ जाएगा, तो उनकी सारी शक्ति हमारे में आ जाएगी।

'यदेव श्रद्धया जुहोति तदेव वीर्यवत्तरं भवति।' —*छांदोग्योपनिषद्*

श्रद्धापूर्वक की गई प्रार्थना ही फलवती होती है। अतः भावना जितनी सच्ची, गहरी और पूर्ण होगी, उतना ही उसका सत्परिणाम भी होगा। हम यदि आत्मविश्वास से, सच्चे मन, आर्तभाव से भगवान् को पुकारें, उनसे प्रार्थना करें, तो तत्काल लाभ मिलता है। चीरहरण के समय जब द्रौपदी सब तरफ से निराश हो गई, किसी ने उसकी प्रार्थना नहीं सुनी, तब उसने सच्चे मन से भगवान् को पुकारा, तो भगवान् कृष्ण ने उसकी लाज बचाई। प्रह्लाद की रक्षा के लिए भगवान् नरसिंह रूप में अवतरित हुए। अश्वत्थामा के द्वारा छोड़ा गया अस्त्र उत्तरा के गर्भ को नष्ट करने के लिए आने लगा, तब उत्तरा ने भगवान् को पुकारा, तो उन्होंने उसके गर्भ की रक्षा की। मार्कण्डेय की करुणामय प्रार्थना पर साक्षात् शिव ने काल से उनकी रक्षा की। मीरा, सूर, तुलसी, समर्थ रामदास, चैतन्य महाप्रभु, नरसी भगत, तुकाराम आदि संत-महात्माओं की प्रार्थनाएं भगवान् द्वारा स्वीकार की गईं और उन सबका कल्याण हुआ।

प्रार्थना से कष्ट, दुख, संताप, पश्चात्ताप, शारीरिक बीमारियां, चित्त के विकार, मन के पाप दूर हो जाते हैं। आध्यात्मिक सिद्धियां प्राप्त होती हैं, देवी शक्तियां बढ़ती हैं, ईश्वर के प्रति विश्वास बढ़ता है, आत्मबल, आत्म-विश्वास व आत्मज्ञान में वृद्धि होती है। इस प्रकार हमारी आत्मा के लिए प्रार्थना एक टॉनिक का काम करती है।

129. कीर्तन में ताली बजाने के लाभ?

श्रीरामकृष्ण देव कहा करते थे, 'ताली बजाकर प्रातः काल और सायं काल हरिनाम भजा करो। ऐसा करने से सब पाप दूर हो जाएंगे। जैसे पेड़ के नीचे खड़े होकर ताली बजाने से पेड़ पर की सब चिड़ियां उड़ जाती हैं, वैसे ही ताली बजाकर हरिनाम लेने से देहरूपी वृक्ष से सब अविद्यारूपी चिड़ियां उड़ जाती हैं।
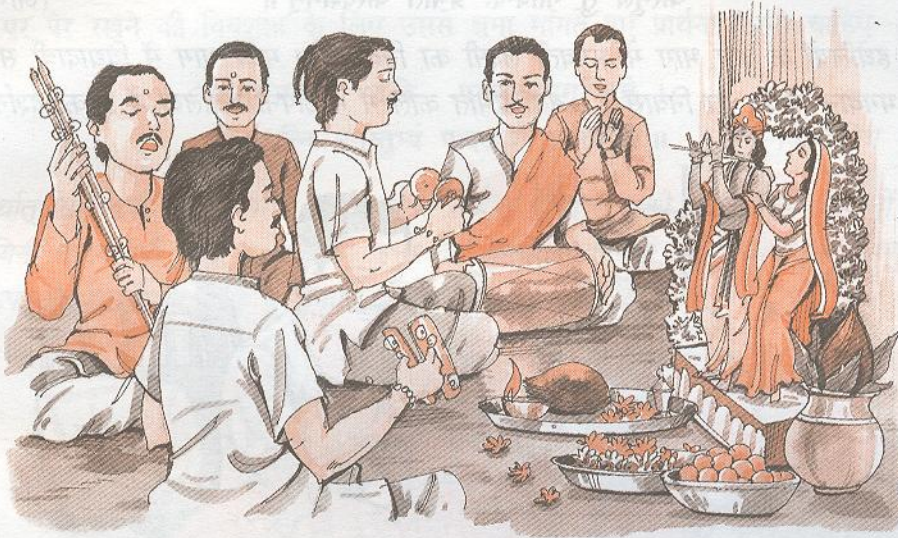
प्राचीन काल से मंदिरों में पूजा, आरती, भजन-कीर्तन आदि में समवेत् रूप से ताली बजाने की परंपरा रही है, जो हमारे शरीर को स्वस्थ रखने का एक अत्यंत उत्कृष्ट साधन है। चिकित्सकों का कहना है कि हमारे हाथों में एक्यूप्रेशर प्वाइंट्स अधिक होते हैं। ताली बजाने के दौरान हथेलियों के एक्यूप्रेशर केंद्रों पर अच्छा दबाव पड़ता है। जिससे शरीर की अनेक बीमारियों में लाभ पहुंचता है और शरीर निरोगी बनता है, अतः ताली बजाना एक उत्कृष्ट व्यायाम है। इससे शरीर की निष्क्रियता खत्म होकर क्रियाशीलता बढ़ती है। रक्त संचार की रुकावट दूर होकर अंग ठीक तरह से कार्य करने लगते हैं। रक्त का शुद्धिकरण बढ़ जाता है और हृदय रोग, रक्त नलिकाओं में रक्त का थक्का बनना रुकता है। फेफड़ों की बीमारियां दूर होती हैं। रक्त के श्वेत रक्तकण सक्षम तथा सशक्त बनने के कारण शरीर में चुस्ती, फुर्ती तथा ताजगी का एहसास होता है। रक्त में लाल रक्तकणों की कमी दूर होकर वृद्धि होती है और स्वास्थ्य सुधरता है। अतः पूजा-कीर्तन में तालबद्ध तरीके से अपनी पूरी शक्ति से ताली बजाएं और रोगों को दूर भगाएं। इससे तन्मय होने और ध्यान लगाने में भी सुविधा होगी।

130. प्रातः जगते ही हथेलियों के दर्शन क्यों?

शास्त्रों में प्रातः काल जगते ही बिस्तर पर सबसे पहले दोनों हाथों की हथेलियों (करतल) के दर्शन करने का विधान बताया गया है। दर्शन के दौरान निम्न श्लोक का उच्चारण करना चाहिए–

कराग्रे वसते लक्ष्मीः करमध्ये सरस्वती।
करमूले तु गोविन्दः प्रभाते करदर्शनम्॥ *(आचार, प्रदीप)*

अर्थात् हथेलियों के अग्र भाग में भगवती लक्ष्मी का निवास है। मध्य भाग में विद्यादात्री सरस्वती और मूल भाग में भगवान् गोविंद का निवास है। अतः प्रभात काल में मैं अपनी हथेलियों में इनका दर्शन करता हूं।

इस श्लोक में धन की अधिष्ठात्री लक्ष्मी, विद्या की अधिष्ठात्री सरस्वती और शक्ति के स्रोत, सद्‌गुणों के दाता, सबके पालनहार भगवान् की स्तुति की गई है, ताकि धन, विद्या और प्रभु कृपा की प्राप्ति हो।

यों तो सुबह उठते ही हमारी आंखें उनींदी होती हैं। ऐसे में यदि एकदम दूर की वस्तु या रोशनी पर हमारी दृष्टि पड़ेगी, तो आंखों पर कुप्रभाव पड़ेगा। इसलिए यह विधान किया गया है। इससे दृष्टि धीरे-धीरे स्थिर होती जाती है और आंखों पर कोई कुप्रभाव नहीं पड़ता।

भगवान् वेदव्यास ने करोपलब्धि को मानव के लिए परम लाभप्रद माना है। करों (हाथ की हथेलियों) के दर्शन का दूसरा पहलू यह भी है कि करतल में हम देव दर्शन करें, ताकि हमारी वृत्तियां भगवत् चिंतन की ओर प्रवृत्त हों। इससे शुद्ध, सात्विक कार्य करने की प्रेरणा मिलती है, साथ ही पराश्रित न रहकर विचारपूर्वक अपने परिश्रम से जीविका कमाने की भावना भी पैदा होती है। सभी कार्यों के मूल में भगवद् कृपा स्वीकारी जाए, यही इस धारणा का उद्देश्य है।

131. सुबह जगते ही भूमिवंदना क्यों?

प्रातः काल बिस्तर से उतरने के पहले यानी पृथ्वी पर पैर रखने से पूर्व पृथ्वी माता का अभिवादन करना चाहिए, क्योंकि हमारे पूर्वजों ने इसका विधान बनाकर इसे धार्मिक रूप इसलिए दिया, ताकि हम धरती माता के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट कर सकें। वेदों ने पृथ्वी को मां कहकर वंदना की है। चूंकि हमारा शरीर भूमि तत्त्वों से बना है और भूमि पर पैदा अन्न हमने खाया है, जल पिया है, औषधियां पाईं हैं। इसलिए हम इसके ऋणी हैं। उस पर पैर रखने की विवशता के लिए उससे क्षमा मांगते हुए प्रार्थना करनी चाहिए–

समुद्रवसने देवि पर्वतस्तनमण्डिते ।
विष्णुपत्नि नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्व मे ॥ –*विश्वामित्र स्मृति 1/44-45*

अर्थात् समुद्ररूपी वस्त्र धारण करने वाली अर्थात् चराचर प्राणी रूप अपनी संतानों के पोषण हेतु जीवनदायिनी नदियोंरूपी दुग्ध-धाराओं को जन्म देने वाली। पर्वतरूपी स्तनों वाली, हे विष्णु पत्नी भूमाता! अपने ऊपर पैर रखने के लिए मुझे क्षमा करें।

इस तरह पृथ्वी का वंदन करना अपनी मातृभूमि का सम्मान करना भी है।

वैज्ञानिक मतानुसार जब हम पलंग पर चादर या कंबल ओढ़कर सोते हैं, तो हमारे शरीर की गर्मी ढके हुए पैरों में बढ़ जाती है। ऐसे में तुरंत बिस्तर से उतरकर पृथ्वी पर पैर नहीं रखना चाहिए, क्योंकि हमारे शरीर में पैरों के माध्यम से सर्दी-गर्मी का प्रवेश शीघ्र ही हो जाता है, जो स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होता है। अतः प्रातः भूमिवंदन करने से कुछ समय कंबल हटा देने के कारण पैरों का तापमान सामान्य हो जाता है। प्रार्थना में यही वैज्ञानिक रहस्य छिपा हुआ है।

132. अतिथि को देवता मानने की प्रथा क्यों?

वेद वाक्य *अतिथिदेवो भव* का अर्थ है–अतिथि देवस्वरूप होता है। उसकी सेवा देव पूजा कहलाती है। सूतजी के अनुसार अतिथि सत्कार से बढ़कर दूसरा कोई महान धर्म नहीं है, अतिथि से महान कोई देवता नहीं है। द्वार पर आए अतिथि का यथा-योग्य स्वागत-सत्कार करना हमारी परंपरा में कर्तव्य ही नहीं धर्म माना गया है। भारतीय संस्कृति में अतिथि सत्कार को 'अतिथि यज्ञ' कहा गया है। इसे संपन्न करना प्रत्येक गृहस्थ के दैनिक जीवन का अंग माना गया है और इसकी गणना पंचमहायज्ञों में की जाती है। इस सत्कार में अतिथि का वर्ण, आश्रम, अवस्था, योग्यता नहीं देखनी चाहिए बल्कि उसे तो आराध्य ही समझना चाहिए। संसार के किसी भी देश की संस्कृति में अतिथि सम्मान की ऐसी भावना एवं सभ्यता देखने को नहीं मिलती।

अतिथि के लक्षण बतलाते हुए **महर्षि शातातप** (लघुशाता. 55) कहते हैं कि–जो बिना किसी प्रयोजन के, बिना बुलाए, किसी भी समय, किसी भी स्थान से घर में उपस्थित हो जाए, उसे अतिथि रूपी देवता समझना चाहिए। जिसके आगमन की पूर्व जानकारी हो, वह अतिथि नहीं कहलाता।

महाभारत में महात्मा विदुर धृतराष्ट्र से कहते हैं–

पीठं दत्त्वा साधवेऽभ्यागताय आनीयापः परिनिर्णिज्य पादौ।
सुखं पृष्ट्वा प्रतिवेद्यात्मसंस्थां ततो दद्यादन्नमवेक्ष्य धीरः॥ *–महाभारत उद्योग पर्व 38/2*

अर्थात् राजन! धीर पुरुष को चाहिए कि जब कोई सज्जन अतिथि के रूप में घर आए, तो पहले आसन देकर एवं जल लाकर उसके चरण पखारें (धोएं), फिर उसकी कुशल क्षेम पूछकर अपनी स्थिति बताएं, तदुपरांत आवश्यकता समझकर उसे भोजन कराएं।

वेद में कहा गया है–

जग्धपाप्मा यस्यान्न मश्नन्ति। *–अथर्ववेद 9/6/1*

अर्थात् अतिथि सत्कार करने वाले के पाप धुल जाते हैं।

यद्वा अतिथि पतिरतिथोन् प्रतिपश्यति देवयजनंपेक्षते। *–अथर्ववेद 9/6(1)/3*

अर्थात् द्वार पर आए हुए मेहमान (अतिथि) का स्वागत करना देवताओं को आहुतियां देने के समान है।

महाभारत के वनपर्व 200/23-24 में कहा गया है कि–जो व्यक्ति अतिथि को चरण धोने के लिए जल, पैर की मालिश के लिए तेल, प्रकाश हेतु दीपक, भोजन के लिए अन्न और रहने के लिए स्थान देते हैं, वे कभी यमद्वार नहीं देखते यानी यमराज के यहां नहीं जाते।

शास्त्रकारों ने कहा है कि अतिथि को आसन देने से ब्रह्माजी प्रसन्न होते हैं। अर्घ्यदान करने (हाथ धुलाने) से शिवजी संतुष्ट होते हैं। पाद्य देने (पैर धुलाने) से इंद्रादि देवता प्रसन्न होते हैं। भोजन कराने

से भगवान् विष्णु संतुष्ट होते हैं। इस प्रकार अतिथि संपूर्ण देवताओं का स्वरूप होता है। अतः उसका सदैव स्वागत करना चाहिए।

मनुस्मृति 3/106 में कहा गया है कि गृहस्थ स्वयं जैसा भोजन करे वैसा ही अतिथि को भी दे। अतिथि का सत्कार करना सौभाग्य, यश, आयु और सुख को देने और बढ़ाने वाला है।

महाभारत में अतिथि सत्कार के अनेक वृत्तांत देखे जा सकते हैं। मोरध्वज द्वारा अपना पुत्र देना, भूखे बहेलिए के लिए कबूतर-कबूतरी का अपना शरीर दे देना, महारानी कुंती का ब्राह्मण कुमार के बदले अपने पुत्र भीम को राक्षस का आहार बनने के लिए भेजना, दुर्भिक्ष पीड़ित समय में अनेक दिनों से भूखे ब्राह्मण परिवार का अपनी थाली की रोटियां चांडाल को देना, राजा शिवि द्वारा कबूतर की रक्षा के लिए अपना मांस काट-काट कर देना आदि उदाहरण अतिथि सम्मान के उच्च आदर्श को दर्शाते हैं।

तैत्तिरीय उपनिषद् की भृगुवल्ली तो आतिथ्य सत्कार को व्रत की संज्ञा देती है। रामायण में भगवान् श्रीराम उस कबूतर का उदाहरण देते हैं, जिसने व्याघ्र का यथोचित आतिथ्य करते हुए अपने मांस का भोजन कराया था।

महाभारत के शांति पर्व में अतिथि सत्कार न करने के दुष्परिणाम इस प्रकार बताए हैं–

अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात् प्रतिनिवर्तते।
स दत्त्वा दुष्कृतं तस्मै पुण्यमादाय गच्छति॥ *–महाभारत शांतिपर्व 191/12*

अर्थात् जिस गृहस्थ के घर से अतिथि भूखा, प्यासा, निराश होकर वापस लौट जाता है, उस गृहस्थी की कुटुंब संस्था नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है। गृहस्थ महादुखी हो जाता है, क्योंकि अपना पाप उसे देकर उसका संचित 'पुण्य' वह निराश अतिथि खींच ले जाता है। अतः सभी को आतिथ्य धर्म का पालन कर अपने कर्तव्य का निर्वाह करना चाहिए।

वेद में भी अतिथि सत्कार न करने के संबंध में लिखा है–

इष्टं च वा एष पूर्तं च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतियेे रश्नाति।
एष वा अतिथिर्यच्छो त्रिय स्तस्मात् पूर्वो नाश्नीयात्॥
–अथर्ववेद 9/6/3

अर्थात् जो मनुष्य अतिथि से पहले खाता है, वह घरों का इष्ट सुख और पूर्ण मनोरथ खाता है। यानी नाश करता है। अतिथि श्रोत्रिय, वेद विज्ञान होता है, इसलिए अतिथि के पूर्व भोजन मत करो।

133. सुहागिन स्त्री के लिए मंगलसूत्र का महत्त्व क्यों?

विवाहित स्त्रियां अन्य आभूषण पहनें या न पहनें, लेकिन उनके गले में धारण किया मंगलसूत्र सौभाग्यवती रहते कभी अलग नहीं होता, क्योंकि हिंदू धार्मिक मान्यता के अनुसार विवाहित नारी के सुहाग और अस्मिता से जुड़ा मंगलसूत्र एक ऐसी अमूल्य निधि है, जिसका स्थान न तो कोई अन्य आभूषण ले सकता है और न उसका मूल्य ही आंका जा सकता है। इसे सुहाग के प्रतीक के रूप में स्त्रियां धारण करती हैं और पति के देहांत के बाद ही इसे उतारकर पति को अर्पित कर देती हैं।

आम रिवाज यह है कि विवाह के अवसर पर वधू के गले में वर मंगलसूत्र पहनाता है। अनेक दक्षिण राज्यों में तो विवाह की रस्म तब तक अधूरी ही मानी जाती है, जब तक कि वर अपने हाथों से वधू को मंगलसूत्र न पहना दे, फिर भले ही 7 फेरे भी पूरे क्यों न कर लिए हों।

मंगलसूत्र में काले रंग के मोतियों की लड़ियां, मोर एवं लॉकेट की उपस्थिति अनिवार्य मानी गई है। इसके पीछे मान्यता यह है कि लॉकेट अमंगल की संभावनाओं से स्त्री के सुहाग की रक्षा करता है, तो मोर पति के प्रति श्रद्धा और प्रेम का प्रतीक है और काले रंग के मोती बुरी नजर से बचाते हैं तथा शारीरिक ऊर्जा का क्षय होने से रोकते है। चांदी और सोने से बने मंगलसूत्र काफी प्रचलित हैं, लेकिन अधिकांश महिलाएं सोने के मंगलसूत्र पहनना पसंद करती हैं, सोना शरीर में बल और ओज बढ़ाने वाली धातु है तथा समृद्धि की प्रतीक है।

मंगलसूत्र के संबंध में धार्मिक मान्यता है कि इसे एक बार पहनने के बाद सुहाग रहने तक उतारा नहीं जाता। ग्रामीण, सामान्य परिवारों की कम पढ़ी-लिखी महिलाएं मंगलसूत्र के खोने या टूटने को भावी अमंगल की आशंका मानती हैं, जबकि पढ़ी-लिखी महिलाएं ऐसा नहीं मानतीं। वे तो रात में इसे उतारकर भी रख देती हैं।